इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

BHIC-132

भारत का इतिहास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक

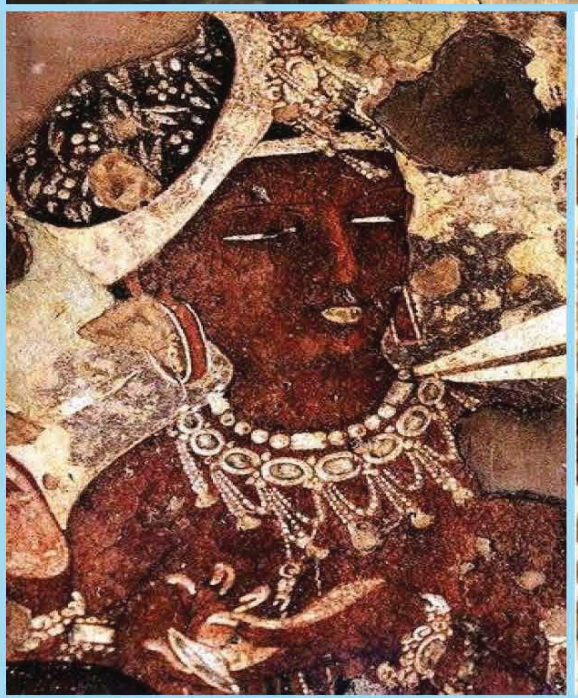
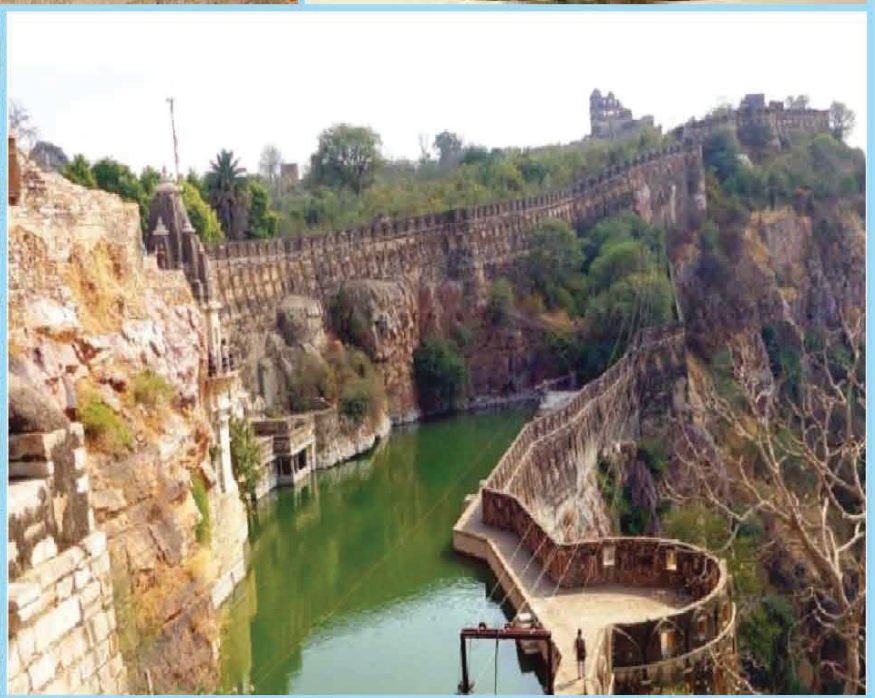
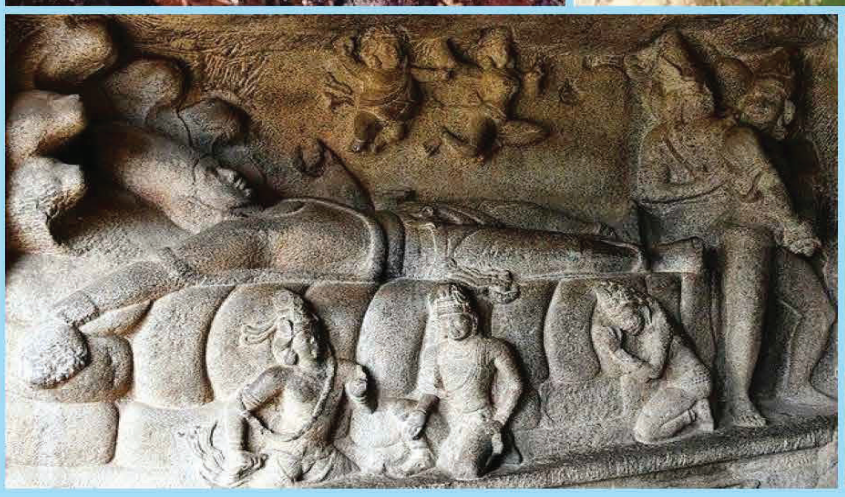

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतन्त्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

– इन्दिरा गाँधी

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

बी.एच.आई.सी.-132

भारत का इतिहास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. डी. गोपाल
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. मक्खन लाल
संस्थापक, निदेशक एवं प्राध्यापक
दिल्ली का विरासत अनुसंधान
और प्रबंधन संस्थान, नई दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार (संयोजक)
अध्यक्ष, इतिहास विभाग
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. पी. के. बंसत
इतिहास और संस्कृति विभाग
मानविकी एवं भाषा विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

डॉ. संगीता पांडे
इतिहास विभाग
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समंवयक : प्रो. नंदिनी सिन्हा कपूर

पाठ्यक्रम संयोजन दल

प्रो. नंदिनी सिन्हा कपूर **डॉ. अभिषेक आनंद** **डॉ. शुचि दयाल**

पाठ्यक्रम निर्माण दल

इकाई संख्या	पाठ्यक्रम लेखक
1 और 2*	प्रो. बी. डी. चट्टोपाध्याय (सेवानिवृत), इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली डॉ. भुपेश चंद्र, इतिहास विभाग, मेरठ विद्यालय, मेरठ विश्व मोहन झा, इतिहास विभाग, ए. आर. एस. डी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
3	डॉ. सयंतनी पाल, प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकता
4*	प्रो. बी. डी. चट्टोपाध्याय (सेवानिवृत), इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली डॉ. भुपेश चंद्र, इतिहास विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ विश्व मोहन झा, इतिहास विभाग, ऐ. आर. एस. डी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
5	डॉ. ऋचा सिंह, इतिहास अध्ययन केन्द्र से पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
6**	प्रो. वाई. सुब्बारायलु, प्रमुख, भारतीय विद्या विभाग, फ्रेंच इंस्टीटयूट ऑफ़ पांडिचेरी, पुदुचेरी डॉ. संगीता पांडे, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली
7,8***	प्रो. बी. पी. साहू, इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली प्रो. वाई. सुब्बारायलु, प्रमुख, भारतीय विद्या विभाग, फ्रेंच इंस्टीटयूट ऑफ़ पांडिचेरी, पुदुचेरी प्रो. पी. शणमुगम, महासागर इंजीनियरिंग विभाग, आई. आई. टी., चेन्नई

9	डॉ. रश्मि उपाध्याय, सह-प्राध्यापक, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
10	डॉ. पिन्टु कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांयकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय
11,12	डॉ. जया प्रियदर्शिनी, इतिहास अध्ययन केन्द्र से पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
13	डॉ. पिन्टु कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांयकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय
14	श्री प्रेम कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांयकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय
15	डॉ. अभिषेक आनंद, सलाहकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली
16	कु. जोईता पाल, पी.एच.डी. छात्रा, इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

* ये इकाइयाँ **ई.एच.आई.-02 भारतः प्राचीन काल से 8वीं सदी ईसवीं, खंड 8: भारतीय राज्यतंत्र : 300 ई. से 800 ई. तक** से ग्रहित की गई हैं।

** यह इकाई **एम.एच.आई.-04 इकाइयाँ 6 और 5** से ग्रहित की गई है।

*** ये इकाइयाँ **ई.एच.आई.-02 भारतः प्राचीन काल से 8वीं सदी ईसवीं, खंड 9: प्रारंभिक मध्यकाल में संक्रमण** से ग्रहित की गई हैं।

सामग्री, प्रारूप और भाषा संपादनः प्रो. नंदिनी सिन्हा कपूर, डॉ. अभिषेक आनंद

अनुवाद
अनीता चौधरी
डॉ. कुमकुम चतुर्वेदी
ज्योति गुप्ता
शिल्पी डूडवाल
डॉ. पूजा मिश्रा
डॉ. मीनाक्षी
डॉ. अभिषेक आनंद

कवर डिज़ाइन
श्री संदीप मैनी
डॉ. अभिषेक आनंद
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

पुनरीक्षण (Vetting)
डॉ. अभिषेक आनंद
डॉ. शुचि दयाल
प्रो. श्री कृष्णा

सामग्री निर्माण दल

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

श्री सुरेश कुमार
कनिष्ठ सहायक (टंकण)
इग्नू, नई दिल्ली

दिसम्बर, 2019

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2019

ISBN: 978-93-89668-810

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश किसी भी रूप में पुनः प्रकाशित नहीं किया जा सकता, अनुलिपिक या किसी अन्य साधन द्वारा,

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बिना किसी लिखित आदेश व पुनः इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के कोर्स की सूचना विश्वविद्यालय के मैदान गढ़ी कार्यालय, नई दिल्ली–110068 के द्वारा प्राप्त की जा सकती है अथवा विश्वविद्यालय की वेबसाइट http://www.ignou.ac.in देखें

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली की ओर से कुलसचिव, स.नि.वि. प्रभाग, इग्नू, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कम्प्यूटर्स, सी–206, शाहीन बाग, जामिया नगर, नई दिल्ली

मुद्रकः नोवा पब्लिकेशन एवं प्रिंटर्स (प्राइवेट) लिमिटेड, फरीदाबाद–121004, दूरभाष 0129–4317645

पाठ्य विवरण

		पृष्ठ संख्या
पाठ्यक्रम परिचय		**7**
इकाई 1	गुप्त साम्राज्य : उदय एवं विकास	11
इकाई 2	अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति एवं राजतंत्र व्यवस्था : गुप्त साम्राज्य	24
इकाई 3	पुष्पभूति और हर्ष साम्राज्य का उदय	38
इकाई 4	दक्कन और दक्षिण भारत के साम्राज्य	51
इकाई 5	पल्लव, पांड्य और कलचुरी राज्य	63
इकाई 6	कदंब, बादामी के चालुक्य, चोल और होयसाल राज्य	91
इकाई 7	उत्तर-गुप्त काल में अर्थव्यवस्था और समाज	111
इकाई 8	उत्तर-गुप्त काल में राज्य व्यवस्था, धर्म और संस्कृति	124
इकाई 9	राजपूतों का आविर्भाव	139
इकाई 10	राष्ट्रकूटों का आविर्भाव	157
इकाई 11	अरबः हमले एवं विस्तार	171
इकाई 12	महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद गौरी : आक्रमण एवं प्रतिरोध	185
इकाई 13	भूमि राजस्व पद्धतियाँ और कृषीय संबंध : लगभग 700-1200 सी.ई.	207
इकाई 14	सामाजिक संरचना और लैंगिक संबंध : लगभग 700-1200 सी.ई.	221
इकाई 15	कला, भाषा और साहित्य का विकासः लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक	243
इकाई 16	धर्म एवं धार्मिक प्रवृत्तियाँः लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक	258

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए दिशानिर्देश

इस पाठ्यक्रम में हमने शिक्षण सामग्री को प्रस्तुत करने के लिए एक समान प्रतिमान का पालन किया है। यह पाठ्यक्रम महत्वपूर्ण घटनाओं को एक कालानुक्रमिक तरीके से रेखांकित करते हुये एक परिचय के साथ शुरू होता है। इसमें 16 इकाइयाँ हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए सभी इकाइयों को एक समान संरचना के साथ प्रस्तुत किया गया है। इकाई के पहले भाग में उद्देश्य यह जानने में मदद करते हैं कि आपको इकाई के अध्ययन से क्या सीखने की उम्मीद है। कृप्या इन उद्देश्यों को ध्यान से देखें और इकाई के कुछ भागों का अध्ययन करने के बाद उन्हें प्रतिबिंबित और जाँचते रहें। इकाई की प्रस्तावना आपको संबंधित विषय क्षेत्रों से परिचित कराती है और आपको विषय-वस्तु प्रस्तुत करने के तरीकों के बारे में बताती है। इसके बाद भाग व उप-भाग के माध्यम से मुख्य विषय क्षेत्र पर चर्चा की गई है ताकि वह आसानी से समझ आ सके।

पाठ के बीच में कुछ बोध प्रश्न प्रदान किये गये हैं। हम अपको सलाह देते हैं कि जब आप उन तक पहुंचें, तो इनके उत्तर लिखने का प्रयास करें। ये आपके अध्ययन का आंकलन करने व विषय की अपनी समझ का परिक्षण करने में आपकी मदद करेंगे। सारांश के बाद दिए गए बोध प्रश्नों के उत्तरों के दिशानिर्देशों के साथ अपने उत्तरों की तुलना करें। प्रमुख शब्दों और अपरिचित शब्दों को शब्दावली के माध्यम से समझाया गया है। इकाई के अंत में हमने संदर्भ ग्रंथ के तहत पुस्तकों और लेखों की एक सूची भी प्रदान की है। इनमें वे स्रोत शामिल हैं जो संबंधित इकाई के लिए पठन सामग्री विकसित करने के लिए उपयोगी हैं या अध्ययन सामग्री के निर्माण के दौरान प्रयुक्त किए गए हैं। आप उन पर अवश्य नज़र डालें। वे विषय-वस्तु को समग्र रूप से समझने और सीखने में आपकी सहायता करेंगे।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

पाठ्यक्रम परिचय

बी.एच.आई.सी.-132 कालानुक्रम में हमारे पिछले पाठ्यक्रम **बी.एच.आई.सी.-131 : भारत का इतिहास : प्राचीनतम काल से लगभग 300 सी.ई. तक** के तारतम्य में है। पाठ्यक्रम उत्तरी एवं दक्षिणी भारत, दोनों में, इस अवधि के दौरान उभरने वाली प्रमुख राज्य व्यवस्थाओं और इनकी उपलब्धियों की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रदान करता है। पाठ्यक्रम के तहत आरंभ में गुप्त साम्राज्य और पुष्यभूति वंश, तत्पश्चात् पल्लव, पांड्य, कलचुरी, कदंब, चालुक्य, चोल, होयसाल और अंत में राजपूतों, राष्ट्रकूटों, अरबों और महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद गौरी के हमलों की जानकारी शामिल है। साथ ही, इनके शासन काल के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की विशेषताओं आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। यही बात भूस्वामित्व, राजस्व पद्धति, कृषीय संबंध, सामाजिक संरचना, लैंगिक संबंध, कला, भाषा एवं साहित्य की वृद्धि एवं विकास, धर्म और संबद्ध धार्मिक प्रवृत्तियों आदि पर भी लागू होती है। इस तरह, पाठ्यक्रम प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से भारतीय इतिहास के आरंभिक मध्यकाल तक के संक्रमण पर एक गहरी अंतर्दृष्टि डालता है। हमें इस संक्रमण या बदलाव को भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के रूप में समझने और अध्ययन करने की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम में **16 इकाइयाँ** हैं जो विषयवस्तु एवं आनुक्रमिक आधार पर व्यवस्थित हैं।

इसकी शुरुआत गुप्तों से होती है जिन्होंने मौर्यों की भांति प्राचीन भारतीय इतिहास में एक प्रमुख मानदंड स्थापित किया। **इकाई 1** उन परिस्थितियों से संबंधित है जिन्होंने गुप्त साम्राज्य के उदय, विस्तार और एकत्रीकरण को फलीभूत किया। साथ-साथ, इस इकाई में गुप्तों के उत्तराधिकार के क्रम, उनके सैन्य कारनामों तथा उन कारणों व प्रक्रियाओं जिनके परिणामस्वरूप उनका पतन हुआ, का भी उल्लेख किया गया है। **इकाई 2** उनके प्रशासनिक तंत्र; कृषि, शिल्प उत्पादन और व्यापार के संदर्भ में उनकी आर्थिक परिस्थितियों एवं इस अवधि के दौरान संस्कृति और सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करती है। **इकाई 3** से पता चलता है कि लगभग पाँचवी-छठी शताब्दी सी.ई. में उत्तर भारत का राजनीतिक परिदृश्य कैसे बदल गया, नए प्रकार के राजनीतिक केन्द्रों, जिन्हें *जयस्कंधवाड़* के नाम से जाना जाता है, का किस प्रकार उदय हुआ, कन्नौज उत्तर भारत का नया राजनीतिक केन्द्र क्यों बन गया, हर्ष की राजनीतिक गतिविधियाँ क्या थीं, उसके साम्राज्य का क्या विस्तार क्षेत्र था और त्रिपक्षीय संघर्ष के प्रभाव के कारण कन्नौज का उदय कैसे हुआ।

इकाई 4 उन राज्यों की पृष्ठभूमि प्रदान करती है जो दक्कन और दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए। यह इकाई उनके उद्भव में भूगोल की भूमिका, उनके परस्पर संबंधों और उन राज्यों में लोग कैसे शासित हुए इस बात पर भी प्रकाश डालती है। **इकाई 5** विशेष रूप से पल्लवों, पांड्यों व कलचुरियों के राजनीतिक इतिहास, उनके उत्थान और पतन, उनके प्रशासन, उनके शासन काल के दौरान सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों तथा साहित्य, कला और वास्तुकला के क्षेत्र में उनके सांस्कृतिक प्रयासों और कार्यों को उजागर करती है। इसी तरह, **इकाई 6** कदंबों, बादामी के चालुक्यों, चोलों तथा होयसाल शासकों की राजशाही राजनीति की प्रकृति को स्पष्ट करती है। यह उनके क्षेत्रीय विस्तार एवं उनकी प्रशासनिक और संस्थागत संरचनाओं पर भी ध्यान केंद्रित करती है।

इकाई 7 में हम आपको गुप्तोत्तर समय में हुए आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों से परिचित कराने का प्रयास करते हैं। इन परिवर्तनों को भूमि-अनुदानों की उत्पत्ति और

आर्थिक प्रभाव, शहरों/शहरी बस्तियों के क्रमिक पतन और गांवों व ग्राम अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया और परिणामों, कृषि संबंध, कृषि उत्पादन, *वर्ण*-व्यवस्था और *वर्ण*-पदानुक्रम को संषोधित करने वाले विभिन्न कारकों, जिनके परिणामस्वरूप नई जातियों का उदय हुआ, और समाज में महिलाओं की स्थिति के संदर्भ में तथा इन सभी मापदंडों के माध्यम से समझाया गया है। **इकाई 8** उत्तर-गुप्तकाल में राजनीति, धर्म और संस्कृति पर प्रकाश डालती है। यह बताती है कि इस अवधि के राजनीतिक संगठन को कई इतिहासकारों द्वारा सामंती (feudal) प्रकृति के रूप में क्यों वर्णित किया गया है। इसके साथ ही, यह इकाई उत्तर-कालीन ब्राह्मणवाद की मुख्य विशेषताओं, *भक्ति* पंथ तथा तंत्रवाद जैसे नए धार्मिक रूझानों, मंदिर वास्तुकला, साहित्य और इस अवधि के दौरान ज्ञान के नए क्षेत्रों के उदय की व्याख्या भी करती है।

राजपूतों का इतिहास **इकाई 9** की विषय-वस्तु है। इसमें हम प्रारंभिक मध्ययुगीन उत्तर भारत में उनके उद्भव, समकालीन स्रोतों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर उनकी उत्पत्ति से संबंधित वाद-विवाद तथा उनके राजनीतिक व सैन्य चरित्र, जिसने उनके एकत्रीकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, पर प्रकाश डालते हैं। दक्कन में एक प्रमुख शक्ति के रूप में राष्ट्रकूटों के इतिहास का विवरण **इकाई 10** में किया गया है। इसमें हम उन बड़े और छोटे राज्यों का उल्लेख करते हैं जो 8वीं से 11वीं शताब्दी सी.ई. के बीच दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर शासन कर रहे थे। इसके अतिरिक्त, हम राष्ट्रकूट राज्य या साम्राज्य के गठन और संगठन एवं राष्ट्रकूटों के शासनकाल के दौरान सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का चित्रण भी करते हैं। साथ ही, विभिन्न राष्ट्रकूट राजाओं के योगदानों, प्रारंभिक मध्यकालीन राजतंत्र व प्रशासन की प्रकृति, सामंती राजनीतिक संरचना के महत्वपूर्ण घटकों, जैसे कि वैचारिक आधार, नौकरशाही/अधिकारी वर्ग, सेना, नियंत्रण तंत्र, गाँवों आदि पर भी इस इकाई में चर्चा की गई है।

इकाई 11 प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में अरब आक्रमणों पर केन्द्रित है। इसमें सिंध क्षेत्र पर अरबों द्वारा कब्ज़ा करने के स्रोतों, कारणों और चरणों को समझाने के साथ-साथ सिंध पर अरबों की विजय की औपनिवेशिक (Colonial) समझ तथा अरबी और भारतीय संस्कृति के परस्पर संगम व आदान-प्रदान की विवेचना भी की गई है। निरंतरता में, **इकाई 12** में महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद गौरी के आक्रमणों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें हम गौरी शक्ति के उदय के कारणों, मोहम्मद गौरी द्वारा उत्तर भारत पर विजय के चरणों, राजपूतों की पराजय और मोहम्मद गौरी की सफलता के लिए उत्तरदायी कारणों एवं ग़ज़नी और गौरी आक्रमणकारियों के बीच अंतर पर विचार-विमर्श करते हैं।

इकाई 13 भूमि, राजस्व और कृषि संबंधों के अध्ययन के माध्यम से आपको लगभग 700-1200 सी.ई. की कालावधि को समझने में सक्षम बनाने का प्रयत्न करती है। इसका प्रतिपादन प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में भूमि और उससे संबंधित संसाधनों के महत्व, भूमि अनुदान प्रणाली के उद्देश्यों, कालक्रम एवं विस्तार, भूमि पर अधिकार व स्वामित्व की प्रकृति, राजस्व व्यवस्थाओं तथा राज्य के किसान, ज़मींदार और गाँव की तत्सम्बन्धी भूमिकाओं के संदर्भ में किया गया है। इस इकाई में आप इस काल में भारतीय उपमहाद्वीप में कृषीय विकास, विभिन्न कृषीय बस्तियों की प्रकृति और स्वरूप एवं प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं के बारे में भी जानेंगे। इस समय के सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए **इकाई 14** विभिन्न साहित्यिक व पुरातात्विक स्रोतों पर प्रकाश डालती है। इसमें सामाजिक जीवन के विशिष्ट लक्षणों, विभिन्न सामाजिक समूहों और वर्गों एवं उनके बीच अंतर्संबंधों, सामाजिक संरचना और लिंग संबंधों में परिवर्तन और निरंतरता के तत्वों, सामाजिक परिवर्तनों के विविध अभिकरणों व कारणों की भूमिका और इन

सामाजिक रूपांतरों के अनुरूप अर्थव्यवस्था, राजनीति व संस्कृति में उभरती प्रवृत्तियों का विवरण भी दिया गया है।

इकाई 15 गुप्त काल के दौरान कला, भाषा और साहित्य का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करती है। इसमें हम बताते हैं कि संस्कृति के क्षेत्र में इस काल को ''स्वर्ण-युग'' के रूप में क्यों जाना जाता है। इस इकाई में हम सांस्कृतिक गतिविधियों हेतु गुप्त शासकों द्वारा अनुदत्त सक्रिय संरक्षण, वास्तुकला, मूर्तिकला व चित्रकला के अभूतपूर्व विकास, संस्कृत भाषा द्वारा प्राप्त असामान्य उन्नति और शोधन तथा इस युग में विपुल साहित्यिक गतिविधि और साहित्य द्वारा सिद्ध व निर्धारित प्रभावशाली मानकों पर भी विचार-विनिमय करते हैं। अंतिम इकाई – **इकाई 16** – को पढ़ने के बाद आपको *भक्ति* आंदोलन व तंत्रवाद के विशेष संदर्भ में प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के बदलते धार्मिक परिदृश्य के विषय में पता चलेगा। इसमें आप विभिन्न रूपों में पौराणिक हिन्दु धर्म के उदय, जिन परिस्थियों ने *भक्ति* भावना को जन्म दिया, *भक्ति* के प्रक्षेप पथ, कैसे यह अंततः सामाजिक परिवेश में मूलभूत परिवर्तन नहीं ला पाई, तंत्रवाद का उद्‌भव और आत्मसातकरण तथा विभिन्न परंपराओं के रूप में इसकी स्थायी विरासत आदि पहलुओं को समझने में सक्षम होंगे।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 गुप्त साम्राज्यः उदय एवं विकास*

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 राजनैतिक पृष्ठभूमि

1.2.1 उत्तर-पश्चिम और उत्तर भारत

1.2.2 पश्चिम और मध्य भारत

1.2.3 दक्कन और दक्षिण भारत

1.3 गुप्तों का प्रादुर्भाव

1.3.1 समुद्रगुप्त

1.3.2 प्रसार और सुदृढ़ीकरण

1.4 चन्द्रगुप्त-द्वितीय

1.5 कुमारगुप्त-I

1.6 स्कन्दगुप्त

1.7 गुप्त साम्राज्य का विघटन

1.8 सारांश

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.10 संदर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभ में भारत के राजनीतिक हालात के विषय में जान सकेंगे;
- उन परिस्थितियों से स्वयं को अवगत करा पायेंगे जिनके कारण गुप्त शक्ति का उदय हुआ;
- गुप्त साम्राज्य के प्रसार एवं सुदृढ़ीकरण के बारे में समझ सकेंगे;
- गुप्त शासकों के उत्तराधिकार के क्रम और सैनिक योग्यताओं के विषय में जान पायेंगे; और
- गुप्तों के पतन की प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में चौथी शताब्दी सी.ई. की राजनैतिक स्थिति का संक्षेप में विवेचन करने के बाद हम उस ऐतिहासिक स्थिति का अध्ययन करेंगे जिसने गुप्त वंश के प्रादुर्भाव का मार्ग प्रशस्त किया। इस समय की राजनीतिक रूपरेखा का विवेचन करने का भी प्रयास किया जाएगा। हमने उन विवादों को भी दृष्टि में रखा है जो गुप्त राजाओं के उत्तराधिकार से संबंधित हैं और इसी के साथ-साथ उनकी उन उपलब्धियों का विवेचन भी किया गया है जिन्होंने उनके साम्राज्य के निर्माण एवं सुदृढ़ीकरण में सहायता की। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त-II, कुमारगुप्त

*इस इकाई को ई.एच.आई.-02, खंड-08 से लिया गया है।

और स्कन्दगुप्त जैसे राजाओं का गुप्त साम्राज्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस इकाई में उन समस्याओं के विषय में भी लिखा गया है जिनका सामना गुप्त राजाओं ने किया तथा उन कारणों का भी जो गुप्त शासन के पतन के लिये उत्तरदायी थे।

1.2 राजनैतिक पृष्ठभूमि

चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभ में भारत में कोई बड़ा संगठित राज्य अस्तित्व में नहीं था। आप पहले पढ़ चुके हैं कि उत्तर-मौर्य काल में उत्तर-भारत और दक्कन में दो राज्यों का उदय हुआ। ये उत्तर भारत में कुषाणों का राज्य और दक्कन में सातवाहनों का राज्य थे। यद्यपि कुषाण एवं *शक* सरदारों का शासन चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभिक वर्षों तक जारी रहा, लेकिन उनकी शक्ति काफ़ी कमज़ोर हो गयी थी और सातवाहन वंश का शासन तीसरी शताब्दी सी.ई. के मध्य से पहले ही लुप्त हो गया था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारत में पूर्ण राजनीतिक रिक्तता पैदा हो गई। इस समय कोई बड़ी राजनीतिक शक्ति सत्ता में नहीं थीं, परन्तु छोटी-छोटी शक्तियों का शासन कायम था और नवीन परिवारों के शासकों का उद्‌भव हो रहा था। इस राजनीतिक स्थिति में गुप्त नाम के वंश ने चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभिक समय से अपने साम्राज्य को बनाना प्रारंभ किया। इस वंश की उत्पत्ति के विषय में निश्चित मत नहीं हैं। इस साम्राज्य के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने से पूर्व हम विभिन्न क्षेत्रों को अलग-अलग लेकर उस समय की राजनीतिक स्थिति की समीक्षा करेंगे।

1.2.1 उत्तर-पश्चिमी और उत्तर भारत

तीसरी शताब्दी सी.ई. के मध्य से पूर्व ही ईरान में ससैनियनों का राज्य स्थापित हो गया था और ससैनियन शासकों ने कुषाण राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना प्रारंभ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उत्तर पश्चिम भारत के शक्तिशाली कुषाण राजा ससैनियन राजाओं के अधीन उनके सरदार मात्र बनकर रह गये और ससैनियन राजाओं का अधिपत्य सिन्ध एवं अन्य क्षेत्रों तक फैल गया।

काफ़ी बड़ी संख्या में ऐसे सिक्के जो प्रारंभिक कुषाण राजाओं के सिक्कों पर आधारित हैं, अफ़ग़ानिस्तान एवं पंजाब से पाये गये हैं। इन सिक्कों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस क्षेत्र में कुषाण शासकों का शासन बना रहा। अफ़ग़ानिस्तान, कश्मीर और पश्चिमी पंजाब में किदार कुषाण एवं उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिससे यह सम्भावना है कि इनमें से कुछ कुषाण शासक प्रारंभिक गुप्त शासकों के समकालीन थे।

पंजाब, हरियाणा और राजस्थान के कुछ अन्य भागों से प्राप्त हुए पुराने सिक्के यह दर्शाते हैं कि इन क्षेत्रों में कई गणतंत्रीय राज्यों का अस्तित्व था। ये वे राज्य थे जिन पर किसी एक राजा का राज्य नहीं था। सम्भवतः उन पर कई सरदारों का शासन था, यह केवल संयोगवश होता था कि कोई-कोई सरदार स्वयं को एक कबीले के शासक के रूप में आरोपित करता था। जिन गणतंत्रों को गुप्त शासक समुद्रगुप्त ने विजित किया उनमें मुद्रस, पंजाब में स्थित था; बहुत शक्तिशाली यौधेय वर्तमान हरियाणा में केन्द्रित थे और मालव राजस्थान में स्थित था। इसी भांति के अन्य गणतंत्र राज्य अस्तित्व में थे और उनमें से कुछ नामों को गुप्त प्रमाणों में उल्लिखित किया गया है।

नागाओं की बहुत सी शाखाओं का भी उल्लेख हुआ है जो कुषाणों के पतन के बाद मथुरा तथा अन्य केन्द्रों पर उत्तर भारत में काफ़ी शक्तिशाली हो गये। जिन उत्तर भारतीय शासकों को समुद्रगुप्त ने पराजित किया उनमें से कुछ निश्चित रूप से नागा *जाति* के थे।

1.2.2 पश्चिम और मध्य भारत

आप पिछली इकाइयों में से एक में पढ़ चुके हैं कि उत्तर-मौर्य काल में *क्षत्रप* शासकों की एक शाखा ने स्वयं को पश्चिम भारत के शासकों के रूप में स्थापित किया। क्षास्तन शाखा ने, जिसका प्रसिद्ध शासक *शक क्षत्रप* रुद्रदमन था, 304 सी.ई. तक शासन किया और तत्पश्चात नये शासकों की शाखा ने शासन करना शुरू किया। फ़िर भी *क्षत्रप* शासन का अन्त चौथी शताब्दी सी.ई. के अन्तिम वर्षों में उस समय हुआ जब गुप्त शासक चन्द्रगुप्त-II ने उनको विजित किया और उनके क्षेत्रों का अधिग्रहण कर लिया। प्राचीन विदर्भ के क्षेत्र में, जिसका केन्द्र बिन्दु उत्तर-पूर्वी महाराष्ट्र में स्थित नागपुर था, तीसरी शताब्दी सी.ई. के मध्य में एक नयी राज शक्ति का उदय हुआ। यह शक्ति वाकाटक थी और शासकों की इस नवीन धारा का प्रारंभ विन्ध्याशक्ति के द्वारा किया गया था। वाकाटक राज्य शीघ्र ही शक्तिशाली हो गया और उसकी एक शाखा की स्थापना वस्त गुल्म (अकोला *जनपद* में आधुनिक बसिम) में भी की गई। बाद में वाकाटक वंश के गुप्तों के साथ वैवाहिक संबंध हो जाने के बाद घनिष्ठ संबंध कायम हो गये।

1.2.3 दक्कन और दक्षिण भारत

सतवाहन राज्य के पतन के साथ-साथ दक्कन के विभिन्न भागों में कई राजतंत्रीय परिवारों का उदय हुआ। आंध्र प्रदेश के तटीय क्षेत्र में इक्ष्वाकु, सलान्काय और दूसरे राजवंशों का राज्य कायम हो गया। कर्नाटक में सबसे महत्वपूर्ण शाही परिवार कदम्ब था। कदम्ब राज्य की स्थापना *ब्राह्मण* मौर्य सर्मन द्वारा की गयी थी और उसका तालगुण्डा शिलालेख उन महत्वपूर्ण परिस्थितियों की जानकारी देता है जिनके अन्तर्गत कदम्ब राज्य की स्थापना एवं उसका प्रसार हुआ। पल्लवों का शासन तमिलनाडु में 9वीं शताब्दी सी.ई. तक कायम रहा और वे तमिलनाडु में विशेष शक्तिशाली राजवंश के रूप में उभरे। उनके प्रमाणों से प्राप्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि उनका शासन तीसरी शताब्दी सी.ई. के मध्य से शुरू हुआ। प्रारंभिक पल्लव शासकों के अभिलेख प्राकृत भाषा में लिखे गए थे और वे तांबे की तश्तरियों (plates) के रूप में थे। उनको 250 सी.ई. से 350 सी.ई. के बीच के समय का माना गया है। इस वंश के शिवंदावर्मन ने चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारम्भ में शासन किया। वह एक शक्तिशाली शासक था तथा उसने अपने राज्य में वर्तमान आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक एवं तमिलनाडु के कुछ भागों को शामिल किया। तमिलनाडु के शिंगलिपट *जनपद* में स्थित कांची या कांचीपुरम को पल्लवों ने अपने राज्य की राजधानी बनाया। जब गुप्त शासक समुद्रगुप्त ने दक्षिण में अपना सैनिक अभियान किया तो उसने पल्लेव नरेश विश्मिगोप को कांची में पराजित किया। उपरोक्त संक्षिप्त विवरण में बहुत से क्षेत्रों एवं राजतंत्रीय परिवारों का वर्णन नहीं किया गया है, केवल उनके विषय में ही लिखा गया है जो तत्कालिक रूप से महत्वपूर्ण थे। यह भी रेखांकित किया जाना चाहिए कि बंगाल, उडीशा, मध्य प्रदेश के जंगलों एवं अन्य क्षेत्रों में पहली बार राज्यों का उदय हो रहा था। यह एक नयी विशेषता थी जो बाद के राजनीतिक इतिहास के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है।

1.3 गुप्तों का प्रादुर्भाव

गुप्त वंश की वंशावली और प्रारंभिक इतिहास के बारे में बहुत कम जानकारी है, जिसके फलस्वरूप बहुत सारी शंकायें उठ खड़ी हुई हैं। उनके नामों के बाद में गुप्त शब्द का प्रयोग होने से यह तर्क दिया गया है कि सातवाहन शिलालेख में प्रयोग हुए ''शिवगुप्त'' के साथ उनके वंश की उत्पत्ति का संबंध है। परंतु इस प्रकार के सुझाव स्थिति को जटिल बना देते हैं। विभिन्न विद्वान उनकी उत्पत्ति के स्थान के विषय में विभिन्न स्थानों का नाम बताते हैं।

कुछ बंगाल में, कुछ बिहार (मगध) में, और अन्य कुछ उत्तर प्रदेश को उनकी उत्पत्ति का स्थल बताते हैं। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इस समय हम यह कह सकते हैं कि गुप्तों की उत्पति का स्थल पूर्वी उत्तर प्रदेश थाः

- इलाहाबाद[1] स्तम्भ अभिलेख जिसमें गुप्त वंश के प्रारंभिक शासक की उपलब्धियों को उल्लेखित किया गया है, इसी क्षेत्र में स्थित है। इस क्षेत्र में पाये जाने वाले गुप्त शासकों के सिक्कों के भण्डार से भी ऐसा प्रतीत होता है।
- प्रारंभिक गुप्तों के क्षेत्रों के विषय में *पुराणों* में जो विवरण दिया गया है उससे भी इसका संकेत मिलता है।

यह भी संभव है कि तीसरी शताब्दी सी.ई. के अंतिम दशकों में कुषाण शासकों की एक शाखा के सहायकों के रूप में उत्तर-पश्चिम भारत में गुप्त शासक शासन करते हों। साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों से स्पष्ट है कि वे चौथी शताब्दी सी.ई. के दूसरे दशक में स्वतंत्र शासक हो गये।

अभिलेख हमें बताते हैं कि श्रीगुप्त प्रथम राजा था और उसके बाद घटोत्कच राजा हुआ। चन्द्रगुप्त-I पहला स्वतंत्र राजा था जिसने *महाराजाधिराज* की उपाधि को धारण किया। मगध में अपनी स्वतंत्रता को घोषित करने के बाद लिच्छिवियों के साथ वैवाहिक संबंधों की मदद से उसने अपने राज्य का प्रसार किया। इस संबंध की जानकारी हमें एक विशेष प्रकार के सिक्कों से होती है। इन सिक्कों के अनुभाग पर चन्द्रगुप्त और उसकी रानी कुमारदेवी का चित्र बना हुआ है। और इनके दूसरे भाग पर *लिच्छवायह* (अर्थात् लिच्छवी) की कहानी से संबंधित बैठी देवी का चित्र बना है। ये सिक्के सोने के बने हुए हैं। गुप्तों ने सिक्कों के वज़न के लिए कुषाण प्रणाली के सोने के सिक्कों का अनुसरण किया जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि गुप्त शासक कुषाण शासकों के क्षेत्रों से संबंधित थे।

चंद्रगुप्त-I के राज्य की सीमा निर्धारण के लिए कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु ऐसा माना जाता है कि उसके राज्य के अंतर्गत वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार एवं बंगाल के भाग थे।

चन्द्रगुप्त-I ने 319-320 सी.ई. से नये वर्ष का प्रारम्भ किया। यह किसी भी प्रमाण से स्पष्ट नहीं है कि उसने वास्तव में नये वर्ष का प्रारम्भ किया जिसे गुप्त संवत के नाम से जाना जाता है। परन्तु उसने *महाराजाधिराज* की उपाधि धारण की थी, इसीलिए ऐसा माना जाता है कि उसने एक नवीन वर्ष का प्रारम्भ किया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त के शासन काल में गुप्त साम्राज्य का काफ़ी प्रसार हुआ।

1.3.1 समुद्रगुप्त

प्रयागराज में स्थित अशोक के स्तम्भ पर एक अभिलेख (बाद की तारीख में) खुदा हुआ है (जिसको *प्रयाग प्रशस्ति* नाम से भी जाना जाता है) जो समुद्रगुप्त के सिंहासनारोहण और विजयों के विषय में सूचनायें देता है। हरिशेण नाम के एक महत्वपूर्ण राज्यधिकारी ने 33 पंक्तियों को संकलित किया था और उन्हीं को इस स्तम्भ पर खुदवाया गया है। अभिलेख में उद्धृत है कि *महाराजाधिराज* चन्द्रगुप्त-I ने अति भावनात्मक आवाज़ में अपने पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। यह सभी दरबारियों के आनन्द की अनुभूति और बहुत से राज्य परिवार वालों की ईर्ष्या का कारण बना। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो राजकुमार राजा बनने का दावा पेश कर रहे थे उनको इस घोषणा के द्वारा शांत कर दिया गया। कच्छ के नाम से जारी किये गये कुछ सोने के

[1]इलाहाबाद जिले को अब प्रयागराज कहा जाता है।

सिक्कों की प्राप्ति ने इस संबंध में विवाद को एक नया मोड़ दिया। यह विवाद इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि (i) कच्छ के सिक्के बिलकुल समुद्रगुप्त के सिक्कों के ही समान हैं, (ii) कच्छ का नाम गुप्त शासकों की अधिकृत सूची में शामिल नहीं है जैसा कि वह गुप्त शासकों के अन्य अभिलेखों में वर्णित है। इस सन्दर्भ में बहुत से तर्क प्रस्तुत किये गये हैं :

- यहां एक परिभाषा दी जाती है कि समुद्रगुप्त के भाइयों ने उसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया और सबसे बड़े भाई कच्छ को सिंहासन पर बैठा दिया। किन्तु उत्तराधिकार की लड़ाई में वह मारा गया।
- दूसरा विचार यह है कि समुद्रगुप्त ने अपने भाई की स्मृति में इन सिक्कों को जारी किया।
- तीसरे विचार के अनुसार समुद्रगुप्त का प्रारंभिक नाम कच्छ था और दक्षिण की विजय करने के बाद उसने समुद्रगुप्त नाम को धारण किया।

इस विवाद का कोई हल नहीं है क्योंकि प्रत्येक विचार के समर्थन एवं विरोध में तर्क दिये जा सकते हैं। हम केवल यही कह सकते हैं कि कच्छ के सिक्के इतनी कम संख्या में पाये गये हैं कि अगर वह सिंहासन पर बैठा तो बहुत थोड़े समय के लिये। यह भी है कि चन्द्रगुप्त की उद्घोषणा के बावजूद भी समुद्रगुप्त ने सिंहासन के उत्तराधिकार के संबंध में समस्या का सामना किया हो किन्तु अंततः उसने इस पर विजय प्राप्त की।

1.3.2 प्रसार एवं सुदृढ़ीकरण

गुप्त शक्ति के प्रसार एवं सुदृढ़ीकरण के लिये समुद्रगुप्त ने विजयों की आक्रामक नीति को अपनाया। इससे उस प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ जिसकी पराकाष्ठा गुप्त साम्राज्य के निर्माण के रूप में हुई। हमें इस वास्तविकता को भी रेखांकित करना चाहिये कि कुछ क्षेत्रों में, विशेषकर दक्षिण में, उसने उन राजाओं को पुनः स्थापित किया जिनकों उसने पराजित किया था तथा उन क्षेत्रों पर अपने शासन को कायम भी रखा। वास्तव में उन शासकों ने उसके अधिपत्य को स्वीकार किया और उसको उपहार भेंट किये। इस प्रकार की नीति का अनुसरण उन क्षेत्रों के लिये किया गया जो काफ़ी दूरी पर थे और इससे सम्पर्क की समस्या का हल कर लिया गया तथा नीति काफ़ी लाभदायक सिद्ध हुई और इससे कारगर नियंत्रण भी कायम रखा जा सका। इस नीति से कुछ समय के लिये स्थायित्व भी स्थापित हो गया। अब हम संक्षेप में समुद्रगुप्त द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में अपनायी गई आक्रामक नीति की विवेचना करेंगे। यह तथ्य हम पुनः बता दें कि समुद्रगुप्त के जिन सभी सैनिक अभियानों का विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं कि वे सभी हरिशेण की *प्रयाग प्रशस्ति* पर आधारित हैं।

1) *आर्यावर्त* में सैनिक अभियान

कुछ इतिहासकारों का मानना है कि समुद्रगुप्त ने *आर्यावर्त* में केवल एक बार अपना सैनिक अभियान किया। परन्तु कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि *प्रयाग प्रशस्ति* में समुद्रगुप्त की विजयों का विवरण समयानुसार दिया गया है। जिसका यह अर्थ निकलता है कि समुद्रगुप्त ने उत्तर भारत में दो अभियान चलाये। ऐसा इसलिये है कि पहले *आर्यावर्त* के तीन राजाओं का नाम उद्धृत हैं और फ़िर उसके दक्षिण अभियान को उद्धृत किया गया है तथा फ़िर *आर्यावर्त* के नौ राजाओं के नामों को उद्धृत किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के उत्तराधिकार के संघर्ष में फंसा हुआ होने के कारण कुछ शासकों ने अपने आधिपत्य को स्थापित करने का प्रयास किया। इस सदंर्भ में यह भी हो सकता है कि समुद्रगुप्त ने अच्युत नागसेन ओर काय-कुलजा को पराजित किया हो। इन विजयों के विषय में कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है और न ही उन विशेष क्षेत्रों की विशेष जानकारी है जिन पर ये शासक

शासन करते थे। फ़िर भी इतिहासकारों का कहना है कि अच्युत अहिच्छत्र पर, नागसेन ग्वालियर क्षेत्र पर और कोटा-कुलजा या कोटा परिवार पूर्वी पंजाब और दिल्ली क्षेत्रों के ऊपर शासन कर रहे थे। यद्यपि इन क्षेत्रों की स्पष्टतः पहिचान करने पर भिन्नातायें हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने उनको पराजित कर न केवल गंगा घाटी पर अपना अधिकार कर लिया बल्कि उसके आस-पास के क्षेत्र भी उसके नियंत्रण के अंतर्गत आ गये।

2) दक्षिण में अभियान

प्रयाग प्रशस्ति में *दक्षिणापथ* या दक्षिण भारत के 12 शासकों के नाम दिये गये हैं जिनको समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। ये निम्नलिखित थे :

- कोसल (रायपुर, दुर्ग, सम्बलपुर, और बिलासपुर जिले) के शासक महेन्द्र।
- महाकांतार (उडीशा प्रदेश का जेयपुर जंगल) के शासक व्याघ्रराज।
- कोरता (संभवतः मध्य प्रदेश का सोनपुर क्षेत्र या महेन्द्र पहाड़ी का उत्तर-पूर्वी मैदानी भाग) का शासक मन्तराज।
- पिष्टपुर (पिठासुरम, पूर्वी गोदावरी जिला) का महेन्द्रगिरि।
- कोट्टूरा (गंजाम जिला) का स्वामीदत्ता।
- सरंपल्ला (चिकाकोले या पश्चिमी गोदावरी जिला) का दमन।
- कांची (चिंग्लेपुट जिला) का विष्णुगोप।
- अवामुक्ता (गोदावरी घाटी) का नीलराज।
- वेंगी (कृष्णा-गोदावरी घाटी में सिलोर) का हस्तीवर्मन।
- पालक्का (नेललोर जिला) का अग्रसेन।
- देवराष्ट्र (विशाखापटनम जिले में येलामांचिलि) का कुबेर।
- कुस्थलपुर (संभवतः तमिलनाडु के उत्तरी अरकोट में) का धनन्जय।

परन्तु इन राजाओं और इनके राज्यों की पहचान को लेकर इतिहासकारों के बीच मतभेद हैं। *प्रयाग प्रशस्ति* बताती है कि समुद्रगुप्त ने *दक्षिणापथ* के राजाओं के प्रति अपनी सहानुभूति को दिखाया क्योंकि पहले तो उसने उनको अधिकृत कर (*ग्रहण*) लिया और फ़िर उनको मुक्त कर *(मोक्ष)* दिया।

समुद्रगुप्त ने *आर्यावर्त* या उत्तरी भारत के राजाओं की अपेक्षा *दक्षिणापथ* के राजाओं के प्रति पूर्णतः भिन्न नीति का अनुसरण किया। उसने *आर्यावर्त* के राजाओं को न केवल पराजित किया बल्कि उनके राज्य गुप्त साम्राज्य के अभिन्न अंग बन गये। उत्तरी भारत में पराजित राजा इस प्रकार थे : रूद्रदेव, मतिला, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दी, बलवर्मा और अन्य। उन सबकी पहचान करना असंभव है, लेकिन यह निश्चित है कि वे सब उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर शासन कर रहे थे। उनमें से कुछ निश्चित रूप से नागराजा थे जो गुप्तों से पूर्व बहुत से क्षेत्रों में शक्तिशाली थे। कुछ शासक जैसे कि चन्द्रवर्मा जो पश्चिमी बंगाल के क्षेत्र पर शासन करता था, नये वंशों का प्रतिनिधित्व करते थे। *प्रशस्ति* में आगे विवरण है कि वन क्षेत्रों के सभी राज्यों को समुद्रगुप्त ने सेवकों जैसी स्थिति में पहुँचा दिया। दूसरी श्रेणी में सीमावर्ती राज्यों जैसे कि सामतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), कामरूप (असम), नेपाल आदि, गंणतांत्रिक राज्यों जैसे कि मालवा, योधेय, मद्रक, अभिर आदि का वर्णन है।

इन राज्यों ने वस्तुओं के रूप में भेंट और नज़राना दिया, उसकी आज्ञाओं का पालन किया और उन्होंने उसकी उपासना की। अन्य श्रेणी के राज्यों के शासकों ने उसकी सम्प्रभुता को दूसरे रूपों में स्वीकार किया। उन्होंने ''स्वयं को समर्पित करके, अपनी पुत्रियों को विवाह के लिये प्रस्तुत किया और स्वयं अपने राज्यों एवं जिलों का प्रशासन करने के लिये उससे प्रार्थना की''। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे अधीनस्थ राज्य थे और उनको अपनी स्वतंत्रता के लिये समुद्रगुप्त की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। इस श्रेणी में उत्तर-पश्चिम भारत के विदेशी शासकों, जैसे कि अन्तिम कुषाणों और *शकों* को, तथा इसमें विभिन्न द्वीपों जैसे कि सिम्हल (श्रीलंका) के शासकों को भी शामिल किया जा सकता है।

प्रयाग प्रशस्ति के संकलनकर्ता हरिशेण द्वारा दिये गये इस विवरण में कुछ को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया है परन्तु कुछ इनमें उचित भी हैं। परन्तु यह निश्चित है कि गुप्त साम्राज्य की सैनिक आधारशिला समुद्रगुप्त द्वारा रखी गयी और उसके उत्तराधिकारियों ने इसी आधारशिला पर गुप्त साम्राज्य का निर्माण किया।

बोध प्रश्न 1

1) रिक्त स्थानों को भरिये –

   अ) चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभ के समय उत्तर भारत में ..... (बहुत से/कोई नहीं) छोटे राज्य थे।

   ब) चन्द्रगुप्त-I का ..... (शकों/लिच्छवियों) के साथ वैवाहिक संबंध था।

   स) *प्रयाग प्रशस्ति* में ..... (प्रवरसेन/समुद्रगुप्त) की विजयों का वर्णन है।

2) गुप्त साम्राज्य के प्रसार के लिये समुद्रगुप्त द्वारा जो प्रयत्न किये गये उनका पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिये।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

3) चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभ पर उत्तरी भारत में पांच छोटी राज्यशक्तियों की सूची बनाइये।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

1.4 चन्द्रगुप्त-द्वितीय

गुप्त अभिलेखों में उद्धृत है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त- II था। लेकिन कुछ साहित्यिक स्रोतों और तांबे के सिक्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी रामगुप्त था। विशाखदत्त ने अपने नाटक *देवीचन्द्रगुप्तम* में लिखा है कि चन्द्रगुप्त-II ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या की। उसने ऐसा इसलिये किया कि रामगुप्त की शकों के हाथों पराजय होने वाली थी और अपने राज्य को बचाने के लिये वह अपनी पत्नी को *शक* राजा को समर्पित करने के लिये सहमत हो गया। चन्द्रगुप्त ने इसका विरोध किया और वह भेश बदलकर ध्रुवदेवी के भेश में *शक* राजा के शिविर में गया। उसने *शक* राजा के विरूद्ध सफलता प्राप्त की, परन्तु इसी घटनाक्रम में अपना भाई के प्रति शत्रुता के कारण उसने उसकी भी हत्या कर दी और ध्रुवदेवी के साथ विवाह कर लिया। कुछ अन्य ग्रन्थों जैसे कि *हर्षचरित, काव्यमीमांसा* आदि में भी इस घटनाक्रम का वर्णन है। रामगुप्त के नाम से खुदे कुछ तांबे के सिक्के पाये गये हैं और विदिशा से प्राप्त हुई जैन मूर्तियों के आधार पर खुदे अभिलेखों में महाराज रामगुप्त का नाम है। इसी प्रकार, वैशाली की एक मोहर पर ध्रुवदेवी को गोविन्दगुप्त (चन्द्रगुप्त का पुत्र) की माता के रूप में उद्धृत किया है। हम कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त सिंहासन पर उस समय बैठा जब पुनः गुप्त साम्राज्य के सम्मुख समस्यायें पैदा हो गई थीं और दोबारा गुप्त सार्वभौमिकता को स्थापित करने के लिये उसे सैनिक अभियान का संचालन करना पड़ा। उसने नाग राजकुमारी कुबेरनाग के साथ विवाह करके नागों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किये और बाद में अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह उसने वाकाटक वंश के राजा रूद्रसेन- II के साथ किया। यद्यपि उसके शासनकाल की घटनाओं का उल्लेख *प्रयाग प्रशस्ति* में नहीं हुआ है। फ़िर भी हमें चन्द्रगुप्त के अभियानों एवं सफलताओं की सूचनायें कुछ निश्चित अभिलेखों, साहित्यिक स्रोतों और सिक्कों से निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त हैं :

उसने *शक* नरेश रूद्रसिंह- III को पराजित किया और उसके राज्य का अधिग्रहण कर लिया। इससे पश्चिमी भारत में *शक-क्षत्रप* शासन का अंत हो गया और गुजरात, काठियावाड़ तथा दक्षिण मालवा गुप्त साम्राज्य के अंग बन गये। चन्द्रगुप्त के शकों के विरूद्ध अभियान की विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। उसके नागों और वाकाटकों के साथ वैवाहिक संबंधों का अभियानों की तैयारी के लिये विशेष महत्व है। सांची के पास उदयगिरि की गुफाओं के अभिलेख तथा सांची के एक अभिलेख में चन्द्रगुप्त- II, उसके अधीनस्थ राजाओं एवं सैनिक अधिकारियों का संदर्भ है जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अपने अभियानों की तैयारी के लिये वह कुछ समय के लिये पूर्वी मालवा में ठहरा। एक अभिलेख में उसको उद्धृत करते हुए कहा गया है कि वह सम्पूर्ण भू-भाग को विजयी करने की आकांक्षा रखता था''। *शक* शासकों के प्रदेशों की उसके द्वारा विजय लगभग सम्पूर्ण थी क्योंकि :

- इस काल के बाद *शकों* द्वारा जारी किये गये सिक्के प्राप्त नहीं होते यद्यपि बिना किसी अवरोध के उनके द्वारा जारी किये गये पहली चार शताब्दियों के सिक्के मिलते हैं।
- इस क्षेत्र के लिये गुप्त शासकों ने चन्द्रगुप्त के समय से ही *शकों* के सिक्कों की भांति चांदी के सिक्के जारी किये। उन्होंने इन सिक्कों में केवल अपने विशेष चिन्हों को जोड़ा, अन्यथा ये सिक्के *शकों* के सिक्कों के जैसे ही थे। यह निश्चित रूप से यह दर्शाता है कि *शक*-क्षत्रपों को चन्द्रगुप्त- II ने अपने नियंत्रण में कर लिया।
- बाद में चन्द्रगुप्त-II की *शकों* के विरूद्ध यह सफलता *शकारी विक्रमादित्य* परम्परा में बदल गई जिसका अर्थ है कि विक्रमादित्य *शकों* का शत्रु था।

- महरौली के लौह स्तम्भ पर अंकित अभिलेख में, जो दिल्ली में कुतुब-मीनार के प्रांगण में स्थित है, ''नरेश चन्द्र'' की तुलना भी विद्वानों के द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ की गई है। इस अभिलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सात नदियों के सिंधु क्षेत्र को पार कर बाहलिकाओं (इसकी पहिचान बैक्ट्रिया के रूप में की गई है) को पराजित किया। कुछ विद्वानों ने चन्द्रगुप्त-II की तुलना कालिदास के नाटक *रघुवंश* के मुख्य पात्र रघु के साथ की है क्योंकि रघु की विजयों की तुलना चन्द्रगुप्त-II की विजयों से की जा सकती है।
- महरौली अभिलेख में वंगा (बंगाल) के शत्रुओं पर चन्द्रगुप्त की विजय का उल्लेख है।

इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य की सीमाओं को पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और पूर्वी भारत की सीमाओं तक बढ़ा दिया।

इस समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना है कि चीनी यात्री फाह्यान बौद्ध धर्म के ग्रंथों की खोज में भारत आया था। उसने अपने संस्मरणों के अन्तर्गत उन विभिन्न स्थानों का विवरण किया है जहां भी वह गया और उसने इसमें उस समय की कुछ निश्चित सामाजिक एवं प्रशासनिक विशेषताओं का उल्लेख किया है। परन्तु उसने अपने संस्मरणों में उस समय के राजा के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उसने मध्य देश जो उस समय गुप्त शासक के सीधे नियंत्रण में था, के राजा की बड़ी प्रशंसा की है। और बताया है कि उसके अधीन जनता सम्पन्न एवं प्रसन्न थी।

चन्द्रगुप्त-II ने विद्वानों को भी संरक्षण प्रदान किया। उसने 415-16 सी.ई. तक शासन किया।

1.5 कुमारगुप्त-I

चन्द्रगुप्त-द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमारगुप्त था। उसके विषय में हमें कुछ निश्चित अभिलेखों एवं सिक्कों से सूचनायें प्राप्त होती हैं जो इस प्रकार हैं :

- उसके प्रारंभिक काल का अभिलेख वह है जो बिलसाड़ (एटा जिला) से प्राप्त हुआ है और जिसकी तिथि 415 सी.ई. (गुप्ता तिथि 96) है।
- करमदंद (फैज़ाबाद) से प्राप्त उसके मन्त्री के अभिलेख (436 सी.ई.) में उल्लेख है कि उसकी प्रसिद्धि चारों समुद्रों तक फैल गई।
- मन्दसौर से प्राप्त शिला अभिलेख (436 सी.ई.) में उल्लेख है कि कुमारगुप्त का शासन सम्पूर्ण भू-भाग पर था।
- दामोदरपुर ताम्र तश्तरी अभिलेखों (443 सी.ई. और 447 सी.ई.) में उसका उल्लेख *महाराजाधिराज* के रूप में हुआ है और उसने स्वयं को अपने साम्राज्य के सबसे बड़े प्रशासनिक क्षेत्र पुण्ड्रवर्धन *भुक्ति* (प्रांत) का राज्यपाल (*उपारिका*) नियुक्त किया।
- कुमारगुप्त की अंतिम तिथि की जानकारी 445 सी.ई. (गुप्त संवत् 136) में दिनांकित उसके चांदी के सिक्के से प्राप्त होती है।

उसके अभिलेख विशाल क्षेत्र में वितरित थे जिससे स्पष्ट है कि उसका शासन पूर्व में मगध एवं बंगाल तक और पश्चिम में गुजरात तक फैला हुआ था। उसने *अश्वमेध यज्ञ* का आयोजन किया। ऐसा कहा जाता है कि उसके शासन के अंतिम वर्षों में विदेशी आक्रमण हुआ जिसको उसके पुत्र स्कन्दगुप्त के प्रयत्नों के फलस्वरूप रोका जा सका। उसके वाकाटक शासकों के साथ मधुर संबंध थे जिनको पहले ही वैवाहिक संबंधों के द्वारा स्थापित किया गया था।

1.6 स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी बना और वह संभवतः गुप्त वंश का अंतिम शक्तिशाली शासक था। अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिये उसे पुश्यमित्रों के साथ संघर्ष करना पड़ा और इसी समय देश की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं के पार हुणों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। स्कन्दगुप्त ने सफलतापूर्वक हुण आक्रमण को पीछे धकेल दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन युद्धों के कारण साम्राज्य की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा और स्कन्दगुप्त के द्वारा जारी किये गये सोने के सिक्कें इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं। प्रारम्भिक शासकों के द्वारा जारी किये गये सोने के सिक्कों की तुलना में स्कन्दगुप्त के द्वारा जारी किये गये सिक्कों में सोने की मात्रा काफ़ी कम थी। यद्यपि उसके द्वारा जारी किये गये सिक्कों का वज़न प्रारंभिक सोने के सिक्कों से अधिक था किन्तु उसके सिक्कों में सोने की मात्रा पहले के सिंक्कों से काफ़ी कम थी। यह भी प्रतीत होता है कि गुप्त वंश का वह अंतिम शासक था जिसने पश्चिमी भारत में चांदी के सिक्कों को जारी किया था। उसके जूनागढ़ अभिलेख में उल्लेख है कि उसने अपने शासन काल में जनहित के कार्यों को भी किया। सुदर्शन झील (जिसका निर्माण मौर्य काल में हुआ था) भारी वर्षा के कारण फट गयी थी परन्तु उसके शासन के प्रारंभिक वर्षों में उसके नियंत्रक पर्णदत्त ने इसकी मरम्मत करायी। इससे स्पष्ट है कि राजा ने जनहित के कार्यों को भी किया। स्कन्दगुप्त की अंतिम तिथि 467 सी.ई. के बारे में जानकारी उसके चांदी के सिक्कों से प्राप्त होती है।

स्कन्दगुप्त के बाद के गुप्त शासक

यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों ने किस क्रम में शासन किया। स्कन्दगुप्त भी स्वयं सिंहासन का उचित अधिकारी नहीं था, इसलिये उसको सिंहासन प्राप्त करने के लिए अन्य दावेदारों के साथ संघर्ष करना पड़ा। यही कारण है कि एक मोहर अभिलेख में स्कन्दगुप्त के बाद शासकों के क्रम को स्कन्दगुप्त से नहीं अपितु कुमारगुप्त- I और उसके पुत्र पुरूगुप्त से उल्लेखित किया गया है। दूसरे, यह भी संभव है कि गुप्त साम्राज्य का विभिन्न क्षेत्रों में विघटन स्कन्दगुप्त के शासन के अंतिम वर्षों में ही प्रारंभ हो गया हो। इसी कारणवश पश्चिम मालवा से प्राप्त एक अभिलेख में, जो उसके शासन काल के अंतिम वर्ष का है, स्कन्दगुप्त के नाम का उल्लेख नहीं है परन्तु इसका प्रांरभ अन्य शासकों के नाम जैसे कि चन्द्रगुप्त- II के नाम से होता है।

अभिलेखों में स्कन्दगुप्त के जिन उत्तराधिकारियों का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार थेः बुद्धगुप्त, वैन्यगुप्त, भानगुप्त, नरसिंहमगुप्त बालादित्य, कुमारगुप्त- II और विष्णुगुप्त। इसकी कोई संभावना नहीं है कि इन शासकों ने विशाल साम्राज्य पर प्रारंभिक काल के गुप्त शासकों चन्द्रगुप्त- II और कुमारगुप्त- I की भांति शासन किया हो। गुप्तों का शासन 550 सी.ई. तक जारी रहा परन्तु उनकी ह्रास होती शक्ति का कोई महत्व नहीं रह गया था।

1.7 गुप्त साम्राज्य का विघटन

इस भाग में हम उन कारणों का विवरण करेंगे जो गुप्त साम्राज्य के पतन के लिये उत्तरदायी थे :

1) **हुण आक्रमण**

कुमारगुप्त- I के शासन काल से ही उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर हुणों ने आक्रमण करना शुरू कर दिया। हुण मध्य एशिया का एक कबीला था जो सफलतापूर्वक विभिन्न दिशाओं में बढ़ रहा था और जिसने उत्तर-पश्चिम, उत्तरी और पश्चिमी भारत में कई

स्थानों पर अपने राज्यों की स्थापना कर ली थी। हालांकि इस समय में उनके आक्रमणों को निष्क्रिय कर दिया गया था। परन्तु पांचवी शताब्दी सी.ई. के अंत में हुण सरदार तोरमण ने पश्चिमी एवं केन्द्रीय भारत के अधिकतर भागों में अपना आधितत्य स्थापित कर लिया। उसके बेटे मिहिरकुल ने अपने आधिपत्य को और आगे बढ़ाया। इस प्रकार हुणों का आक्रमण, विशेषकर उत्तर-पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों में, गुप्त प्रभुत्व के लिये बहुत घातक साबित हुआ।

2) **प्रशासनिक कमज़ोरियां**

जिन पराजित राजाओं ने गुप्त शासकों के सामन्तीय प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया उन स्थानीय सरदारों या राजाओं को पुनः स्थापित करने की नीति का अनुसरण गुप्त राजाओं ने किया। वास्तव में, इन क्षेत्रों पर कठोर और प्रभावकारी नियंत्रण को स्थापित करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किये गये। इस प्रकार यह स्वाभाविक ही था कि जब कभी भी उत्तराधिकार के प्रश्न या कमज़ोर राजा को लेकर गुप्त साम्राज्य में कोई संकट होता तो इसके अन्दर ही स्थानीय सरदार अपने स्वतंत्र प्रभुत्व को पुनः स्थापित कर लेते। इससे प्रत्येक गुप्त सम्राट के लिये एक समस्या होती और उसे अपने प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करना पड़ता। लगातार सैनिक अभियानों के कारण राज्य के कोष पर अतिरिक्त भार पड़ता था। पांचवी शताब्दी सी.ई. के अंत और छठी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभ में, कमज़ोर सम्राटों का लाभ उठाते हुए बहुत सी स्थानीय शक्तियों ने पुनः अपने प्रभुत्व को स्थापित कर लिया और समय मिलने पर अपनी स्वतंत्रता को घोषित कर दिया। इन शक्तियों के विषय में आप आगे इकाई में पढ़ेंगे।

इनके अलावा और भी अन्य कारण थे जिन्होंने गुप्त साम्राज्य की शक्ति को क्षीण किया। उदाहरण के लिये, यह तर्क दिया जाता है कि गुप्त शासकों ने *ब्राह्मणों* को भूमि दान के पत्र जारी किये और इस प्रक्रिया के दौरान उन्होंने अपने राजस्व एवं प्रशासनिक अधिकारों को दान मिलने वालों के पक्ष में समर्पित कर दिया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सामंत व्यवस्था के अंतर्गत सामंतों ने, जो केन्द्रीय शक्ति के सहायक के रूप में शासन करते थे, गुप्त काल में अपनी शक्ति को मज़बूत करना शुरू कर दिया। इसी के कारण गुप्त शासकों का प्रशासन कमज़ोर होने लगा। इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं कि इस व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे हुई और इस व्यवस्था की विस्तृत जानकारी के संबंध में भी विभिन्न मत हैं। परन्तु गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत बड़ी संख्या में सामंतों की उपस्थिति यह स्पष्ट करती है कि उन्होंने गुप्त आधिपत्य से स्वतंत्र रूप से अपनी शक्ति को मज़बूत किया।

इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि शाही परिवार के आंतरिक विभाजनों ने स्थानीय सरदारों या नियंत्रकों के हाथों में शक्ति के सुदृढ़ीकरण और साम्राज्य की कमज़ोर प्रशासनिक व्यवस्था ने गुप्त साम्राज्य के विघटन में योगदान किया।

बोध प्रश्न 2

1) चन्द्रगुप्त-II के सैनिक अभियानों का वर्णन पाँच पंक्तियों में कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2) गुप्त साम्राज्य के विघटन के कारणों की विवेचना पाँच पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही या गलत है।

i) कुमारगुप्त के समय में हुण आक्रमण को स्कन्दगुप्त के द्वारा रोका गया।( )

ii) फाह्यान जैन ग्रंथों की खोज में भारत आया। ( )

iii) रामगुप्त को चन्द्रगुप्त-II का बड़ा भाई कहा गया है। ( )

iv) कुमारगुप्त ने *अश्वमेध* प्रकार के सिक्कों को जारी किया। ( )

v) सुदर्शन झील की मरम्मत स्कन्दगुप्त के शासन के दौरान हुई। ( )

1.8 सारांश

चौथी शताब्दी सी.ई. के प्रारंभ में उत्तरी भारत बहुत से छोटे-छोटे राज्यों एवं रियासतों में विभाजित था। ये राज्य, जो विभिन्न क्षेत्रों में थे, अक्सर एक दूसरे से संघर्ष करते रहते थे। इस प्रकार की राजनैतिक परिस्थितियों में गुप्त वंश ने शक्ति को प्राप्त किया और क्रमशः एक साम्राज्य की स्थापना की। इस वंश के कई राजाओं ने विभिन्न क्षेत्रों में सैनिक अभियानों का संचालन किया। शाही शक्ति को समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त-II के शासन काल में सही प्रकार से संगठित किया गया। गुप्तों की शक्ति स्कन्दगुप्त के शासन काल के समय तक काफ़ी मज़बूत थी परन्तु उसके बाद विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी। बहुत से कारणों, जैसे कि विदेशी आक्रमण, शासक परिवार के अंतर्गत मतभेद, स्थानीय सरदारों के द्वारा पुनः अपनी शक्ति को स्थापित करना, प्रशासनिक कमज़ोरी आदि ने साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को और तेज़ किया।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) बहुत से ब) लिच्छवियों स) समुद्रगुप्त

2) उपभाग 1.3.2 देखें।

3) यौधेय, मालवा, नाग, मद्रस और बाद में कुषाण। उपभाग 1.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 1.4 देखें।

2) भाग 1.8 देखें।

3) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓ v) ✓

1.10 संदर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, अश्विनी, (1980). *राइज़ एण्ड फॉल ऑफ़ इम्पीरियल गुप्ताज़*। दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।

गुप्ता पी. एल. (1974). *द इम्पीरियल गुप्ताज़*। वाराणसी।

थापर, रोमिला (1990). *ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया*। पेन्गुईन।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 2 अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति एवं राजतंत्र व्यवस्थाः गुप्त साम्राज्य*

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत प्रशासन

- 2.2.1 राजा
- 2.2.2 मंत्रि-परिषद और दूसरे अधिकारीगण
- 2.2.3 सेना
- 2.2.4 राजस्व प्रशासन
- 2.2.5 प्रांत, जिला और ग्राम

2.3 अर्थव्यवस्था

- 2.3.1 कृषि
- 2.3.2 दस्तकारी उत्पादन और व्यापार

2.4 समाज

2.5 संस्कृति

2.6 सारांश

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.8 संदर्भ ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप :

- गुप्तकालीन प्रशासन के विभिन्न पहलुओं के बारे में जान सकेंगे;
- यह समझ सकेंगे की गुप्तकाल में कृषि, शिल्प उत्पादन और व्यापार की क्या स्थिति थी;
- गुप्तकालीन सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में जानकारी हासिल कर सकेंगे; और
- इस काल में जो परिवर्तन आर्थिक व सामाजिक स्थिति में हुए, उनको समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

हमने पहले आपको गुप्ताकालीन (इकाई 1) राजनैतिक इतिहास से भली-भांति अवगत कराया और अब हम आपको इस काल की अन्य विशेषताओं से अवगत करायेंगे। इस काल के ऐसे बहुत से अन्य स्रोत हैं जो हमें उस समय की आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वे स्रोत इस प्रकार हैं: i) कुछ ऐसे अभिलेख हैं जिनको समकालीन साहित्य एवं विभिन्न प्रकार की धातुओं जैसे कि तांबे की तश्तरियों (plates), पत्थर एवं मिट्टी की मोहरों आदि पर लिखा गया है, ii)

*इस इकाई को ई.एच.आई.-02, खंड-08 से लिया गया है।

विभिन्न वंशों के शासकों द्वारा जारी किये सिक्के, iii) उत्खनन से प्राप्त हुई सामग्री, iv) समकालीन साहित्य और v) फाह्यान जैसे विदेशी यात्रियों के संस्मरण।

इस इकाई में हम आपको गुप्त शासकों के द्वारा अपनायी गयी प्रशासन व्यवस्था के विषय में भी बतलायेंगे। इस इकाई में इस काल की आर्थिक गतिविधियों और राजस्व के विभिन्न स्रोतों का भी वर्णन किया जाएगा।

2.2 गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत प्रशासन

हम इकाई 1 में पहले ही बता चुके हैं कि गुप्त शासकों के उन क्षेत्रों के प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जहां के शासकों ने उनके सामन्तीय आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। फ़िर भी, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गुप्त राजा केवल अपने सामन्तों के माध्यम से शासन करते थे। उनकी अपनी एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक व्यवस्था थी जो उन क्षेत्रों में लागू थी जिन पर सीधा-सीधा नियंत्रण था।

2.2.1 राजा

राजा ही प्रशासन का मुख्य आधार था। परन्तु राजतंत्र के चरित्र में महत्वपूर्ण परिर्वतन हो चुके थे। हम पाते हैं कि गुप्त राजाओं ने भारी भरकम उपाधियों को धारण किया था जैसे कि *परमभट्टारक, परम-दैवत, चक्रवर्ती, परमेश्वर* आदि-आदि। उदाहरण के लिये, समुद्रगुप्त की *प्रयाग प्रशस्ति* में उसके लिये वर्णन हुआ है कि वह ''धनदा (कुबैर), वरूण (समुद्र का देवता), इन्द्र और अन्तक (वाम) जैसे देवताओं के समान था और जिसके समान विश्व में कोई दूसरी विरोधी शक्ति नहीं थी .....''। जिस राजा को *स्मृति* ग्रंथों में दिव्यता का स्तर दिया गया था उसी की भांति पृथ्वी पर गुप्त शासकों को भी देव-तुल्य समझा जाने लगा। कालिदास द्वारा रचित एवं स्मृति साहित्य की भावना के अनुरूप ही स्कन्दगुप्त के भितरी/भीतारी (Bhitari) शिलालेख में उसकी प्रशंसा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में की गई है जिसने ''भीतरी पृथ्वी को विजित किया और जो पराजित लोगों के प्रति दयालु हो गया, लेकिन इन सबसे वह न तो अभिमानी हुआ और न घमंडी, यद्यपि उसकी प्रसिद्धि दिन-प्रति-दिन फैल रही थी''। उसके पिता कुमारगुप्त ने ''धर्म के सत्य मार्ग का अनुसरण किया''। राजा के संबंध में प्रयोग किये गये इन संदर्भों से स्पष्ट है कि यद्यपि राजा के अंतर्गत सर्वोच्च शक्ति निहित थी फ़िर भी उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह धर्म के अनुरूप कार्य करे और उसके कुछ निश्चित कर्त्तव्य भी थेः

- यह राजा का कर्त्तव्य था कि युद्ध और शांति के समय में राज्य की नीति को निश्चित करे। जैसे कि स्कन्दगुप्त ने *दक्षिणापथ* के राजाओं को उनके मूल राज्यों में पुनः स्थापित करने में काफ़ी दूरदर्शिता का परिचय दिया।
- किसी भी आक्रमण से अपने देशवासियों की सुरक्षा करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य था।
- युद्ध की स्थिति में राजा सेना का नेतृत्व करता था। इसकी पुष्टि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त-II द्वारा किये गये सैनिक अभियानों से भी होती है।
- राजा *ब्राह्मणों*, श्रमणों और अन्य सब की जिनको उसकी सुरक्षा की आवश्यकता होती थी, मदद करता था।
- वह विद्वानों और धार्मिक लोगों को आश्रय देता था और हर संभव सहायता भी करता था।
- उसके सर्वोच्च न्यायाधीश होने के कारण वह न्याय प्रशासन की देखभाल धार्मिक नियमों एवं विद्यमान रीतियों के अनुरूप करता था।

- अपने केन्द्रीय एवं प्रांतीय अधिकारियों की नियुक्ति करना भी उसका कर्त्तव्य था।
- *प्रयाग प्रशस्ति* और कुमारगुप्त-I के *अप्रतिध* किस्म के सिक्कों से स्पष्ट है कि राजा अपने शासन काल में ही अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत करता था।

इस काल की एक महत्वपूर्ण राजनैतिक घटना यह थी कि वे सभी राजा अपने शासन को अपने-अपने क्षेत्रों में जारी रख सके जिन्होंने गुप्त राजा के सामंतीय आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था और गुप्त राजाओं ने इस प्रकार के क्षेत्रों के प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

2.2.2 मंत्रि-परिषद और दूसरे अधिकारीगण

गुप्त अभिलेखों से मंत्रियों की श्रेणीबद्धता के विषय में कोई स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं होती। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुप्त राजा मंत्रियों से सलाह करते थे और सभी महत्वपूर्ण मामलों पर अपने अधिकारियों को लिखित संदेश जारी करते थे।

मंत्री का पद संभवतः पैतृक था। जैसा कि चन्द्रगुप्त-II का उदयगिरी अभिलेख हमें सूचना देता है कि युद्ध और शांति के मंत्री वीरसेन ने इसे अपने पैतृक अधिकार के रूप में प्राप्त किया था। यद्यपि सर्वोच्च न्यायिक शक्तियां राजा में निहित थी फ़िर भी न्यायिक मामलों में उसकी सहायता *महादण्डनायक* (मुख्य न्यायाधीश) नाम का अधिकारी करता था। प्रांतों में यह कार्य *उपारिकों* एवं जिला स्तर पर *विषयपतियों* द्वारा किया जाता था। गांवों में मामूली मामलों को गांव के मुखिया और बुजुर्गों द्वारा निर्णीत किया जाता था। चीनी यात्री फाह्यान के वृतान्त के अनुसार मृत्युदंड बिल्कुल भी नहीं दिया जाता था।

कुछ अन्य भी बड़े अधिकारी थे। जैसे कि *महाप्रतिहार* महल के रक्षकों का उच्च अधिकारी होता था। *प्रतिहार* अधिकारीगण उत्सवों का आयोजन करते थे और शाही लोगों को उपस्थित रहने की अनुमति देते थे। प्रारंभिक समय की भांति इस समय भी गुप्तचर-प्रणाली अस्तित्व में थी। भूमिदान से संबंधित अभिलेखों में *दूतक* नाम के अधिकारियों का विवरण आया है जिनका मुख्य कार्य था कि जो भूमि *ब्राह्मणों* और अन्य लोगों को दान में दी जाती थी उस दान को लागू करना।

2.2.3 सेना

गुप्त शासकों के पास एक बड़ी सेना का संगठन था। युद्ध के समय सेना का नेतृत्व राजा स्वयं करता था परंतु साधारणतः सेना का एक मत्री था जिसको *संधि-विग्रहिका* (शांति और युद्ध के अभिभार वाला मंत्री) कहा जाता था। इस मंत्री की सहायता उच्च अधिकारी करते थे। बहुत से अभिलेखों में औपचारिक उपाधि *महाबलाधिक्रिता* का उपयोग हुआ है। उसके अंतर्गत *पिलुपति* (हाथियों का प्रमुख), *अश्वपति* (घोड़ों का प्रमुख), *नरपति* (पैदल सेना का प्रमुख) जैसे अधिकारीगण कार्य करते थे। सेना को वेतन नकद के रूप में दिया जाता था और इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक अधिकारी को भी नियुक्त किया गया जिस पर भंडार गृह का अभिभार होता था तथा जिसे *रणभण्डारिका* कहते थे। इस अधिकारी के अन्य कर्त्तव्य थे आक्रमण एवं सुरक्षा के लिये सेना को हथियारों की आपूर्ति जारी करना, जैसे कि युद्ध कुल्हाड़ियां, धनुष-कमान, नोकदार भाले, तलवारें, बर्छियां एवं लम्बे नुकीले भाले आदि।

2.2.4 राजस्व प्रशासन

जुर्माने के अतिरिक्त भू-राजस्व राज्य की आमदनी का मुख्य साधन था। समुद्रगुप्त के समय में एक अधिकारी *गोपासरमिण* का उल्लेख मिलता है जो *अक्षपातलाधिकृता* के रूप में कार्य

कर रहा था। इसके विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्य थे। यह खातों की देखभाल करता था, कर्मचारियों की सुरक्षा निधियों से शाही देनदारी को वसूल करता था, कृषि लाभ का निर्धारण करता था और अवहेलना या धोखाधड़ी से होने वाली हानि के लिये जुर्माने की वसूली करता था।

दूसरा महत्वपूर्ण उच्च अधिकारी *पुस्तपाल* (लेखा-जोखा रखने वाला अधिकारी) था। किसी भी लेन-देन को अंकित करने से पूर्व उसकी उचित जानकारी प्राप्त करना उसका कर्त्तव्य था। गुप्त शासकों ने भूमि की उचित जानकारी एवं नाप के लिये एक स्थायी विभाग बनाया हुआ था तथा यही विभाग भू-राजस्व को एकत्रित करने का भी काम करता था। कामन्दक *नीतिसार* में बताता है कि एक राजा को अपने खज़ाने की उचित देखभाल करनी चाहिए, क्योंकि राज्य का जीवन पूर्णतः इस पर टिका होता है।

कालिदास एवं *नारद-स्मृति* के लेखक दोनों यह बताते हैं कि राज्य को कृषि उत्पाद के 1/6 भाग को शाही राजस्व के लिए प्राप्त करना चाहिए। इनके अतिरिक्त *उपरिकर* भी था जिसे कपड़े, तेल आदि पर लगाया जाता था। व्यापारियों के संगठन को व्यापारिक कर (*शुल्क*) देना होता था। यदि कोई व्यापारी संगठन इसकी अदायगी को रोकता था तो उसके व्यापार करने के अधिकार पत्र को रद्द कर दिया जाता था या उसे अपने मूल व्यापारिक कर का आठ गुना अदा करना होता था। राजा को बेगार कराने का अधिकार था जिसको *विष्टि, बलि* आदि अनेक रूपों में किया जाता था। जंगलों एवं शाही भूमि से होने वाली आय को राजा की व्यक्तिगत आय माना जाता था। इसके अतिरिक्त, राजा के कोष को यह अधिकार था कि कुछ बहुमूल्य पदार्थों, वस्तुओं (जैसे कि सिक्कों, आभूषणों, अन्य अति महत्वपूर्ण पदार्थों, अकस्मात् ज़मीन के अंदर से खोजा गया खज़ाना आदि), खानों की खुदाई एवं नमक निर्माण को भी अपने अधीन कर सकता था।

2.2.5 प्रान्त, जिला और ग्राम

संपूर्ण साम्राज्य को *देशों* या *राष्ट्रों* या *भुक्तियों* में विभाजित किया गया था। अभिलेखों में हमें कुछ *भुक्तियों* के नाम भी मिलते हैं। बंगाल में *पुण्ड्रवर्धन भुक्ति* था जिसके अंतर्गत उत्तरी बंगाल का क्षेत्र आता था। *तिर-भुक्ति* उत्तरी बिहार में था। *भुक्तियों* पर राजा द्वारा नियुक्त किये गये *उपारिकों* द्वारा सीधे-सीधे शासन किया जाता था। कुमारगुप्त-I के समय में पश्चिमी मालवा में स्थानीय शासक बन्धुवर्मन सहायक शासक के रूप में शासन कर रहा था। लेकिन सौराष्ट्र में पर्णदत्त को स्कन्दगुप्त के द्वारा नियंत्रक (governor) नियुक्त किया गया था।

प्रांत *(भुक्ति)* को पुनः जिलों (*विषयों*) में विभाजित किया गया था जो *आयुक्तक* नामक अधिकारी के अधीन होते थे और कहीं-कहीं पर उसे *विषयपति* भी कहा जाता था। उसे प्रांतीय नियंत्रक के द्वारा नियुक्त किया जाता था। बंगाल से प्राप्त हुए गुप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि जिला कार्यालय *(अधिकरण)* के अधिकारी स्थानीय बड़े समुदाय के *भुक्तियों* से ही संबंधित थे। जैसे कि *नगरश्रेष्ठि* (नगरीय व्यापारी समुदाय का प्रमुख), *सर्थवाह* (कारवों का नेता), *प्रथमा-कुलिक* (कारीगर समुदाय का प्रमुख)। इनके अतिरिक्त *पुस्तपाल* नाम के भी अधिकारी थे जिनका मुख्य कार्य प्रबंध करना एवं तथ्यों का रख-रखाव करना था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गांव था। ग्राम के मुखिया को *ग्रामपति* या *ग्रामाध्यक्ष* कहते थे। बंगाल से प्राप्त हुए गुप्त अभिलेखों से पता लगता है कि प्रशासन की एक इकाई गांव से भी कुछ बड़ी थी। कुछ उदाहरणों से हमें *अष्टकुलाधिकरण* का संदर्भ मिलता है। विभिन्न *श्रेणी* वाले, जैसे कि *ग्रामिक, कुटुम्बकी* और *महत्तर,* उप कार्यालयों को अपने प्रतिनिधि भेजते थे। विभिन्न अवसरों पर गांव से उपर के स्तर पर कार्य खेती-बाड़ी करने वालों के

अतिरिक्त गांव के समाज में अन्य दूसरे लोग भी करते थे जो बढ़ईगिरी, कताई-बुनाई, बर्तन बनाने, तेल निकालने, सुनारगिरी और बाग़बानी आदि व्यावसायिक कार्यों को करते थे। ये सभी समूह स्थानीय संस्थाओं एवं संगठनों को बनाते थे जो गांव के मामलों की देखभाल करते थे। ग्रामीण झगड़ों का भी निपटारा इन संस्थाओं के द्वारा ग्राम-वृद्धों या बुजुर्गों की सहायता से किया जाता था।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित में से कौन-कौन से कथन सही (✓) एवं गलत (×) हैं?

   अ) गुप्त शासकों के अंतर्गत राजा केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गया था। ( )

   ब) युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व करता था। ( )

   स) *महादण्डनायक* राजस्व मंत्री था। ( )

   द) उत्पाद का 1/6 भाग शाही राजस्व के लिये वसूला जाता था। ( )

   त) प्रशासन की सर्वोच्च इकाई गांव था। ( )

2) गुप्त शासकों के राजस्व प्रशासन पर लगभग पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) राजा की शक्तियों एवं कर्त्तव्यों के विषय में पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.3 अर्थव्यवस्था

आप प्रारम्भ में ही पढ़ चुके हैं कि कृषि के उत्पाद ही प्रमुख संसाधनों का निर्धारण करते थे, जिनका उत्पादन समाज के द्वारा किया जाता था और राजस्व का बड़ा भाग कृषि से ही आता था। परंतु इसका तात्पर्य यह कतई भी नहीं है कि केवल कृषि ही लोगों का व्यवसाय था या लोग केवल गांवों में ही रहते थे। व्यापार एवं दस्तकारी वस्तुओं का उत्पादन जैसे दूसरे व्यवसाय भी थे जो विशेषज्ञ व्यवसाय हो चुके थे। इनमें विभिन्न गुट संलग्न थे। इसका यह तात्पर्य होता है कि, जैसे कि प्रारम्भिक काल में भी हुआ, लोग जंगलों, कृषि क्षेत्रों, नगरों एवं शहरों में रहते थे, परन्तु आर्थिक उत्पादन के तरीकों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन प्रारम्भ हो चुके थे और जिनके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न गुटों के सम्बन्धों में भी परिवर्तन हुआ। अब अगले भाग में हम इन परिवर्तनों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

2.3.1 कृषि

सबसे पहले हम कृषि उत्पादन के प्रतिमान के विषय में लिखेंगे। कृषि उत्पादन का समाज के साथ क्या रिश्ता था, यह गुप्त काल के उन स्रोतों से स्पष्ट है जिनमें कृषि सम्बन्धी क्रिया कलापों के बहुत से पक्षों का विवरण किया गया है। अभिलेखों में कई किस्म की भूमि की चर्चा हैः जैसे कि जिस भूमि पर खेती की जाती थी उसको *क्षेत्र* कहा गया है। जो भूमि कृषि योग्य नहीं होती थी उसको *खिला, अपरहत* आदि नामों से जाना जाता था और अभिलेखों से यह भी संकेत मिलता है कि खेती न की जाने वाली भूमि को लगातार खेती करने के अनार्जन लाया जाता था। भूमि का उसकी किस्म, उर्वरकता और उपयोगिता के आधार पर कोई वर्गीकरण गुप्त काल में किया गया हो, इसके प्रमाण नहीं मिलते। भूमि के नाप के लिये विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तौर तरीकों को अपनाया गया, इसके बावजूद भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमुक नाप वास्तव में क्या इंगित करता है। कुछ क्षेत्रों में भूमि के नाप के लिये *निवार्तन* प्रणाली का उपयोग किया जाता था जबकि बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में भूमि के क्षेत्र को नापने के लिये *कुल्यावाप* और *द्रोणवाप* प्रणालियों का प्रयोग किया गया। फसलों के उत्पादन के अनुसार क्षेत्रों का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। लेकिन बड़ी श्रेणियों की अन्न से सम्बन्धित फसलों, जैसे कि जौ, गेंहू और धान, विभिन्न किस्म की दालें एवं चना और सब्ज़ियों तथा इन्हीं की तरह नकदी फसलें जैसे कि कपास और गन्ना की पैदावार के विषय में हम गुप्त काल के पूर्व से भी जानते हैं और इनकी पैदावार इस काल में भी जारी थी। लेकिन इससे यह नहीं समझा जाना चाहिये कि गुप्त काल में किसानों को मक्का जैसे अनाज की फसल, आलू एवं टमाटर जैसी सब्ज़ियों की जानकारी थी।

कृषि-उत्पाद समाज के लिये कितना आवश्यक था इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि इस समय सिंचाई को कितना अधिक महत्व दिया गया था। प्रारंम्भिक इकाइयों में आपने गुजरात में सौराष्ट्र क्षेत्र में स्थित सुदर्शन झील (*तडाग*) के विषय में पढ़ा। मूलरूप से इस झील का निर्माण मौर्यकाल के दौरान किया गया था। इस झील की पुनः मरम्मत तब की गई जब वह पूर्णतः क्षतिग्रस्त हो गई थी। यह स्कन्दगुप्त के समय फ़िर क्षतिग्रस्त हो गई और उसके नव-नियुक्त सौराष्ट्र के नियंत्रक पर्णदत्त और बाद में पर्णदत्त के पुत्र चक्रपलित ने पुनः इसकी मरम्मत करायी। सिंचाई के दूसरे साधन कुंए थे और सुव्यवस्थित ढंग से निर्मित नालियों की सहायता से इन कुंओं के द्वारा खेतों की सिंचाई की जाती थी। संभवतः गुप्त काल से भी पूर्व इस संबंध में एक यांत्रिकी जानकारी उपलब्ध थी, जिसके अनुसार कुछ बर्तनों की एक जंजीर होती थी और इस जंजीर को नीचे पानी के तल तक पहुंचाया जाता और इन बर्तनों की जंजीर को नीचे से भरकर निकालकर खाली कर दिया जाता। इसकी इस प्रकार से व्यवस्था की गई थी कि ये बर्तन पानी से भरकर जंजीर के द्वारा लगातार बाहर आते रहे और खाली होते रहे। सिंचाई करने के लिये अपनाये गये इस तरीके को *घटी-यंत्र* के नाम से जाना जाता था क्योंकि *घटी* शब्द का प्रयोग इस बर्तन के लिये किया गया। इस प्रकार के यंत्र को *अरघट्ट* के नाम से भी जाना गया। सातवीं शताब्दी सी.ई. में बाण भट्ट के द्वारा रचित पुस्तक *हर्षचरित* में खेतों की सिंचाई का बड़ा ही रोचक वर्णन है। उसमें वर्णित है कि गन्ने की फसलों की किस भांति से *घटी-यंत्र* के द्वारा सिंचाई की जाती थी। बंगाल जैसे क्षेत्रों में वर्षा के पानी को गढढों आदि में संग्रहित किया जाता था और प्रायद्वीपीय भारत में तालाब से सिंचाई करने की प्रथा सामान्य बात हो गई थी। इस प्रकार, सिंचाई के लिये विभिन्न प्रकार की प्रणालियों का प्रचलन था और किसानों को सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराने में राज्य का मामूली योगदान ही था। इसके बावजूद भी किसान सिंचाई के लिए मुख्य रूप से वर्षा पर ही निर्भर करते थे और इसी कारणवश न केवल कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में बल्कि गुप्त काल में लिखे गये अन्य ग्रंथों में भी वर्षा के महत्व के विषय में लिखा गया है।

गुप्त काल के स्रोतों से पता लगता है कि इस समय में कृषि समाज में कुछ निश्चित महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। गुप्त काल के कुछ ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनके अनुसार कुछ लोगों ने भूमि को नकद खरीदकर फ़िर इस खरीदी गई भूमि को उन *ब्राह्मणों* को भेंट कर दिया जिनसे आशा की गई थी कि वे उनके लिए वैदिक बलि का आयोजन करेंगे या कई बार इस प्रकार की भूमि जैन या बौद्ध मठों को भी दान में दी गयी। अब न केवल भूमि को खरीदा और दान में दिया जाने लगा बल्कि धार्मिक लोगों को भूमि के दान में या भेंट में देना एक सामान्य प्रथा बन गई। इसके अतिरिक्त जो अधिकारी गण किसी न किसी रूप में शासकों की सेवा में संलग्न थे उनको भी अपनी सेवा के बदले में भूमि के बड़े-बड़े टुकड़े प्राप्त होने लगे। यद्यपि यह कोई पूर्णतः नयी बात नहीं थी। इस समय में शासक परिवारों की संख्या में बड़ी तेज़ी के साथ वृद्धि हुई जिसके कारण भूमि को प्राप्त करने वालों की संख्या में भी वृद्धि हुई परन्तु उस पर खेती-बाड़ी का कार्य वे स्वयं नहीं करते थे। भूमि दान करने वालों की भरपूर प्रशंसा की गई और जो कोई दान की गई भूमि को ग्रहण करता था उसके लिए भंयकर परिणामों की धमकी दी जाती थी। इन सब का अन्ततः यह परिणाम हुआ कि समाज में एक ऐसे वर्ग की उत्पत्ति हुई जिसको भूमि पर उच्च स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हो गये और समाज में उसका संबंध उच्च वर्णों के साथ होने के कारण उसे उच्च आर्थिक एवं सामाजिक दर्जा प्राप्त हुआ। यद्यपि यह भी सत्य है कि भूमि के मालिकाना अधिकार उन्हीं को ही नहीं थे जिन्होंने भूमि को दान में प्राप्त किया था। गुप्त अभिलेखों में ऐसे विभिन्न ग्रामवासियों को उद्धृत किया गया है जैसे कि *ग्रामिक, कुटुम्बिक* और *महत्तर* जिनका ग्रामीण भूमि पर अधिकार था और इनके भूमि के लेन-देन में संलग्न होने से यह स्पष्ट है कि वे भी ग्रामीण समाज के महत्वपूर्ण सदस्य थे।

शासकों से भूमि प्राप्त करने वालों और गांवों के प्रभावशाली भूमि स्वामियों के वर्गों के साथ साधारण किसानों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि इन साधारण कृषकों की दशा बड़ी खराब रही होगी। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मानना है कि भूमि दान की प्रथा के कारण संपूर्ण किसान आबादी का स्तर समाज में काफ़ी नीचे गिर गया था। परन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है। ये छोटे-छोटे किसान ही थे जिनको विभिन्न नामों जैसे कि *कृषिबाल, कर्षक, किन्नस* आदि नामों से जाना जाता था और जिनका सामाजिक एवं आर्थिक स्तर निम्न था। वास्तविक खेती करने वाले लोगों के बीच एक ऐसा भी वर्ग था जो केवल दूसरों की ज़मीन पर खेती करता था और उसके बदले में उसके उत्पाद का एक भाग उसे प्राप्त होता था। इस समय में दासों का भी प्रचलन था जो अपने स्वामी के खेतों में काम करते थे। घरेलू महिला दासों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया जाता था और हमें *कामसूत्र* से पता लगता है, जो संभवतः गुप्त काल में ही लिखा गया, कि किस प्रकार से अपने स्वामियों के द्वारा इन महिला दासों का उत्पीड़न किया जाता था।

साधारण किसान की हालत क्यों खराब हुई इसके दूसरे अन्य भी कारण थे। एक यह भी था कि कई सारे क्षेत्रों में छोटे-छोटे राज्यों का उद्भव हुआ। इन राज्यों के नये-नये शासकों, अधिकारियों और जनता के कुछ ऐसे लोगों ने जो कृषि कार्यों में भाग नहीं लेते थे, समाज में असमानता को पैदा किया और वास्तविक खेती-बाड़ी करने वालों पर इन्होंने और अधिक भार डाल दिया। इस काल में उत्पादन करने वालों पर राज्य के द्वारा लगाये जाने वाले करों में और अधिक वृद्धि हो गई। इस काल में *विष्टि* या बेगार में और अधिक वृद्धि हुई यद्यपि हमें यह स्पष्ट जानकारी नहीं है कि कृषि वृद्धि उत्पादन के लिए कितनी आवश्यक थी। कुल मिलाकर इस काल में पहले की अपेक्षाकृत साधारण किसान की दशा और भी बिगड़ गई।

2.3.2 दस्तकारी उत्पादन और व्यापार

दस्तकारी उत्पादन के अन्तर्गत अनेक वस्तुयें आती थीं। इसके अन्तर्गत घरेलू उपयोग की वस्तुयें जैसे कि मिट्टी के बर्तन, असबाब (furniture) की चीज़ें, टोकरियां, घरेलू उपयोग के लिए धातु के औज़ार आदि-आदि आती थीं और इसी के साथ-साथ विलासिता की वस्तुयें भी दस्तकारी उत्पादन के अन्तर्गत आती थीं जैसे कि सोने, चांदी एवं मूल्यवान पत्थरों से बने आभूषण, हाथी दांत की बनी चीज़ें, शानदार किस्म के सूती एवं रेशमी कपड़ें और वे महंगी वस्तुएं जिनका उपयोग समाज के सम्पन्न लोग करते थे। इनमें से कुछ वस्तुओं को व्यापार के माध्यम से उपलब्ध कराया जाता था तो कुछ का स्थानीय स्तर पर उत्पादन भी किया जाता। उत्खनन के द्वारा जो वस्तुएं प्राप्त हुई हैं उनमें विलासिता की वस्तुएं नहीं मिली हैं परन्तु इन वस्तुओं का विवरण साहित्यिक ग्रंथों और अभिलेखों में पाया जाता है। इन स्रोतों में विभिन्न श्रेणियों के दस्तकारों का भी उल्लेख है और *क्षौम* और *पट्टवस्त्र* के नाम के सूती वस्त्रों का भी उल्लेख है। पश्चिमी मालवा में मंदसौर से प्राप्त एक अभिलेख में रेशम के कपड़े बनाने वालों की एक श्रेणी का उल्लेख है जो गुजरात प्रदेश को छोड़कर मालवा के क्षेत्र में आकर बस गये थे। *अमरकोश* और *बृहत् संहिता* जैसे ग्रंथों में, जो संभवतः गुप्त काल में लिखे गये थे, संस्कृत भाषा में ऐसी बहुत सी वस्तुओं के नाम दिये गये हैं और इसी के साथ-साथ इन ग्रंथों में उन दस्तकारी की कई श्रेणियों का उल्लेख किया गया है जो इनका निर्माण करते थे।

इस काल में निर्मित की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा एवं किस्मों को जानने के लिये खुदाई वाले स्थलों से पायी जाने वाली वस्तुओं का अध्ययन करना होगा। बहुत से महत्वपूर्ण स्थानों से जैसे तक्षशिला, अहिछत्र, मथुरा, राजघाट और गंगा घाटी में स्थित पाटलिपुत्र तथा दूसरे भौगोलिक क्षेत्रों में स्थित प्राचीन स्थलों की खुदाई से मिट्टी के मृद्भांड, परिकोटे, विभिन्न प्रकार के पत्थरों की मालाएं, कांच की वस्तुयें, धातु की बनी वस्तुएं आदि प्राचीन दस्तकारी के उत्पादन प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अगर गुप्त काल की दस्तकारी वस्तुओं की तुलना *शक* एवं कुषाण काल में बनी दस्तकारी वस्तुओं के साथ की जाये, तो गुप्त काल में दस्तकारी का कुछ ह्रास हुआ। परन्तु इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अभी इन दोनों कालों का तुलनात्मक अध्ययन करना संभव नहीं है।

सभी वस्तुयें सभी स्थानों पर उपलब्ध नहीं होती थीं इसलिये पहले समय की भांति ही व्यापार के द्वारा ये वस्तुयें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचती थी। आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि भारत के केन्द्रीय, पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी एशिया एवं रोम साम्राज्य के साथ परवर्ती काल से घनिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क था और देश के अन्दर भी कई सदियों में विभिन्न क्षेत्रों के बीच व्यापारिक मार्ग विकसित हुए थे। इसके भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि गुप्त काल में भी ये व्यापारिक गतिविधियां जारी थीं। अपने परवर्ती कुषाण शासकों की भांति गुप्त राजाओं ने भी विभिन्न प्रकार के सिक्कों को जारी किया और गुप्त शासकों के सोने के सिक्के सर्वश्रेष्ठ दस्तकारी के नमूने हैं। गुप्त शासकों ने चांदी, तांबे एवं सीसे के सिक्कों को भी जारी किया। गुप्त साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों में इन सिक्कों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। उदाहरणार्थ, उत्तरी बंगाल के जिला मुख्यालय के साथ दो व्यापारिक प्रतिनिधि *नगरश्रेष्ठि* और *सार्थवाह* संबंधित थे। उत्तरी बिहार में वैशाली से प्राप्त गुप्त शासकों की मोहर से पता लगता है कि वैशाली नगर की जनसंख्या में व्यापारिक समुदाय का महत्वपूर्ण स्थान था। इस समय के साहित्यिक ग्रन्थों से स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र एवं उज्जैनी जैसे नगरों में व्यापक स्तर पर व्यापारिक गतिविधियाँ होती रहती थीं और इन नगरों में विभिन्न देशों के लोग उपस्थित रहते थे। व्यापारिक लोग इन नगरों में महत्वपूर्ण समुदाय थे।

इन नगरों में दस्तकारों और व्यापारियों के कार्यों को सुविधापूर्वक चलाने के लिये इनके अपने संगठन थे। इन संगठनों के लिये जो प्राचीन शब्द प्रयोग किया जाता था उसे *श्रेणी* कहते थे। राज्य इन *श्रेणियों* को सुरक्षा प्रदान करता था और इनके नियमों एवं रीतियों का उचित सम्मान किया जाता था। इसी प्रकार *श्रेणियों* के सदस्यों से यह आशा की जाती थी कि वे भी इन संगठनों के नियमों का पालन करें अन्यथा अवेहलना करने पर उन्हें दण्ड दिया जाता। *श्रेणी* शब्द को व्यापारियों एवं दस्तकारों के संगठन के रूप में परिभाषित किया गया है परन्तु इस शब्द की अन्य परिभाषायें भी दी गई हैं और इसका विस्तृत अध्ययन भी किया गया है परन्तु हम अभी भी निश्चय के साथ यह नहीं कह सकते कि इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था।

यद्यपि गुप्त काल में दस्तकारी का काम और व्यापार काफ़ी सक्रिय था परन्तु इस संदर्भ में दो तथ्यों को विशेषकर याद रखना चाहिये :

1) उस समय कई प्रकार के दस्तकार लोग थे परन्तु उनकी न तो आर्थिक संपन्नता के रूप में कोई पहचान थी और न ही सामाजिक स्तर के रूप में। उदाहरणार्थ, उज्जयिनी जैसे शहर में एक सुनार और उसके परिवार तथा गाँव में टोकरी बनाने वाले एक परिवार के बीच काफ़ी अंतर था। यह अंतर उन *धर्मशास्त्रों* से भी स्पष्ट होता है जिनको *ब्राह्मणों* ने लिखा था। *धर्मशास्त्रों* में दस्तकारों के विभिन्न वर्गों का स्पष्ट उल्लेख है परन्तु फ़िर भी समाज में उनका स्थान *ब्राह्मणों, कायस्थों* एवं *वैश्यों* से नीचा था। *धर्मशास्त्रों* में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक दस्तकार गुट से एक *जाति* बनती थी, जैसे कि बर्तन बनाने वाले दस्तकारों से कुम्हार *जाति* बनी तथा स्वर्णकारों या सुनारों से एक दूसरी *जाति* की उत्पत्ति हुई और इस प्रकार से इन दस्तकार समूहों से उनकी अनेक *जातियां* बनीं। यद्यपि *जाति* व्यवस्था इतनी सरल नहीं थी इसके बावजूद जो जिस प्रकार की दस्तकारी का काम करता था उन लोगों द्वारा उसी प्रकार की *जाति* बनी।

2) कुछ क्षेत्रों में गुप्त शासकों के काल में ही संभवतः दस्तकारी उत्पादन एवं व्यापारिक गतिविधियों का ह्रास होना प्रारंभ हो गया था और कुछ इतिहासकारों का मानना है कि इसी के साथ-साथ नगरों एवं शहरों का भी पतन प्रारंभ हो गया। जिसके कारण समाज की निर्भरता कृषि-उत्पादन पर और अधिक बढ़ने लगी। इन परिवर्तनों के विषय में आपको अधिक जानकारी बाद की इकाइयों में प्राप्त होगी।

बोध प्रश्न 2

1) रिक्त स्थानों को भरिये।

   अ) खेती-बाड़ी की जाने वाली भूमि को ..... (*खिला/क्षेत्र*) कहा जाता था।

   ब) धार्मिक दान प्राप्तकर्ताओं को भूमि उपहार स्वरूप देने की परंपरा .... (प्रथम शताब्दी सी.ई./पांचवी-छठी शताब्दी सी.ई.) ..... में सामान्य (हो चुकी थी/बिल्कुल भी नहीं थी)।

   स) इस काल के दौरान छोटे जोतदार ..... (काफ़ी फले-फूले/कम हुए)।

   द) (स्कन्दगुप्त/पुरूगुप्त) ..... के शासन काल में सुदर्शन झील की मरम्मत की गई।

2) इस काल में सिंचाई के लिये अपनाये गये तरीकों के विषय में लगभग पाँच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) उन स्रोतों का विवरण लगभग पांच पंक्तियों में कीजिये जिनमें दस्तकारी एवं दस्तकारों का उल्लेख हुआ है।

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 समाज

आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि *ब्राह्मणों* ने जिस समाज की कल्पना की थी, उस समाज को चार वर्गों (*ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य* और *शूद्र*) में इस ढंग से विभाजित किया गया था कि प्रत्येक *वर्ण* उन कार्यों को सम्पन्न करे जो उसके लिये निर्धारित किये गये थे और केवल वह उन्हीं अधिकारों का उपभोग करे जो उसके लिये बताये गये। यह आदर्श सामाजिक व्यवस्था थी और राज्य से यह आशा की गयी कि वह इसको सुरक्षित रखे। इसका अर्थ यह हुआ कि देश के किसी भी कोने में जब कभी भी किसी छोटे राज्य का उदय हुआ तो उस राज्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह इसकी मान्यता एक आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में करे। गुप्त काल से ही *ब्राह्मण* लोग राजा पर काफ़ी प्रभाव डालने लगे थे। यह इससे भी स्पष्ट है जिस ढंग से वे राजाओं व दूसरों से भूमि को उपहार के रूप में प्राप्त करने लगे थे। राजाओं एवं अधिकारियों ने न केवल *ब्राह्मणों* को व्यक्तिगत स्तर पर भूमि का उपहार स्वरूप भेंट किया बल्कि *ब्राह्मणों* के बड़े-बड़े समूहों को दूर-दराज के क्षेत्रों में भी बसाया गया। इस प्रकार, बहुत सी *ब्राह्मण* बस्तियों को *ब्रह्मदेय, अग्रहार* कहा जाने लगा और उनकी संख्या भी बढ़ने लगी। दूसरी अन्य बातों के साथ-साथ उन्होंने *वर्ण* विभाजित समाज व्यवस्था के विचार को भी फैलाना प्रारंभ कर दिया।

वर्ण व्यवस्था के आदर्श व्यवस्था होने के बावजूद समाज में ऐसे बहुत से गुट थे जिनकी पहचान को *वर्ण* व्यवस्था के विचार द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता था। और ऐसा समझा गया था कि विभिन्न *वर्ण* अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगें परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं किया जा सका। वास्तविक समाज में आदर्श समाज से मूलभूत अंतर होता है और इस अंतर को *धर्मशास्त्रों* के *ब्राह्मण* लेखकों ने भी रेखांकित किया। इसलिये उन्होंने विभिन्न जातियों की समाज में स्थिति निश्चित करने के लिये इन जातियों की उत्पत्तियों के संबंध में झूठी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। उनका कहना है कि बहुत सी जातियों और गुटों की उत्पत्ति बहुत से *वर्णों* के आपसी *वर्ण-संकर* अर्थात या उनमें आंतरिक विवाहों के कारण

हुई। गुप्त काल से पूर्व के यूनानी या सीथियन विदेशी शासक परिवारों से संबंधित लोगों को सहायक-क्षत्रिय (*व्रत्य-क्षत्रिय*) का स्तर प्रदान कर दिया गया था क्योंकि उनकी उत्पत्ति को शुद्ध क्षत्रियों में नहीं माना गया। इसी भांति से उन कबीलाई गुटों की उत्पत्तियों के विषय में भी झूठी व्याख्यायें दी गईं जिन्होंने ब्राह्मणिक सामाजिक व्यवस्था की स्वीकार लिया था।

धर्मशास्त्रों में *अपधर्म* की बात की गई है अर्थात् दरिद्रता के समय में जो व्यवहार किया जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि जब भी आवश्यक हो *वर्ण* उन कार्यों एवं कर्त्तव्यों को भी कर सकते थे जिनको उनके लिये आवंटित नहीं किया गया था। इस प्रकार *धर्मशास्त्रों* के अनुसार भी वास्तविक समाज उनके द्वारा कल्पित किये गये आदर्श समाज से भिन्न था। इन परिवर्तनों का प्रारंभ गुप्त काल से काफ़ी पहले प्रारंभ हो चुका था, परन्तु ब्राह्मणिक समाज की अवधारणा का भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य भागों में प्रचार हो जाने के कारण सामाजिक व्यवस्था काफ़ी जटिल हो गई थी। इस नवीन सामाजिक व्यवस्था में बहुत से सामाजिक गुट समाहित हो चुके थे परन्तु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में वास्तविक समाज व्यवस्था भिन्न-भिन्न थी, फ़िर भी इनमें कुछ निश्चित विचार सामान्य रूप से व्याप्त थेः

- *ब्राह्मणों* की पहचान समाज के श्रेष्ठतम वर्ग के रूप में की गई इसलिये उन्हें उच्चतम *वर्ण* में रखा गया। ये लोग संस्कृत भाषा को भली-भांति जानते थे और धार्मिक अनुष्ठानों को पूर्ण करते थे जिसके कारण उनके राज सत्ता के साथ निकटतम संबंध कायम हो गये। स्थिति यह थी कि जब राजा बौद्ध, जैन एवं अन्य विशेष धर्मों के समर्थक थे तब भी उन्होंने *ब्राह्मणों* को संरक्षण प्रदान किया जो विशेष विद्वान थे। इसी के कारण *ब्राह्मण* लोग आर्थिक रूप से सम्पन्न एवं सम्माननीय थे।

- सैद्धान्तिक तौर पर समाज चार वर्णों में विभाजित था, परन्तु ऐसे बहुत से गुट थे जो इस योजना से बाहर थे। वे *अंत्यज* (अछूत) थे। उनको अशुद्ध माना गया। यदि कोई उनसे छू जाता तो वह भी अशुद्ध हो जाता और जिन इलाकों में उच्च *वर्ण* के लोग रहते थे उन इलाकों में उनके आवागमन को मना कर दिया जाता था। *चण्डाल* और *चर्मकार* जैसे गुटों को अपवित्र माना गया और *जाति* व्यवस्था से बाहर रखा गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मणिक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक सामाजिक गुटों की हालत सदैव दरिद्र बनी रही।

- उच्च वर्गों की महिला वर्ग की हालत भी निम्न थी। इस काल में भी वाकाटक रानी प्रभावती गुप्त जैसी महिलाओं के पास काफ़ी शक्ति थी, परन्तु सभी महिलाओं को यह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। *ब्राह्मण* ग्रंथों में महिलाओं के अनुसरण करने योग्य नियमों का उल्लेख किया गया और उनसे आशा की जाती थी कि वे उनका अनुसरण करेंगी और वे परिवार में आदर्श पत्नियां एवं मातायें बनेंगी। कुछ *ब्राह्मण* ग्रंथों में महिलाओं की सामाजिक स्थिति को *शूद्रों* के समक्ष ही माना गया है। यह भी तथ्य महत्वपूर्ण है कि *ब्राह्मणों* को लगातार भूमि को दान में दिया गया परन्तु हमें इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है कि *ब्राह्मण* महिलाओं को कभी भी भूमि प्रदान की गई हो।

सामाजिक जीवन का एक दूसरा पक्ष यह है कि नगरों में रहने सम्पन्न लोगों और ग्रामवासियों की जीवन शैली में काफ़ी अंतर था। नगरों में रहने वाले आदर्श लोगों को *नगरक* कहा जाता था जिसका तात्पर्य यह हुआ कि उनका जीवन सम्पन्न था और वे खुशहाल एवं शानदार सभ्य जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार के जीवन का विवरण न केवल वात्स्यायन के *कामसूत्र* ग्रंथ में मिलता है बल्कि इस काल के अन्य साहित्यिक ग्रंथों में भी हुआ है। इसके बावजूद भी यह समझना गलत होगा कि नगरों में रहने वाले सभी लोग इस भांति के जीवन को व्यतीत करने में सक्षम थे।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित कथनों में से कौन सा सही (✓) और कौन सा गलत (×) है?

   अ) गुप्त काल से राजाओं पर *ब्राह्मणों* का काफ़ी प्रभाव बनने लगा था। ( )

   ब) गुप्त काल में वास्तविक समाज आदर्श समाज से भिन्न था। ( )

   स) *अन्तयज वर्ण* व्यवस्था की सबसे ऊंची इकाई थी। ( )

   द) नगरों में रहने वाले लोगों और गांव में रहने वालों का जीवन समान था। ( )

2) *वर्ण* व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का विवरण पांच पंक्तियों में कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2.5 संस्कृति[1]

गुप्त काल को अक्सर सांस्कृतिक विरासत के कारण ''स्वर्ण युग'' कहा जाता है। यह कला और वास्तुकला, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में महान उपलब्धियों पर लागू होता है। इस प्रकार, गुप्त युग पिछले ऐतिहासिक काल से, विशेष रूप से भारत के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से, इस समय की कलात्मक और साहित्यक अभिव्यक्तियों द्वारा प्राप्त प्रभावशाली मानकों के कारण एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रस्थान के रूप में सामने आता है। इसी कारण से गुप्तों के सांस्कृतिक विकास और सांस्कृतिक विरासत को इस पाठ्यक्रम में बाद की इकाई 15 में अलग से स्थान दिया गया है।

यह सही कहा गया है कि गुप्त कला प्राचीन भारतीय कला के सर्वोत्तम चरण को दर्शाती है। वास्तुकला के दृष्टिकोण से गुप्त काल रचनात्मक उत्साह तथा सुंदरता की गहरी भावना और जागरूकता को दर्शाता है। यह तथ्य झाँसी जिले (उत्तर प्रदेश) के देवगढ़ में स्थित *दशावतार* मंदिर, कानपुर (उत्तर प्रदेश) के निकट भीतरगाँव मंदिर, तिगावा (जबलपुर जिला, मध्य प्रदेश) में विष्णु मंदिर, भुमारा (सतना जिला, मध्य प्रदेश) में शिव मंदिर, नचना-कुथारा (पन्ना जिला, मध्य प्रदेश) में पार्वती मंदिर आदि से स्पष्ट होता है। इनमें से कुछ मंदिर सुंदर मूर्तिकला की पट्टिकाओं से सुसज्जित हैं। गुप्तकालीन मंदिर-निर्माण गतिविधि पत्थर को काट कर निर्मित तीर्थ-स्थलों की पूर्व परंपरा के विकास का प्रतिनिधित्व करती है जिसने अब एक नया स्तर प्राप्त किया। हालांकि, मंदिरों के शीर्ष पर ऊँचें और विस्तृत नक्काशीदार *शिखरों* की उपस्थिति का आभास होना अभी बाकी था। इसलिए, गुप्त काल भारत में मंदिर-निर्माण के प्रारंभिक चरण को चिन्हित करता है, लेकिन यह एक महत्वपूर्ण चरण था जो मध्यकाल तक मंदिर-निर्माण को प्रभावित करता रहा।

''शास्त्रीय (Classical) संस्कृत'' के रूप में संदर्भित संस्कृत भाषा का विकास गुप्त काल में हुआ। संस्कृत को अपने दरबार की आधिकारिक/शासकीय भाषा बनाते हुए गुप्त शासकों ने इसे व्यापक संरक्षण प्रदान किया। उनके सभी शिलालेख संस्कृत में लिखे गए हैं। पाली,

[1]इस खंड को डॉ. अभिषेक आनन्द ने लिखा है।

प्राकृत एवं *अर्धमागधि* जैसी मौखिक बोलियों को प्रोत्साहित करने वाली गुप्त काल से पूर्व की बौद्ध और जैन परंपराओं के प्रभाव के कारण संस्कृत भाषा को नज़रअंदाज़ किया गया था। किन्तु गुप्त राजाओं ने अपने काल में इसका पुनरुद्धार किया। उसी के कारण, यह गुप्त काल के दौरान संपूर्ण उत्तर भारत में एक व्यापक भाषा बन गई। यहाँ तक कि बौद्ध विद्वान, विशेषकर *महायान* बौद्ध संप्रदाय के विद्वान, भी अब संस्कृत भाषा में अपने शास्त्रों की रचना करने लगे। संस्कृत के कई महान कवि, नाटककार, व्याकरण के पंडित आदि इसी काल से जाने जाते हैं।

माना जाता है कि **रामायण** और **महाभारत** महाकाव्यों का संकलन तथा उनको अंतिम स्वरूप लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी सी.ई. के दौरान प्रदान किया गया। गुप्त राजा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्नों (नौ रत्नों) में से एक, महान संस्कृत लेखक-कवि कालिदास ने **अभिज्ञानशकुंतलम, मालविकाग्निमित्रम, विक्रमोर्वशीयम** जैसी नाट्य/अभिनय रचनाओं तथा **रघुवंशम, कुमारसम्भवम** और **मेघदूतम** जैसी काव्य कृतियों को लिखा जो गुप्त काल में प्राप्त उत्कृष्ट साहित्यिक मानकों की परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त वराहमिहिर ने **बृहत् संहिता** लिखी जो खगोल विज्ञान और वनस्पति विज्ञान जैसे वैज्ञानिक विषयों से संबंधित है। आर्यभटट् ने **आर्यभट्टीयम** लिखा जो ज्यामिति, बीजगणित, अंकगणित और त्रिकोणमिति पर एक प्रसिद्ध कृति साबित हुआ। चिकित्सा पर उल्लेखनीय कृतियों में **चरक संहिता** और **सुश्रुत संहिता** शामिल हैं। साहित्य के क्षेत्र में एक सर्वांगीण उन्नति इस काल में प्रकट और दृष्टव्य हुई।

2.6 सारांश

इस इकाई में गुप्त प्रशासन, अर्थव्यवस्था और समाज के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गुप्त काल में परवर्ती काल की अपेक्षा काफ़ी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। एक महत्वपूर्ण पक्ष राजतन्त्र से संबंधित है कि जिन क्षेत्रों के राजाओं ने गुप्त राजाओं के सामन्तीय आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था, उनका शासन उन क्षेत्रों में जारी रहा। कृषि उत्पादन पर भी पर्याप्त ध्यान केन्द्रित किया गया और इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस काल में सिंचाई ने प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। भूमि को उपहार स्वरूप धार्मिक वर्गों को देने की प्रथा का प्रचलन सामान्य बात हो गयी थी और *ब्राह्मण* लोग राजाओं पर अपना काफ़ी प्रभाव डालने लगे। कृषि करने वाले लोगों के बीच काफ़ी भिन्नतायें उत्पन्न हो गईं और यदि इनकी तुलना सम्पन्न लोगों के साथ की जाये तो हम पाते हैं कि साधारण किसान की हालत में काफ़ी गिरावट आयी। इसी के समान ही विभिन्न किस्म के दस्तकारों के आर्थिक एवं सामाजिक स्तरों में भिन्नतायें थीं। यद्यपि इस काल में भी व्यापारिक गतिविधियां जारी रहीं परन्तु दस्तकारी उत्पादन में कमी हुई। समाज में *वर्ण* व्यवस्था जारी रही परन्तु इसी के साथ-साथ बहुत से सामाजिक गुटों या समूहों, विशेषकर अछूतों को, *वर्ण* व्यवस्था से बाहर रखा गया। समाज में महिलाओं की स्थिति में भी पर्याप्त गिरावट आयी।

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) × ब) ✓ स) × द) ✓ त) ×

2) कृपया उप-भाग 2.2.4 को देखें।

3) अपने उत्तर का आधार उप-भाग 2.2.1 को बनायें।

बोध प्रश्न 2

1) अ) क्षेत्र ब) हो गया, पांचवी-छठी शताब्दी सी.ई. स) कम होना

द) स्कन्दगुप्त

2) अपने उत्तर का आधार उप-भाग 2.3.1 को बनायें।

3) अपने उत्तर की तुलना उपभाग 2.3.2 के प्रथम व दूसरे अनुच्छेद से करें।

बोध प्रश्न 3

1) अ) ✓ ब) ✓ स) × द) ×

2) अपना उत्तर भाग 2.4 को पढ़कर दें।

2.8 संदर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, अश्विनी, (1980). *राइज़ एण्ड फॉल ऑफ़ इम्पीरियल गुप्ताज़*। दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।

गुप्ता, पी. एल. (1974). *द इम्पीरियल गुप्ताज़*। वाराणसी।

थापर, रोमिला (1990). *ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया*। पेन्गुईन।

इकाई 3 पुष्यभूति एवं हर्ष साम्राज्य का उदय*

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 उत्तर भारत का बदलता राजनैतिक परिदृश्य

- 3.2.1 राजनीतिक केन्द्रों के नये प्रकार : *जयस्कन्धवाड़*
- 3.2.2 कन्नौज नये राजनीतिक केन्द्र के रूप में
- 3.2.3 पाटलिपुत्र का पतन

3.3 पुष्यभूति

3.4 हर्ष की राजनैतिक गतिविधियाँ

- 3.4.1 स्रोत
- 3.4.2 हर्ष की राजनैतिक गतिविधि : एक अवलोकन
- 3.4.3 हर्ष का राज्य विस्तार
- 3.4.4 युवानच्वांग का विवरण
- 3.4.5 हर्ष-संवत
- 3.4.6 हर्ष के राज्यकाल का अन्त

3.5 राजनीति की बदलती संरचना

- 3.5.1 शासकों की उपाधियाँ
- 3.5.2 प्रशासन
- 3.5.3 राजनीतिक संरचना

3.6 परिणामः कन्नौज का त्रिगुटीय संघर्ष

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जानेंगेः

- 5वीं-6वीं शताब्दी में उत्तर भारत की राजनैतिक परिदृश्य किस प्रकार परिवर्तित हुआ;
- नये प्रकार के राजनैतिक केन्द्रों का उदयः *जयस्कन्धवाड़;*
- कन्नौज उत्तर भारत का नया राजनैतिक केन्द्र क्यों बना;
- हर्ष की राजनैतिक गतिविधियाँ;
- हर्ष का साम्राज्य विस्तार;
- उत्तर भारत की बदलती राजनैतिक संरचना; और
- कन्नौज के उदय का प्रभाव : त्रिगुटीय संघर्ष।

*डॉ. सयंतनि पाल, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकता।

3.1 प्रस्तावना

उत्तर गुप्त काल में उत्तर भारत की चारित्रिक विशेषताएं कान्यकुब्ज के मौखरि, मगध के गुप्त, पश्चिम बंगाल के गौड़ (मुर्शिदाबाद जिला), वल्लभी के मैत्रक (सौराष्ट्र उपद्वीप), थानेसर के पुष्पभूति जैसे अनेक शासकीय परिवारों का उद्‌भव था। इनमें से अनेक गुप्तों के अधीनस्थ थे। परन्तु गुप्तवंश के राजनैतिक अधिकारों के पतन के पश्चात ये स्वयं को स्वतन्त्र मानने लगे। इस प्रकार 6वीं शताब्दी सी.ई. का उत्तर भारत अपने-अपने क्षेत्रीय सन्दर्भों पर आधारित, अनेक शक्तियों की रणभूमि बना, जो आपस में संघर्षरत थीं। इस प्रकार के राजनैतिक परिदृश्य से सामन्त (अधीनस्थ) शक्तिशाली होकर उभरे। उन्होंने दूरस्थ क्षेत्रों पर नियंत्रण रखा अथवा अपने अधिपतियों के राजनैतिक केन्द्रों से सुंदर युद्ध लड़े। स्थानीय एवं क्षेत्रीय शक्तियों के उदय को इस काल की कसौटी माना जाता है। इस इकाई में हम आपको पुष्पभूतियों के संक्षिप्त इतिहास एवं हर्ष किस प्रकार सबसे महत्वपूर्ण शासक बना एवं एक साम्राज्य स्थापित किया, इसका वर्णन कर रहे हैं।

3.2 उत्तरी भारत का बदलता राजनैतिक परिदृश्य

इस काल में हम देखते हैं कि कुछ क्षेत्र अन्य की तुलना में अधिक शक्तिशाली हुए। उदाहरण के लिए उन्नत क्षेत्रों जैसे जो ऊँचाई पर स्थित थे अथवा पहाड़ों तथा नदियों से घिरे थे, क्षेत्र जो कि सुचारू रूप से सैना की गतिविधियों, उनके भोजन एवं प्रावधानों के सुगम्य परिवहन के लिए जलीय तथा थलीय मार्गों से जुड़े थे, ये पुरानी *राजधानी* से अधिक महत्वपूर्ण माने गये। ये नये केन्द्र अभिलेखों में *जयस्कन्धवाड़* (जिसका वास्तविक अर्थ-विजय शिविर) के नाम से जाने जाते हैं।

3.2.1 नये प्रकार के राजनीतिक केन्द्र : *जयस्कन्धवाड़*

ये *जयस्कन्धवाड़* थे जहाँ से शासकीय वंशों ने धार्मिक अनुदान जैसे – *ब्राह्मणों*, भिक्षुओं, मन्दिरों एवं बौद्ध मठों को प्रदान किया। आरम्भिक मध्ययुगीन शिलालेख भिन्न-भिन्न शासकों के अनेक *जयस्कन्धवाड़* के सन्दर्भों से भरे हैं। इस प्रकार के सन्दर्भों से राजनीतिक विजयों एवं विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप हर्ष के वर्धमानकोटि *जयस्कन्धवाड़* से क्रमशः मधुबन एवं बांसखेड़ा ताम्रपत्र अभिलेख प्रकाशित किये गये थे। दोनों आधुनिक उत्तर-प्रदेश में कहीं स्थित हैं।

3.2.2 कन्नौज नये राजनीतिक केन्द्र के रूप में

पूर्व में कान्यकुब्ज या महोदय नाम से जाना जाने वाला कन्नौज, आधुनिक उत्तर प्रदेश के कन्नौज जिले में स्थित, आरम्भिक मध्यकाल में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ऊँचाई क्षेत्र में गंगा-यमुना दोआब में स्थित कन्नौज की किलेबन्दी सुगमता से कराई जा सकती थी। इस प्रकार मैदानी क्षेत्र में इसकी अनुकूल अवस्थिति के बावजूद इसे सुगमतापूर्वक किलेबन्दी करके सुरक्षित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त कन्नौज मूलतः पश्चिमी गंगा तटीय क्षेत्र के कृषि विस्तार के अन्तर्गत आता था। भूमि अनुदान इस क्षेत्र में प्रचुरता में किया जा सकता था। प्राकृतिक रूप से इस क्षेत्र ने *ब्राह्मणों* को आकर्षित किया जो यहाँ आकर बसे एवं आगामी शताब्दियों में पूरे देश के राजदरबारों में विस्तृत रूप से प्रतिष्ठित हुए। कन्नौज पूर्व में गंगा क्षेत्रों के साथ ही साथ दक्षिण में जाने वाले मार्गों से भी भली प्रकार जुड़ा था। इन सभी कारकों के कारण कन्नौज शक्ति के रूप में उभरा एवं उत्तर भारत में केन्द्रक के रूप में महत्व स्थापित किया। इस विकास के साथ हम देखते हैं केन्द्र बिन्दु, दक्षिण बिहार

के पाटलिपुत्र से कन्नौज की तरफ स्थानान्तरित होता है। कन्नौज उत्तर भारत की राजनीति में एक केन्द्रीय विषय के रूप में उभरा।

इस प्रकार, कान्यकुब्ज राजनैतिक केन्द्र के रूप में मौखरियों की सत्ता के अंतर्गत गृहवर्मन के अधीन सर्वप्रथम *हर्षचरित* में देखने को मिलता है। गृहवर्मन का विवाह पुष्पभूति राजकुमारी राज्य श्री के साथ हुआ था। जब हर्षवर्धन राजा बना उसने अपने पूर्वजों की राजधानी थानेश्वर के बजाय कन्नौज में स्थापित की। इसे अपनी राजधानी बनाने के पीछे हुणों की आक्रमक गतिविधियाँ भी हो सकती है, जो 5वीं शताब्दी के मध्य में स्कन्दगुप्त के शासनकाल से उत्तर पश्चिम से भारत में आने का मार्ग बना रहे थे। थानेश्वर उत्तर-पश्चिम के निकट था; हर्षवर्धन ने कान्यकुब्ज में अधिक सुरक्षित महसूस किया चूँकि यह पूर्व की ओर अधिक केन्द्रित था।

3.2.3 पाटलिपुत्र का पतन

आर. एस. शर्मा जैसे इतिहासकारों का मत है कि उत्तर-गुप्त काल में व्यापार एवं व्यवसाय में अवनति के कारण पाटलिपुत्र पतन की ओर था। यह राज्य के आर्थिक एवं राजनैतिक सामन्तीकरण की प्रक्रिया का भाग था। अन्य स्थानों से इस नगर में आने वाले व्यापारियों पर मार्ग-कर संग्रहित किया जाता था। इस प्रकार अधिकारियों, सैनिकों एवं अन्य शाही नौकरों का वेतन भूमि-आवंटन द्वारा किया जाता था। इस प्रकार उत्तर-गुप्त काल में नगरों ने अपनी महत्ता खो दी एवं स्कन्धवाड़ों ने ख्याति अर्जित की। अतः आर. एस. शर्मा का मत है कि पाटलिपुत्र वृहद स्तर पर पूर्व सामन्ती क्रम को दर्शाता है, जहाँ कान्यकुब्ज हर्षवर्धन के अधीन सामन्त युग के आरम्भ को दर्शाता है।

जैसा भी हो, इस मत की अपनी आलोचना है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों एवं स्थानों की अर्थव्यवस्था का अध्ययन गुप्त काल के तुरन्त पश्चात व्यापार, नगरीय केन्द्रों एवं आर्थिक मुद्रा के पतन को परिलक्षित नहीं करता है। यह एक सम्पूर्ण भारत की घटना नहीं थी। बल्कि कुछ इलाकों जैसे दक्षिण-पूर्व बंगाल, पश्चिम भारत आदि स्थानों पर व्यापार समृद्ध था एवं यहाँ सोने-चाँदी के सिक्कों की प्रचुरता भी थी। इसके अतिरिक्त अन्तर एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार वृहद स्तर पर किये जाते थे।

हर्ष कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनाने के पश्चात् काफ़ी शक्तिशाली हुआ जिसे उसके राजकवि बाणभट्ट ने अपने ग्रंथ *हर्षचरित* में गौरान्वित किया है। दूसरी तरफ एच. सी. रायचौधरी जैसे इतिहासकारों का मत है कि इसने 'त्रिगुटीय संघर्ष' में भी योगदान दिया। उनका मानना है कि यह तीन वंशों के मध्य का संघर्ष था – पश्चिम भारत के गुर्जर-प्रतिहार, बंगाल एवं बिहार के पाल एवं दक्कन के राष्ट्रकूट, जिसका उद्देश्य कान्यकुब्ज, जिसे हर्ष ने राजधानी चुना था तथा जो शाही राजधानी बन गया था, पर आधिपत्य स्थापित करना था।

3.3 पुष्पभूति[1]

विभिन्न स्रोतों से हमें पुष्पभूतियों के विषय में जानकारी मिलती है, जिन्होंने पहले हरियाणा के थानेश्वर तथा बाद में उत्तर प्रदेश के कन्नौज से शासन किया। इन स्रोतों में *हर्षचरित,* युवानच्वांग (ह्वेनत्सांग) का यात्रा विवरण, अभिलेख तथा सिक्कें हैं। बावणभट्ट हमें बताते हैं कि इस वंश का संस्थापक राजा थानेश्वर में पुष्पभूति था तथा यह परिवार पुष्पभूति वंश

[1] यह भाग ई.एच.आई.-02, खंड-8, इकाई-34 से ग्रहित है।

के नाम से जाना जाता था। यद्यपि हर्ष के अभिलेखों में इसका कोई सन्दर्भ नहीं है। बांसखेड़ा एवं मधुबन ताम्पत्र एवं शाही मुहरें आरम्भिक पाँच शासकों के विषय में जानकारी प्रदान करते हैं, जिनमें से तीन को *महाराजा* की उपाधि प्रदान की गई थी। यह दर्शाता है कि वे सम्प्रभु सम्राट नहीं थे। चतुर्थ सम्राट प्रभाकरवर्धन का वर्णन महाराजाधिराज के रूप में हुआ है जिससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह एक स्वतन्त्र सम्राट था एवं उसने गृहवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ विवाह करके मौखरियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।

इस समय (लगभग 604 सी.ई.) थानेश्वर को पश्चिम की ओर से हूणों के आक्रमण का भय था। बाणभट्ट प्रभाकरवर्धन का वर्णन 'हूण हिरनों के लिए शेर' के रूप में करते हैं। उनके अनुसार राज्यवर्धन के अधीन एक सेना हूणों को पराजित करने के लिए भेजी गयी परन्तु पिता की अकस्मात बिमारी के कारण उसे वापस होना पड़ा। प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के पश्चात परिवार को कुछ समय तक विपदा का सामना करना पड़ा। मालवा शासक ने गृहवर्धन की हत्या कर दी तथा उसकी पत्नी राज्यश्री को बन्दी बना लिया। ऐसा प्रतीत होता है, मालवा एवं गौड़ शासक ने सन्धि कर ली थी तथा थानेश्वर को धमकी दे रहे थे। राज्यवर्धन ने मालवों को पराजित किया परन्तु गौड़ शासक शशांक द्वारा विश्वाघात द्वारा मारा गया। अब यह हर्ष का उत्तरदायित्व था कि वह प्रतिशोध ले, एवं कुछ समय पश्चात वह एक सशक्त साम्राज्य स्थापित करने में संमर्थ हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नांकित तथ्यों को पढ़े एवं सही (✓) एवं गलत (✗) का निशान लगाएँ।

   i) थानेश्वर मौखरियों का राज्य था। ( )

   ii) कान्यकुब्ज गंगा-यमुना *दोआब* में स्थित था। ( )

   iii) राजनैतिक केन्द्र के रूप में कान्यकुब्ज ने उज्जैनी को विस्थापित किया। ( )

   iv) त्रिगुटीय संघर्ष दो शक्तियों के मध्य लड़ा गया। ( )

2) छठी शताब्दी सी.ई. के पश्चात् *जयस्कन्धवाड़* उत्तर भारत की राजनीति में क्यों महत्वपूर्ण हो गया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) पाटलिपुत्र के पतन के कारणों पर पाँच पंक्तियाँ लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

4) पुष्यभूतियों के विषय में 100 शब्द लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 हर्ष की राजनैतिक गतिविधियाँ

3.4.1 स्रोत

प्रशस्तिक के रूप में अभिलेख, तामपत्र, इस वंश के घोषणापत्र इत्यादि शासक की क्रियाकलापों एवं राजनैतिक विजयों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। प्रशस्तियों में शासकों की राजनैतिक विजयों का रूढ़रूप वर्णन मिलता है। ये शासक को सार्वभौम सम्राट (चक्रवर्ती/सार्वभौम राजा) होने का दावा करते हैं, जिसने चारों दिशाओं को जीता एवं दिग्विजय प्राप्त की। राजनैतिक केन्द्रों के सन्दर्भ, अभिलेखों में अभिलिखित भू-दान क्षेत्र एवं आलेखों के खोज स्थल, वंश के अधीन क्षेत्र-विस्तार को इंगित करते हैं। इसके अतिरिक्त राज कवियों के चरित काव्य एवं जीवनी काव्य ऐतिहासिक जानकारी के नये स्रोतों के रूप में उभर कर आये हैं। इस प्रकार के काव्यों, कविताओं में संरक्षक राजा नायक होता है, जो जीवन में कई उतार-चढ़ाव चुनौतियाँ से गुजतरा हुआ अन्नतः विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार का आरम्भिक उदाहरण हमें *हर्षचरित* में देखने को मिलता है। हर्षचरित (हर्ष का जीवन) इस तरह का पहला आदर्श है। इस काव्य में कवि बाणभट्ट हर्षवर्धन के उदय के बारे में बताते हैं। हमें यह बताया जाता है कि जब पुष्पभूति शासक प्रभाकरवर्धन राज्य कर रहा था दुर्जेय हूणों ने राज्य के उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर आक्रमण किया। राज्यवर्धन एवं हर्षवर्धन दोनों राजकुमार उन्हें रोकने गये। इसी मध्य प्रभाकरवर्धन बीमार हो गये एवं उनकी मृत्यु हो गयी। स्थिति और भी दयनीय हो गयी जब कान्यकुब्ज का मौखरि शासक जो कि उनका जीजा एवं उनकी बहन का पति था, अपने शत्रुओं द्वारा मारा गया। ये गौड़ के शशांक एवं मालवा के देवगुप्त थे। राज्यवर्धन शत्रुओं से युद्ध करने गये एवं शत्रुओं के शिविर में मारे गये। बाद में हर्षवर्धन ने अपनी बहन को बचाया, और चूंकि मौखरियों का कोई उत्तराधिकारी नहीं था, अतः कान्यकुब्ज के सिंहासन का प्रस्ताव उसे दिया गया। उसने मौखरि के मंत्रियों द्वारा दिया गया प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वह पुष्पभूतियों एवं मौखरियों का संयुक्त शासक बन गया। उसने कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनायी। इस प्रकार काव्य का अन्त होता है। गौर का विषय है कि कवि का उद्देश्य हर्ष के सिंहासन पर विराजने का वृतांत प्रस्तुत करना है। उसे एक सर्वोचित एवं न्यायपूर्ण व्यक्ति दर्शाते हुए, उसके अपने भाई के साथ साझा प्रेम को रेखांकित करते हुए बाणभट्ट हर्ष की सिंहासन प्राप्ति को न्यायसंगत ठहराते हैं। यद्यपि यह करते हुए उसने ज्येष्ठ भाई का स्थान ले लिया था।

आगामी काल के शासक जैसे बंगाल एवं बिहार के रामपाल, पश्चिम चालुक्य के विक्रमादित्य चतुर्थ, गुजरात के चालुक्य वंश के कुमारपाल चरित काव्यों जैसे *रामचरित, विक्रंमाकदेवचरित* एवं कुमारपालचरित में मुख्य पात्र के रूप में प्रतीत होते हैं। यह दर्शाता है कि किस प्रकार *हर्षचरित* एक उदाहरण के रूप में स्थापित हुआ जिससे साहित्य में एक शैली का प्रारम्भ

एवं लोकप्रिय हुआ एवं जिसका विभिन्न क्षेत्रों के शासकों ने जो काव्य के नायक के रूप में आना चाहते थे, अनुसरण किया।

इस काल से सम्बन्धित अन्य स्रोत चीनी यात्री युवानच्वांग (ह्वेनत्सांग) का विज्ञात यात्रा विवरण है, जिसने 629 सी.ई.-645 सी.ई. तक भारत में यात्रा की एवं हर्ष के दरबार में सर्वाधिक समय व्यतीत किया।

स्रोतों की व्याख्या

हर्ष बाणभट्ट एवं युवानच्वांग (ह्वेनत्सांग) दोनों का संरक्षक था। दोनों के वृतान्त हर्ष को पूरे उत्तर-भारत का स्वामी बताते हैं। दोनों के विवरण के आधार पर आरम्भिक इतिहासकार हर्ष को उत्तर गुप्तकाल का अन्तिम 'महान हिन्दू' साम्राज्य निर्माता दिखाते है। इस प्रकार के मतों को हर्ष के कट्टर प्रतिद्वंदी पुलकेशिन-II के उत्तराधिकारियों द्वारा प्रदत्त *सकालोत्तपथेश्वर* (उत्तर के सभी क्षेत्रों का युद्ध-स्वामी) नामक विशेषीकृत उपाधि से भी दृढ़ता प्राप्त होती है। इस प्रकार, भारतीय इतिहास के काल-विभाजन के प्रयोजन में इतिहासकार 647 सी.ई. में हर्ष की मृत्यु के साथ एक युग का अन्त, वास्तव में हिन्दू युग के अन्त को चिन्हित करते हैं। इस प्रकार विन्सेन्ट स्मिथ जो आरम्भिक इतिहासकारों में से एक हैं तथा जिन्होंने भारतीय इतिहास की विस्तृत रचना की है (भारत का आरंभिक इतिहास), मध्यकाल के हिन्दू राज्य को, जिसमें राजपूत सबसे आगे आते हैं, हर्ष की मृत्यु के उपरान्त बताते हैं। इस परिवर्तन का प्रमुख मानदण्ड इस विस्तृत साम्राज्य का विभाजन था। जैसा कि उनका मानना है कि पूर्व मध्यकालीन भारत में हर्ष अन्तिम सम्राट था जिसका मौर्यों एवं गुप्तों की भाँति उत्तर-भारत के विस्तृत भाग पर आधिपत्य था। राजपूतों की उपस्थिति के बावजूद मध्यकाल मुस्लिम युग का आरम्भ माना जाता है।

3.4.2 हर्ष की राजनैतिक गतिविधियाँ : एक अवलोकन

हर्ष का सिंहासनारोहण 606 सी.ई. में हुआ। वह पुष्पभूति वंश का था जो स्थानविस्वरा (पंजाब के अम्बाला जिले में आधुनिक थानेश्वर) के निवासी था। अभिलेखों में उल्लेखित उसकी विजयों की पुष्टि समकालीन शासकों जैसे पुलकेशिन II के अभिलेखों से भी की जा सकती है। हर्ष की गतिविधियों पर चर्चा निम्नांकित रूप में करेंगे।

प्रारम्भिक जीवन-यात्रा

प्रभाकरवर्धन हर्ष का पिता एवं क्रम में चतुर्थ शासक था। उसके दो पुत्र राज्यवर्धन एवम् हर्षवर्धन थे। उसकी पुत्री का विवाह कान्यकुब्ज के मौखरि शासक गृहवर्धन के साथ हुआ। यह एक महत्वपूर्ण वैवाहिक सन्धि थी जिसने 7वीं शताब्दी सी.ई. उत्तर भारत के शक्ति-संतुलन को प्रभावित किया। मौखरियों के प्रतिद्वंदी गौड़ों (प्रारम्भ में मौखरि शासक इशानवर्मन गौड़ों को परास्त करने का दावा करते हैं), ने मालवा के देवगुप्त के साथ सन्धि बनायी थी।

पूर्वी अभियान

गौड़ शासक शशांक एवं मालवा शासक देवगुप्त ने हर्षवर्धन के जीजा मौखरि शासक गृहवर्धन की हत्या कर संकट पैदा कर दिया। उन्होंने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया। हर्ष का ज्येष्ठ भाई राज्यवर्धन शत्रु-शिविर में मारा गया। अपनी बहन, गृहवर्धन की विधवा को बचाने के पश्चात मौखरियों के उत्तराधिकारी न होने के कारण, हर्षवर्धन को मंत्रियों द्वारा सिंहासन का प्रस्ताव आया। हर्ष ने अब कान्युकुब्ज के सिंहासन को अधिकार में लेकर पुष्पभूति एवं मौखरि दोनों प्रदेशों पर शासन प्रारम्भ कर दिया। उसने शंशाक से प्रतिरोध की

प्रतिज्ञा की, स्वं उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने राजनिष्ठा से इंकार किया था। यद्यपि न तो बाणभट्ट न युवानच्वांग शशांक और हर्ष के मध्य वास्तविक संघर्ष के विषय में सूचना देते हैं। इसके अतिरिक्त युवानच्वांग (ह्वेनत्सांग) उल्लेख करता है कि 637-38 सी. ई. से कुछ वर्ष पूर्व शशांक ने गया में बोधि वृक्ष काट दिया था। यह बौद्ध धर्म का एक पवित्र प्रतीक था एवं शशांक यह कृत्य तब तक नहीं कर सकता था जब तक कि गया क्षेत्र पर उसका अधिकार न हो। वह यह भी इंगित करता हैं कि हर्ष ने 643 सी.ई. में ओडरा एवं कौंगडा (उत्तर-पूर्वी एवं दक्षिणी उडीशा) को भी जीता था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि हर्ष ने 637 सी.ई. में शशांक की मृत्यु से पूर्व पूर्वी भारत में कोई विजय प्राप्त नहीं की थी।

पश्चिमी भारत

सौराष्ट्र में वल्लभी के राज्य पर मैत्रकों का शासन था जो गुप्तों के सामन्त थे। हर्ष एवं मैत्रकों के मध्य सम्बन्ध थोड़ा जटिल है। भड़ौच के गुर्जर शासकों का शिलालेख (जयभट्ट II का नौसारी अनुदान 726 सी.ई.) वल्लभी शासकों की रक्षा का दावा करता हैं जिसपर हर्ष बलपूर्वक अधिकार करना चाहता था। मूलरूप से लाट शासक (दक्षिण गुजरात) एवं मालवों तथा गुर्जरों ने हर्ष एवं पुलकेशिन II के राज्य जो क्रमशः उत्तर एवं दक्षिणी नर्मदा पर अवस्थित थे पर रणनीतिक स्थिति बना रखी थी। इस प्रकार हर्ष एवं पुलकेशिन दोनों ही इन तीनों पर नियन्त्रण का प्रयत्न करने का प्रयत्न करेंगे। पुलकेशिन II अपने एहोल अभिलेख में इन तीनों शासकों को अपने अधीनस्त होने का दावा करता है। जैसा भी हो, जब हर्ष ने वल्लभी राज्य को अधिकार में लिया, वैवाहिक सम्बन्धों के कारण दोनों के मध्य शान्ति अवश्य स्थापित हुई होगी। इस प्रकार मैत्रक वंश के बालादित्य ध्रुवसेन II ने हर्ष की पुत्री से विवाह किया एवं उसका मित्र बन गया। इस प्रकार इस सन्धि ने ध्रुवसेन II को पुलकेशिन के प्रभाव से मुक्त कर दिया। हर्ष एवं पुलकेशिन के मध्य विख्यात संघर्ष का यह कारण हो सकता है।

पुलकेशिन II के साथ संघर्ष

हर्ष एवं पुलकेशिन द्वितीय दोनों के राज्य नर्मदा नदी की सीमा को स्पर्श करते थे। पुलकेशिन अपने एहोल अभिलेख में बताता है कि हर्ष का आनन्द (हर्ष) भय से चूर हो गया जब उसका हाथी युद्ध में गिर गया। युवानच्वांग के विवरण से ज्ञात होता है कि हर्ष ने पहल की परन्तु पुलकेशिन के विरूद्ध कोई विजय प्राप्त न कर सका। पुलकेशिन के उत्तराधिकारी पुलकेशिन को सकालोत्तरपथेश्वर (हर्ष) को परास्त करके *परमेश्वर* की उपाधि अर्जित करने का दावा करते हैं। आर. सी. मजुमदार का मानना है कि युद्ध का परिणाम पुलकेशिन के उत्तराधिकारियों द्वारा पुलकेशिन के पक्ष में बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित किया गया है। यह विरोधियों के संबंध में उच्च स्वर में बोलने का प्रयोजन कवि के संरक्षक की उपलब्धियों को गौरान्वित करना था।

3.4.3 हर्ष के राज्य का विस्तार

हर्ष के अधीन वर्तमान उत्तर प्रदेश, दक्षिण बिहार व उडीशा के कुछ हिस्से थे। उन्हें थानेसर, पूर्वी पंजाब और पूर्वी राजस्थान के हिस्से विरासत में मिले। भास्करवर्मन के अलावा, कामरूप के शासक उनके अधीनस्थ सहयोगी थे और हर्ष ने भी जालंधर और शायद कश्मीर के राजाओं पर प्रभाव डाला। दक्षिण में नर्मदा वह सीमा थी जिसके आगे पुलकेसिन द्वितीय शासन कर रहा था।

3.4.4 युवानच्वांग का विवरण

चीनी धर्मयात्री युवानच्वांग ने 629-645 सी.ई. में भारत की यात्रा की। वह हर्ष के अधीन कन्नौज की समृद्धि के विषय में बताता है। वह कहता है कि शासक अपनी प्रजा की स्थिति जानने के लिए प्रायः भ्रमण करता है। वह हर्ष को बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अनुयायी के रूप में दर्शाता है तथा उसने उसके राज्यकाल में नियोजित बौद्ध **संगीति** का वृहत विवरण दिया है। वह यह भी कहता है कि हर्ष अपने मंत्रियों को वेतन भूमि-अनुदान के रूप में देता है। जैसा भी है, हमें इस प्रकार के गैर धार्मिक अनुदान के विषय में कोई वास्तविक साक्ष्य नहीं प्राप्त है। वह हर्ष के द्वारा बौद्ध धर्म की महायान शाखा के संरक्षण एवं ब्राह्मणों एवं हीनयानों के द्वारा विरोध का भी उल्लेख करता है। हर्ष ने बौद्ध धर्म को भव्य उपहार देने की अतिव्ययिता में शाही खजाने को लगभग खाली कर दिया था। यह विवरण कितना सत्य है इसकी सुनिश्चितता का पता लगाना कठिन है। परन्तु इसने निश्चित रूप से विभिन्न धार्मिक समुदायों के मध्य तनाव को उजागर करता है जो राजकीय संरक्षण के लिए आपस में लड़े।

दूसरी ओर युवानच्वांग स्वयं कहता है कि हर्ष ने प्रयाग समारोह में बुद्ध, शिव एवं सूर्य की पूजा की एवं सभी धर्म के अनुयायियों को दान वितरित किया। इसके अतिरिक्त हर्ष के बांसखेड़ा एवं मधुबन ताम्रपत्र लेख में ऋग्वेदीय एवं सामवेदीय *ब्राह्मणों* को भूमि-अनुदान का उल्लेख है। शिलालेख भी यह दिखाते हैं कि आरम्भिक पुष्पभूति शासक सूर्य-उपासक थे जबकि राज्यवर्धन बौद्ध भक्त था। इन शिलालेखों में हर्ष शिवभक्त दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त हर्ष के लिखे गये नाटक *प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागनंद* में से प्रथम दो *ब्राह्मण* देवों के मंगलाचरण के साथ आरम्भ होते हैं। ये सामग्री इंगित करते हैं कि चीनी धर्मयात्री बौद्ध धर्म के लिए पक्षपाती था और हर्ष को बौद्ध धर्म के महान संरक्षक के रूप में दर्शाना चाहता था।

3.4.5 हर्ष-संवत

अल्बरूनी जो 11वीं शताब्दी में भारत आया, उल्लेख करता है कि हर्ष संवत मथुरा एवं कन्नौज में प्रयोग किया जाता था। यह संवत 606 सी.ई. हर्ष के सिंहासनारोहण से प्रारम्भ माना जाता है। हर्ष के बांसखेड़ा, मधुबन, नवअन्वेशित कुरूक्षेत्र वाराणसी ताम्रपत्र लेख व आदित्यसेन के शाहपुर शिलालेख इसी संवत के लिए दिनांकित किये गये हैं। इसके पूर्व गुप्तों, जिन्होंने भारत के वृहत क्षेत्र पर शासन किया था, भी गुप्त संवत लेकर आये। यह इंगित करता है कि शासक स्वयं के नाम से संवत प्रारम्भ करके भावी पीढ़ियों द्वारा स्वयं का स्मरण किये जाते रहने की इच्छा रखते थे।

3.4.6 हर्ष के राज्यकाल का अन्त

चीनी स्रोतों से हमें ज्ञात होता है कि तांग (T'ang) शासन ताई सुंग ने हर्ष के दरबार में 643 एवं 647 सी.ई. में एक दूत भेजा था। दूसरे अवसर पर उन्होंने पाया कि हर्ष जीवित नहीं था तथा उसके सिंहासन पर किसी ने अनधिग्रहण कर दिया था। नेपाल एवं असम की शक्तियों की सहायता से अनधिकर्ता को पराजित करके चीन में बंदी बना लिया गया। यह घटना उत्तर भारत की राजनीति में चीन की बढ़ती हुई रुचि को दर्शाता है।

3.5 राजनीति की बदलती संरचना

वृहद उपाधियाँ गुप्तों से ग्रहण की गई थी, साथ ही साथ प्रशासनिक इकाईयों के नाम का भी आगामी राजाओं ने अनुसरण किया।

3.5.1 शासकों की उपाधियाँ

सम्प्रभुता का दावा करने वाले शासकों द्वारा सामान्यता धारण की जाने वाली उपाधियाँ *महाराजाधिराज, परमेश्वर* तथा *परम-भट्टारक* थी। अधीनस्थ राजा *महाराज, सामन्त, महासामंत, रणक* आदि उपाधियाँ का प्रयोग करते थे। भूमि-अनुदान घोषणाओं में राज्य के प्रशासन में उपाधियाँ तथा पद के विभिन्न स्तर, श्रेणी क्रियात्मकता एवं कार्यकलाप दर्शाते हैं।

3.5.2 प्रशासन

हर्ष के प्रशासनिक शासन से सम्बन्धित बहुत कम विवरण उपलब्ध हैं। विभिन्न शासकीय पद गुप्तों के समय से चला आ रहे थे। युवानच्वांग कहता है कर बहुत कठोर नहीं थे। शासक किसानों से 1/6 भाग कर के रूप में लेता था। युवानच्वांग के अनुसार दास-प्रथा नहीं थी, आगे कहता है यह बहुत सीमित थी एवं कर बहुत विनम्र थे। देवाहूति का मानना है कि शायद इससे उसका तात्पर्य कर के स्थान पर श्रम से था। हर्ष एक दृढ़प्रतिज्ञ शासक था एवं अपने मंत्रियों को आत्मविश्वास एवं निष्ठा से प्रेरित रखता था। युवानच्वांग उल्लेख करता है कि हर्ष एक उद्योगशील शासक था। उसका दिन तीन भागों में विभाजित था – जिसमें से एक राज्य को एवं अन्य दो धार्मिक कार्यों को समर्पित था। यद्यपि राजकीय मामलों एवं प्रशासन में धर्मनिरपेक्ष पहलु अधिक अन्तर्निहित हो सकते हैं, धार्मिक मामलों में अभावग्रस्त लोगों के लिए अस्पताल खुलवाना, दान का वितरण, दार्शनिक चर्चाओं का प्रबन्ध एवं छाया देने वाले वृक्षों का रोपण, शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना आदि आते हैं। हर्ष अपने अधीन मण्डलों के लिए न केवल कठोर था बल्कि समय-समय पर भ्रमण एवं निरक्षण करके आम जनता से निकट सम्पर्क में रहता था। वह अपने विस्तृत साम्राज्य से परिचित था, जो उसे प्रशासनिक रूप से दक्ष बनाता था। उदाहरणस्वरूप वह स्थानीय भौगोलिक स्थिति एवं लोगों के मिजाज को समझता था जिससे उसे वहाँ के लिए उपयुक्त राज्यपाल नियुक्ति में मदद मिलती थी। हर्ष उनके एवं सहायक नेताओं के साथ व्यक्तिगत साक्षात्कार करके सुचारु प्रशासन सुनिश्चित करता था। 643 सी.ई. में ऐसे 20 सहायक नेता थे। हर्ष अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध रखता था। जिससे वह युवानच्वांग के यात्रा एवं आवास के लिए सुविधाएँ माँगता था। उसके चीनी सम्राटों के साथ राजनयिक सम्पर्क थे।

हर्ष के राज्यकाल में सर्वोच्च उपाधि *परम भट्टारक महाराजाधिराज* ''शासकों का सर्वोच्च महान शासक'' की थी। इस प्रकार के उच्चस्तरीय उपाधियाँ का प्रयोग गुप्तों के काल से प्रतिमान बन गया था। जैसे ही शासक सार्वभौम विजेता बनता एवं सर्वोपरि स्थान प्राप्त करता था इस प्रकार की उपाधियाँ ग्रहण करना सामान्य बात हो गयी थी। हर्ष के प्रतिद्वंदी पुलकेशिन II द्वारा प्रदत्त विशेषीकृत उपाधि 'सकालोत्तपथेश्वर' हर्ष को प्राप्त इस प्रकार की उच्चस्तरीय उपाधियों को और भी प्रमाणिकता प्रदान करती है।

छोटे शासक राजा या महाराजा नाम से जाने जाते थे। वे अपनी सीमाओं में स्वतन्त्र थे परन्तु सम्प्रभु शासक के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करते थे। दुर्भाग्यवश, दो प्रमुख प्राधिकारी लेखक – बाण एवं युवानच्वांग भी हमें हर्ष के प्रशासन के विषय में अधिक जानकारी नहीं देते। हर्ष एवं पुलकेशिन II के शिलालेख, उनके उत्तराधिकारी एवं समकालीन शासक हमें प्रशासन के विषय में कुछ जानकारी प्रदान करते हैं। शासक राज्य का सर्वोच्च था। वह राज्य में मंत्रियों एवं महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति करता था। युद्ध में सेना का नेतृत्व करता था। वह धर्मशास्त्रों में दिये गये आदर्शों के अनुसार शासन करता था।

राजा को प्रशासन में मंत्रिपरिषद सहायता करती थी। परिषद में सामन्त, जागीरदार, राजकुमार एवं उच्च अधिकारी सम्मिलित थे। राज-दरबार के प्रबन्ध के लिए विशेष कर्मचारी

एवं अधिकारी होते थे। विभागीय अध्यक्ष होते थे जो सीधे शासक को विवरण देते थे। हर्ष के काल में प्रशासनिक एवं सैन्य विभाग स्पष्ट रूप से विभाजित नहीं थे। परिणाम स्वरूप, उच्च अधिकारियों में से कुछ सैन्य अधिकारियों के रूप में भी कार्य करते थे। जिला एवं प्रान्तीय प्रशासन गुप्तों से अधिक भिन्न नहीं था। इसके साक्ष्य हमें कुमारगुप्त I के दामोदपुर शिलालेख, धर्मादित्य एवं समाचारदेव का फरीदपुर शिलालेख, बसाढ़ के सिक्कों में उल्लेखित प्रशासनिक इकाईयों एवं उनके अधिकारियों के नाम के द्वारा मिलता है, जो बाण के अनुसार हर्ष के शिलालेखों में भी पाया जाता है।

3.5.3 राजनैतिक संरचना

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रसिद्ध शासक हर्षवर्धन की राजनैतिक गतिविधियों के बारे में उपर्युक्त चर्चा, अनगिणत मध्ययुगीन राज्यों एवं उसके विस्तार के विषय में उत्पन्न बाधाओं की ओर सकेंत करती है। राज्यों की रूपरेखा स्पष्ट नहीं थी। वैवाहिक सन्धियाँ एवं संघर्ष वंशों के मध्य सामान्य थे। बी. डी. चट्टोपाध्याय दर्शाते हैं कि आरम्भिक मध्यकाल में आनुवांशिक संधिया राजनैतिक गठन का केन्द्र थी एवं वंश एवं राज्य के मध्य कोई विरोधाभास नहीं था।

इस काल की प्रशस्तियाँ (प्रशंसा पत्र) सौपानिक राजनैतिक संरचना की सूचक हैं। अधनिस्थ शासकों के शिलालेख अपने अधिपतियों का उल्लेख करते हैं। इस सन्दर्भ में सामान्यतया प्रयोग की जाने वाली उक्ति है, *तत्पदानुध्याता,* जिसका वास्तविक अर्थ 'उसकी चरणवन्दना' है। यह उक्ति शासकों द्वारा उनके पिता के लिए भी प्रयोग की जाती थी। जैसा भी है, जब यह उक्ति अधिनस्थ शासकों द्वारा उनके अधिपतियों के लिए प्रयोग की जाती थी तो इसका आशय 'पदानुग्रहीत' होता था जो उनके साथ अन्य की तुलना में एक प्रकार से अधिक निकट सम्बन्ध का दावा करता था।

एक अन्य चर्चा का विषय यह भी है कि 'सामन्त' या 'जागीरदार' उन अधीनस्थ शासकों के सन्दर्भ में कितना उपयुक्त है जो अपनी निष्ठा एवं सैन्य सेवा के द्वारा आभार व्यक्त करते थे। पश्चिमी यूरोपीय सामन्तवाद के समान यहाँ अधिपत्यों एवं अधीनस्थ शासकों के मध्य कोई अनुबंध नहीं होता था। शासकों द्वारा अपने सामन्तों को भूमि-अनुदान (गैर-धार्मिक भूमि) के वास्तविक साक्ष्य बहुत कम है। इस प्रकार 6वीं शताब्दी में भूमि-अनुदानों की संख्या में वृद्धि 'सामन्ती राजनीति' के उदय की कारक नहीं हो सकती थी।

3.6 परिणामः कन्नौज का त्रिगुटीय संघर्ष

उत्तर भारत में कन्नौज को राजकीय शक्ति के रूप में स्थापित करने का श्रेय हर्ष को जाता है। हम देखते हैं आगामी वर्षों में अनेक शासकों द्वारा स्वयं को कान्यकुब्ज पर पदासीन करने के कई प्रयास किये गये। 8वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राकृत काव्य *गौड़वहों* के नायक यशोवर्मन भी स्वयं को कान्यकुब्ज के शासक के रूप में दर्शाते हैं। काव्य का शीर्षक गौड़वहों (संस्कृत में गौड़वध अर्थात गौड़ शासक की पराजय एवं मृत्यु) गौड़ों एवं कान्यकुब्जों के मध्य शत्रुता दर्शाता है। डी. सी. सिरकर के अनुसार यह शत्रुता मौखरियों के शासन के प्रारम्भ से ही थी जैसाकि ईशानवर्मन अपने हरहा शिलालेख 554 सी.ई. में गौड़ों को पराजित करने का दावा करता है। शत्रुता की यह विरासत दो शक्तियों कन्नौज का प्रतिनिधित्व करने वाले हर्ष एवं गौड़ों का प्रतिनिधित्व करने वाले शशांक के मध्य भी जारी रही तथा अन्ततः बंगाल तथा बिहार के पाल (उत्तर भारतीय स्रोतों में गौड़ेश्वरा के रूप में दिखाया गया है) एवं कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों के मध्य संघर्ष के साथ समाप्त हुई।

कल्हणकृत *राजतरंगिणी* भी कश्मीर के कारकोट वंश के ललितादित्य मुक्तापीड द्वारा यशोवर्धन के पराजय का दावा करती है। शासकों के राजकवियों द्वारा इन प्रभावशाली विजयों के विभिन्न दावों की सुनिश्चिता नहीं की जा सकती। जैसा भी है, काव्यों के नायकों द्वारा स्वयं को कान्यकुब्ज का विजेता के रूप में प्रस्तुति 6-8-9वीं शताब्दी सी.ई. में कान्यकुब्ज के उत्तरोत्तर महत्व को इंगित करता है।

बोध प्रश्न 2

1) चरित काव्य की क्या विशेषताएँ हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) हर्ष एवं पुलकेशिन के मध्य संघर्ष के विषय में पाँच वाक्य लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नांकित वाक्यों को पढ़ें एवं सही (✓) अथवा गलत (✗) का चिन्ह लगाएं :

i) युवानच्वांग ने 629-645 सी.ई. में भारत की यात्रा की। ( )

ii) हर्ष के शिलालेखों के अनुसार वह बौद्ध था। ( )

iii) हर्षकाल 606 सी.ई. से प्रारम्भ होता है। ( )

iv) हर्ष को 'सकालोत्तरपथनाथ' की उपाधि उसके परिवार ने दी थी। ( )

3.7 सारांश

हर्ष का उदय एवं प्रसार, गंगा-यमुना दोआब के महत्व के उद्भव को दर्शाता है। इसमें सन्देह नहीं है कि इसने बाणभट्ट एवं युवानच्वांग के विवरण के बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है। हर्ष की प्रतिद्वंदी, दक्कन के चालुक्यों द्वारा सकालोत्तरपथनाथ उपाधि से विभूषित करना इसके महत्व को और अधिक बल प्रदान करता है। जो भी है, उपर्युक्त चर्चा यह इंगित करती है कि यह कितना अतिशयोक्तिपूर्ण है।

इस प्रकार के दावों को दरकिनार करने के पश्चात भी उत्तर-गुप्त राजनीति में कन्नौज के महत्व को इंकार नहीं किया जा सकता है। कन्नौज ने एक प्रभावशाली कृषि पृष्ठप्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित किया जो नगर की वृद्धि में महत्वपूर्ण था। यह बदलती हुई राजनीतिक अर्थव्यवस्था को दर्शाता है जिसमें कृषि संसाधनों का दोहन उनके स्थानीय, अतिस्थानीय,

क्षेत्रीय वंशों के लिए अनिवार्य था जो उत्तर-भारत की राजनीतिक रंणभूमि में हावी होना चाहते थे।

3.8 शब्दावली

जयस्कन्धवाड़ : वास्तविक अर्थ में 'विजय-शिविर' जिसका तात्पर्य एक अस्थायी शिविर है जो रणनीतिक क्षेत्र पर स्थित होता था।

त्रिगुटीय संघर्ष : 8-9वीं शताब्दी सी.ई. में तीन शक्तियों बंगाल एवं बिहार के पाल, पश्चिमी भारत के प्रतिहार एवं दक्कन के चालुक्यों के मध्य कान्यकुब्ज पर अधिकार के लिए संघर्ष।

सकालोत्तरपथेश्वर : उत्तर के सभी क्षेत्रों के योद्ध-स्वामी, उत्तरापथ के सम्प्रभु शासक के रूप में महत्व रखने वाला।

चरित **काव्य** : जीवनी-काव्य

तत्पादानुध्याता/पदानुध्याताः वास्तविक अर्थ 'चरण वन्दना'। प्रायः पुत्र, उत्तराधिकारी या पसंदीदा सामन्त (अधीनस्थ) को वर्णित करता शब्द।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (i) × (ii) ✓ (iii) × (iv) ×

2) आपके उत्तर में *जयस्कन्धवाड़* शब्द की व्याख्या इसकी राजधानियों से विभिन्नता के रूप में होनी चाहिए। आपकी व्याख्या में बदलता आर्थिक परिदृश्य मुख्य आकर्षण होना चाहिए जिसमें धार्मिक भूमि-अनुदान एवं रणनीतिक स्थिति का एवं *जयस्कन्धवाड़* से सम्पर्क महत्वपूर्ण बन गया था (उप-भाग 3.2.1 देखें)।

3) यदि आप आर. एस. शर्मा के विचारों से सहमत हैं तो आर. एस. शर्मा द्वारा उत्तर-गुप्त काल की अर्थव्यवस्था एवं राज्य की व्याख्या देखें। पाटलिपुत्र का पतन, 6वीं शताब्दी सी.ई. में नगरीय केन्द्रों के पतन की सामान्य घटना के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए (उप-भाग 3.2.3 देखिए)।

4) देखें भाग 3.3 ।

बोध प्रश्न 2

1) आपका उत्तर *चरित काव्य* शब्द की व्याख्या के साथ आरम्भ होना चाहिए। आपको यह व्याख्या करने की आवश्यकता है कि कब और क्यों साहित्य की इस शैली का उदय हुआ और यह महत्वपूर्ण बन गया। उप-भाग 3.4.1 देखिए।

2) आपका उत्तर इन दो शासकों की पहचान से संबंधित है। आपको उनके संघर्ष के महत्वपूर्ण कारकों की व्याख्या करने की आवश्यकता है जैसे कि उनके राज्यों की सीमाओं के संबंध में संघर्ष, रणनीतिक अवस्थितियों पर अधिकार करने वाली शक्तियों जैसे – लटों, मालवों एवं गुर्जरों के ऊपर नियन्त्रण। उप-भाग 3.4.2 देखिए।

3) (i) ✓ (ii) × (iii) ✓ (iv) ×

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

चक्रवर्ती, रनवीर (2010). *एक्सप्लोरिंग अर्ली इंडिया अपटू सी. ए. डी. 1300,* दिल्ली : मैकमिलन पब्लिशर इंडिया लिमिटेड.

कोवेल, इ. बी. एण्ड थॉमस एफ. डब्ल्यू (ट्रासलेशन) (1993). *द हर्षचरित ऑफ़ बाण.* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास।

देवाहूती, डी. (1999). *हर्ष : ए पोलिटिकल स्टडी.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

शर्मा, आर. एस. (2005). *इण्डियाज एशियन्ट पास्ट.* न्यू दिल्लीः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सिंह, उपिन्दर (2009). *ए हिस्ट्री ऑफ़ एशियन्ट एण्ड अर्ली मेडिवल इंडियाः फ्रॉम स्टोन ऐज द 12वीं सेन्चुरी.* दिल्ली : पियरसन लॉगमैन।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 4 दक्कन और दक्षिण भारत के राज्य*

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 मध्य छठवीं शताब्दी तक दक्कन की राजनीतिक स्थिति

- 4.2.1 विदर्भ (महाराष्ट्र)
- 4.2.2 कर्नाटक
- 4.2.3 पूर्वी दक्कन
- 4.2.4 दक्षिणी कर्नाटक

4.3 दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति

4.4 चालुक्यों, पल्लवों और पांडवों का उदय

- 4.4.1 चालुक्य
- 4.4.2 पल्लव
- 4.4.3 पांड्या
- 4.4.4 अन्य शक्तियाँ

4.5 विभिन्न शक्तियों में टकराव

- 4.5.1 छोटे राजाओं की भूमिका
- 4.5.2 राजनीतिक टकरावों के अन्य आयाम
- 4.5.3 अन्य देशों के साथ संबंध
- 4.5.4 केरल

4.6 राजनीतिक संगठन

- 4.6.1 राजा और प्रशासन का उच्चतर वर्ग
- 4.6.2 प्रशासनिक इकाइयाँ
- 4.6.3 स्थानीय संगठन

4.7 विभिन्न श्रेणी के शासकों के संबंध

4.8 सारांश

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.10 संदर्भ ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- दक्कन और दक्षिण भारत में उदय होने वाले राज्य विशेषकर बादामी के चाळुक्यों और कांची के पल्लवों के विषय में जान सकेंगे;
- इन राज्यों के बीच के संबंध समझ सकेंगे;
- हमारे काल के राजनीतिक इतिहास को समझने में भूगोल की भूमिका; और
- इस बात की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे कि इन राज्यों में जनता पर किस तरह शासन होता था?

*इस इकाई को ई.एच.आई.-02, खंड-08 से लिया गया है।

4.1 प्रस्तावना

विंध्य के दक्षिण में पड़ने वाले भारत के भाग को लोग दक्षिण भारत या दक्कन कहते हैं। यह विभाजन दरअसल प्राचीन भारत के उस समय से ही चला आ रहा है, जब विंध्य के दक्षिण में पड़ने वाला क्षेत्र *दक्षिणापथ* या दक्षिणी क्षेत्र कहलाता था। दक्कन मध्य युग में आकर दक्कन हो गया, जिससे दकन शब्द निकला है। लेकिन इतिहासकारों और भूगोळविदों को मुख्य दकन को शेष दक्षिण भारत से अलग करके देखना उपयोगी लगा है। दक्कन में महाराष्ट्र और उतरी कर्नाटक आ जाते हैं, और गोदावरी और कृष्णा के दुहरे डेल्टा भी। इसी रीति का अनुसरण करते हुए, हम दक्कन और दक्षिण भारत की बात विंध्य के दक्षिण में पड़ने वाले दो क्षेत्रों के रूप में करेंगे, जबकि दक्षिणी भारत शब्द का इस्तेमाल दोनों क्षेत्रों के लिये, और उतर भारत से अलग करके देखे जाने वाले क्षेत्रों के लिये, करेंगे। आप इस क्षेत्र के इतिहास और समाज के अध्ययन में जितने गहरे उतरते जायेंगे, आपको इन भेदों का महत्व और अधिक समझ में आता जायेगा।

इससे पहले आप दक्कन और दक्षिण भारत में मौर्य काल और उत्तर मौर्य काल में होने वाले राजनीतिक विकास के बारे में पढ़ चुके हैं। आपने ध्यान दिया होगा कि दक्कन तो मौर्य साम्राज्य में शामिल था, और भारत की प्रमुख रियासतें – अर्थात् चोला, पांड्या, चेरा और सतियापुत्रों की रियासतें-मौर्या की मित्र और पड़ोसी थी। उत्तर मौर्य काल के, प्रारंभिक दौर में राजा की उपाधि वाले छोटे-छोटे सरदार दक्कन में उभरे और दक्कन को, अपने आपको ''दक्कन के स्वामी'' कहने वाले, सतवाहनों ने अपने में मिला लिया। दक्षिण में भी, रियासतों में महत्वपूर्ण बदलाव हो रहे थे, जिसके फलस्वरूप आने वाले काल में राज्य व्यवस्थाओं का उदय हुआ। इस इकाई में आप दक्कन में उत्तर-सतवाहन काल (तीसरी शताब्दी की शुरुआत) से आठवीं शताब्दी तक विकसित होने वाली राजनीतिक स्थिति के बारे में पढ़ेंगे।

4.2 मध्य छठवीं शताब्दी तक दक्कन की राजनीतिक स्थिति

सतवाहनों के पतन के बाद दक्कन पर एक वंश का राजनीतिक कब्ज़ा खत्म हो गया। कई राज्य अलग-अलग क्षेत्रों में सतवाहनों के उतराधिकारियों के रूप में उभर कर आये। उतरी महाराष्ट्र से हम अभीरों को देखते हैं, जिन्होंने कुछ समय तक *शक* राज्यों में सेनापतियों का काम किया, और मध्य तीसरी शताब्दी में एक राज्य की स्थापना की। उसकी स्थापना ईश्वरसेन ने की, जिसने 248-49 सी.ई. में एक युग की शुरुआत की। बाद में यह युग बहुत महत्वपूर्ण हो गया और इसे कलचुरी चेदा युग के नाम से जाना गया।

4.2.1 विदर्भ (महाराष्ट्र)

म्हाराष्ट्र पठार पर जल्दी ही वाकाटक हावी हो गये। उन्होंने तीसरी शताब्दी की अंतिम चौथाई से छोटे राजाओं के रूप में शुरुआत की, लेकिन तेजी से अपनी ताकत बढ़ा ली और महाराष्ट्र के अधिकांश भाग और उससे लगने वाले मध्य प्रदेश के भागों पर अपना कब्ज़ा कर लिया। वाकाटकों की दो शाखाएं थीं जो अलग-अलग क्षेत्रों में राज्य कर रही थीं। मुख्य शाखा तो पूर्वी महाराष्ट्र (विदर्भ क्षेत्र) से राज करती थी, जबकि वाकाटकों की भसिन शाखा के नाम से जानी जाने वाली एक सहयोगी शाखा दक्षिणी महाराष्ट्र में राज करती थी। सबसे मशहूर वाकाटक राजा मुख्य शाखा का प्रवरसेन प्रथम हुआ। सम्राट की उपाधि वाकाटकों में केवल प्रवरसेन प्रथम के पास ही रही। उसने कई वैदिक यज्ञ किये और *ब्राह्मणों* को कई भूमिदान भी किये। कुल मिला कर वाकाटक लोग शांति प्रिय रहे, और उन्होंने अपने शक्तिशाली पड़ोसियों जैसे उत्तर में गुप्त, पूर्वी दक्कन में विष्णुकुंडी और दक्षिण में कदम्ब

के साथ शादी विवाह के ज़रिए राजनयिक रिश्ते कायम किये। लेकिन छठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कलचुरियों और कदम्बों के अपने अपने क्षेत्र बना लेने से इन राज्य को टूटने और कमज़ोर होने से बचाया नहीं जा सका। मध्य छठवीं शताब्दी तक आते-आते दक्कन की बड़ी शक्ति के रूप में बादाभी के चालुक्यों ने उनके पांव उखाड़ दिये।

4.2.2 कर्नाटक

उत्तरी कर्नाटक (उत्तर कन्नड़) की तटीय पट्टी और साथ के क्षेत्रों में चुटुओं ने एक छोटा राज्य बना लिया। उन्होंने चौथी शताब्दी के मध्य तक राज किया, फ़िर कदम्बों ने उन्हें उखाड़ फेंका। इस राज्य की स्थापना मशहूर मयूरसरमन ने की। मयूरसरमन छापापार लड़ाई में माहिर था और उसने कांची के पल्लवों को अपनी प्रभुसत्ता मानने पर मजबूर कर दिया। फ़िर उसने *अश्वमेध यज्ञ* किये और मयूरसरमन से मयूरवर्मन, याने *ब्राह्मण* से क्षत्रिय बन गया (वर्मन क्षत्रिय वर्ग सूचक नाम था, जबकि सरमन *ब्राह्मण* वर्ग सूचक)। कदम्ब राज्य के इतिहास की शुरुआत में उसका बंटवारा परिवार की दो शाखाओं के बीच हो गया, और वैजयंती (बनवासी) तथा पळसिका (हलसी) राजधानियाँ बनी। दोनों शाखाएँ कभी आपस में शांति बना कर नहीं रही, और दोनों पर उनके अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों-पल्लवों, पश्चिमी गंगा, और सबसे अधिक, बादाभी के चालुक्यों का खतरा रहा। चाळुक्यों ने धीरे-धीरे उनकी भूमि हड़पनी शुरू कर दी, और 575 सी.ई. तक आते-आते उन्हें बिल्कुल हरा दिया।

4.2.3 पूर्वी दक्कन

उत्तर सतवाहन दक्कन में, राजनीतिक दृष्टि से, सबसे अधिक अशांत क्षेत्र पूर्व में पड़ने वाला उपजाऊ कृष्णा गोदावरी डेल्टा (आंध्र डेल्टा) क्षेत्र था। यहां सतवाहनों के बाद इक्षवकु आये जिन्होंने 225 सी.ई. से इस क्षेत्र पर राज किया। पश्चिम से अभीरों के आने पर उनके राज में विध्न आया। लेकिन यह एक अस्थायी दौर थाः इक्षवकु फ़िर लौटे और उन्होंने अगले पचास सालों तक राज्य किया। फ़िर यह क्षेत्र कई जागीरों में बंट गया। तांबे के पतरों पर लिखे अभिलेखों से हमें पता चलता है कि पहले बृहतफलायन *गोत्र* के राजा आये फ़िर सलंकायन *गोत्र* के जबकि समुद्रगुप्त की प्रशंसा करने वाली प्रयागराज स्तंभ या प्रयाग प्रस्ति के अभिलेख से हमें इस क्षेत्र में 350 सी.ई. के आसपास के कोई आधा दर्जन राज्यों के बारे में जानकारी मिली है। इनमें वेंगी कुरला के राज्य शामिल हैं : उनकी राजधानियाँ पिश्तापुर और देवराष्ट्र की अवमुक्ता थी।

आंध्र डेल्टा में राजनीतिक स्थिरता पाँचवी शताब्दी के मध्य में विष्णुकंडियों के आने के साथ वापस आयी। उनके वाकाटकों के साथ अच्छे संबंध थे, लेकिन दक्षिण कर्नाटक के पश्चिमी गंगों के साथ उनका टकराव लगातार काफ़ी समय तक बना रहा। कई *अश्वमेज्ञ यज्ञ* करने वाला, इस शाखा का संस्थापक, मधुवर्मन प्रथम (440-60) सी.ई. और मधुवर्मन द्वितीय इस शाखा के मशहूर शासकों में हैं। विष्णुकुंडियों ने सातवीं शताब्दी की पहली चौथाई में चाळुक्यों के आने तक राज किया।

4.2.4 दक्षिणी कर्नाटक

दक्षिण कर्नाटक में पाँचवी शताब्दी की शुरुआत में एक वंश का उदय हुआ। इस वंश के राजा गंग या पश्चिमी गंग कहलाते हैं, ये उडीशा के पूर्वी गंगों से अलग थे। पश्चिमी गंगों ने अगले छह सौ सालों में शासन किया। इतने लम्बें संबंध के कारण यह क्षेत्र गंगवाड़ी कहलाने लगा। गंगवाड़ी एक अलग-थलग क्षेत्र है। पहाड़ियों से घिरा ये क्षेत्र कृषि की दृष्टि

से कहीं कम सम्पन्न हैं। इन्हीं दोनों कारणों से गंग लोग बिना अधिक बाहरी हस्तक्षेप के इतने लम्बे समय तक शासन कर सके। बहरहाल, सैनिक महत्व की दृष्टि से उनकी स्थिति लाभकर थी। उन्होंने बाद में पल्लवों और चालुक्यों के टकराव में एक बहुत अहम भूमिका अदा की। वे इन टकराओं में चालुक्यों के साथ रहे। उन्होंने पल्लवों और पांड्यों के टकराव में भी अहम भूमिका निभायी। उनके सम्बन्ध पल्लवों के साथ आमतौर पर अच्छे नहीं रहे। पहाड़ पर बने अपने किले नंदी दुर्ग से उन्होंने पल्लवों को खूब छकाया।

4.3 दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति

तमिलनाडु और केरल में संगम काल का अंत तीसरी शताब्दी के अंत तक हो गया। इस क्षेत्र का चौथी से छठवीं शताब्दी तक का इतिहास बहुत अस्पष्ट है। पल्लवों का शुरुआती इतिहास इसी काल का है। हमें उनके कांची से जारी किये गये तांबे के पत्तर वाले अभिलेख मिलते हैं। पल्लवों के राज्य का संबंध परम्परा से कांची क्षेत्र (पालर नदी की घाटी) या टोंडईमंडलम (टोंडई, पल्लव का तमिल पर्यायवाची है) के साथ रहा। लेकिन ऐसा लगता है कि इस दौर में कांची क्षेत्र उनके कब्ज़े में नहीं था क्योंकि उन्हें कालभ्र नाम की पहाड़ी जनजाति ने उत्तर की तरफ खदेड़ दिया था।

दरअसल, संगम काल के अंत से छठवीं शताब्दी के मध्य तक तमिलनाडु और केरल पर कालभ्रों का कब्ज़ा था, हमें उनके बारे में अधिक जानकारी नहीं हैं, लेकिन जो भी थोड़ी बहुत जानकारी उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे *ब्राह्मणों* के संस्थाओं के खिलाफ थे और बौद्ध और जैन धर्म के समर्थक थे, उन्होंने संगम युग के चेलों, चोलों और पांड्यों के राज को खत्म कर दिया, और वे ऐसी गैर खेतिहर पहाड़ी जनजातियों के लोग थे जिन्होंने बसी बसाई खेतिहर आबादी में भारी तबाही मचाई। ऐसा लगता है कि कालभ्रों ने उत्तर कर्नाटक में आने वाली चालुक्य राज्य की सीमाओं तक अपना विस्तार कर लिया था क्योंकि वे यह दावा करते हैं कि इन्होंने भी उन्हें हराया था। इस काल को ''कालभ्र अन्तराल'' के नाम से जाना जाता है।

4.4 चालुक्यों, पल्लवों और पांड्यों का उदय

छठवीं शताब्दी के मध्य से, दकन और दक्षिण भारत को राजनीति पर तीन शक्तियों की गतिविधियों का बोलबाला रहा। बादाभी के चालुक्य, कांची के पल्लव और मदुरा के पांड्या।

4.4.1 चालुक्य

पुलकेसिन प्रथम के राज्य के साथ चालुक्य एक प्रभुतासंपन्न शक्ति बन गये। उसने कर्नाटक के बीजापुर जिले में बादाभी के पास 543.4 सी.ई. में एक मज़बूत दुर्ग बनवाकर, अपने राज्य की बुनियाद डाली, और एक *अश्वमेध यज्ञ* किया। उसके उत्तराधिकारियों ने कदम्बों को उखाड़ फेंका और धीरे-धीरे उनके राज्य को अपने में मिला लिया, और कोंकण (महाराष्ट्र की तटीय पट्टी) के मौर्यों को भी अपने अधीन कर लिया। पुलकेसिन द्वितीय के अभियानों के साथ चालुक्य दक्कन की सबसे बड़ी शक्ति बन गये। क्योंकि दक्षिण में पश्चिमी गंगों और अलुपों ने और लाटों, मालवों तथा गुर्जरों ने उत्तर में उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। पुलकेसिन द्वितीय की सेना ने हर्षवर्धन की सेनाओं को नर्वदा के तट पर रोक दिया।

पुलकेशन द्वितीय ने आध्र डेल्टा के विष्णु कुंडियों को भी हटा दिया। लेकिन वह केवल अधीनता की मांग से संतुष्ट नहीं हुआ क्योंकि लगभग दस लाख एकड़ खेती योग्य भूमि

वाला कृष्णा-गोदावरी डेल्टा अपने आप में एक बहुत ही कीमती सम्पदा था। इसलिए 621 सी.ई. के आसपास उसने अपने छोटे भाई विष्णुवर्धन को अपनी जीत मज़बूत करने और डेल्टा को अपने कब्ज़े में करने के लिए भेजा। 631 सी.ई. में विष्णुवर्धन का अपना राज्य कायम करने की इजाजत मिल गई। इस तरह, वेंगी के चालुक्यों या पूर्वी चालुक्यों का वंश चला जिसने पांच सौ साल से भी ज़्यादा समय तक इस क्षेत्र पर कब्ज़ा बनाये रखा।

4.4.2 पल्लव

पल्लवों का उदय छठवीं शताब्दी के मध्य के आसपास सिंहविष्णु के साथ हुआ। उसने टोंडईमंडलम (कांची क्षेत्र) में कालभ्र अंतराल को खत्म कर दिया और अपने राज्य का विस्तार दक्षिण में कावेरी डेल्टा तक कर लिया। उसके बाद महेन्द्रवर्मन प्रथम आया, उसने उत्तर में कृष्णा नदी के क्षेत्रों को अपने में मिला लिया। पल्लव राजाओं ने पड़ोस के सरदारों और राजाओं को भी अपने अधीन कर लिया और इस तरह के बादाभी के चालुक्यों और पांड्यों के प्रभाव क्षेत्र में पहुंच गये। पांड्यों तक को कुछ अरसे के लिए उनकी अधीनता में रहना पड़ा। इस तरह सातवीं शताब्दी के मध्य तक पल्लवों के दक्षिण भारत में एक शक्तिशाली क्षेत्रीय राज्य कायम कर लिया था। उनकी शक्ति आठवीं शताब्दी के मध्य में दक्कन में चालुक्यों की जगह पर राष्ट्रकूटों के आने के साथ कमज़ोर होने लगे। दसवीं शताब्दी के शुरुआत तक, अपराजत के चोल प्रथम से हारने के साथ, पल्लवों राज्य का अंत हो गया।

4.4.3 पांड्य

छठवीं शताब्दी के अंत तक पांड्य कदुंगोन के साथ उस समय प्रकाश में आए, जब उसने कालभ्रमों का दमन कर दिया। पांड्यों ने तमिलनाडु के धुर दक्षिण के जिलों में राज किया, और वेंगई नदी की घाटी उनके राज की केंद्रीय भूमि रही। उन्होंने उत्तर में कावेरी डेल्टा पर और दक्षिण-पश्चिम में केरा (केरल) पर अपना कब्ज़ा बढ़ाने की लगातार कोशिश की।

4.4.4 अन्य शक्तियाँ

गंगों का दक्षिण कर्नाटक में गंगावाड़ी पर शासन चलता रहा। इसके अलावा, उस समय दक्कन और दक्षिण भारत में नोलम्ब, बाणु, सिलाहर जैसे कई और छोटे-छोटे राज्य और रियासतें भी थीं। उत्तर भारत की तरह यहां दूर तक लगातार फैली घटियां या मैदान नहीं हैं। रायचूर दोआब (तुंगभद्र और कृष्णा के बीच), कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, निचली कावेरी घाटी और वेंगई घाटी जैसी बड़ी नदी-घाटियों को उबड़-खाबड़ पहाड़ी क्षेत्रों ने एक-दूसरे से काट रखा है। इसके अलावा, खेती करने वाले क्षेत्रों को विभाजित करने वाले बड़े-बड़े जंगल भी थे। इस सबसे राजनीतिक विभाजन को बढ़ावा मिला और छोटी-छोटी राजनीतिक ताकतें अलग-थलग पड़े क्षेत्रों में पनप सकीं। ऊपर जिन अहम नदी घाटियों का उल्लेख किया गया है वे बादाभी (रायचूर दोआब) के चालुक्यों पल्लवों (पालार नदी घाटी) आदि अधिक बड़े राज्यों का साथ देने की स्थिति में थीं, और उन्होंने ऐसा किया भी, लेकिन इन क्षेत्रीय राज्यों में से किसी के लिए भी बाकी राज्यों पर अपना कब्ज़ा जमाना मुष्किल काम था, उत्तरी भारत के राज्यों से भी ज़्यादा मुष्किल काम। आगे चलुक्यों, पल्लवों और पांड्यों के आपसी टकराव का जो वर्णन किया जा रहा है, उससे यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है।

4.5 विभिन्न शक्तियों में टकराव

इस काल का इतिहास बादाभी के चालुक्यों तथा पल्लवों के बीच, और पांड्यों और पल्लवों के बीच अक्सर होने वाली लड़ाइयों से रंगा पड़ा है। दुश्मनी की शुरुआत चालुक्य वंश के पुलकेसिन द्वितीय के हमले से हुई, जिसने महेन्द्र वर्मन को हराकर पल्लव राज्य के उत्तरी भाग पर कब्ज़ा कर लिया। एक और अभियान में उसने रायलसीमा में पल्लवों के सामंतों को हरा दिया और एक बार फ़िर कांची को धमकी दे डाली। लेकिन, महेन्द्र वर्मन के उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मन प्रथम ने कई लड़ाइयों में उसे बुरी तरह हराया। नरसिंह वर्मन ने उसके बाद चालुक्यों पर हमला कर वादाभी को हथिया लिया और शायद पुलकेसिन द्वितीय को मार भी दिया। पुलकेसिन द्वितीय के बेटे विक्रमादित्य प्रथम ने स्थिति को संभाला। उसने पल्लवों को खदेड़ दिया, पांड्यों के साथ गठबंधन किया, और पल्लवों के राज्य पर बार-बार हमले किये। इस संदर्भ में, उसके एक उत्तराधिकारी, विक्रमादित्य द्वितीय, का राज्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि उसके बारे में कहा जाता है कि उसने तीन बार कांची को रौंदा और लूटा।

विशेष युद्वों और छोटी लड़ाइयों के विस्तार में न जा कर, यहां हम बस इतना ध्यान में रख सकते हैं कि पल्लवों को पांड्यों के साथ भी लड़ाइयां लड़नी पड़ी।

यह बात गौर करने लायक है कि इन टकरावों में हर बार निशाना पल्लव ही बने। इसका केवल यह कारण नहीं था कि वे चालुक्यों और पांड्यों के बीच स्थित थे, बल्कि इसका मुख्य कारण यह था वे सबसे अधिक संपन्न थे। यह बात अपने आप में अहम् है कि हमेशा चालुक्यों ने ही पल्लवों पर हमला किया और पल्लवों की चिंता बस उन्हें वापस उनके राज्य में धकेल देने की रही। इसका अकेला अपवाद था नरसिंह वर्मन प्रथम का चालुक्य राज्य पर हमला और इसकी राजधानी पर उसका कब्ज़ा। लेकिन यह एक बदले की कार्यवाही थी, और टकराव के इस इतिहास में यह बस एक बार हुआ।

एक और बार पल्लव परमेश्वर वर्मन प्रथम ने ध्यान हटाने की कार्यवाही के तौर पर चालुक्यों की राजधानी के खिलाफ अभियान छेड़ा था। परमेश्वर वर्मन ने अपनी राजधानी पर कब्ज़ा किये चालुक्यों की सेनाओं से पीछा छुड़ाने के लिये उनका ध्यान वहां से हटाने की गरज से वह कार्यवाही की थी।

पांड्यों के बारे में भी यह सही है, जिन्होंने कावेरी डेल्टा के कब्ज़े के लिये बार-बार पल्लवों के साथ लड़ाई की। संगम साहित्य और ह्वेन सांग के वर्णन से यह पता चलता है कि पांड्यों के राज्य की केन्द्र-वेंगई नदी घाटी खेती की दृष्टि से कहीं बदतर थी। पांड्यों ने अवश्य ही यह महसूस किया होगा कि अगर वे अमीर और शक्तिशाली होना चाहते हैं तो उन्हें संपन्न कावेरी डेल्टा पर कब्ज़ा करना होगा। लगता है दिमाग में इसी मकसद को रखकर उन्होंने पल्लवों से लड़ाई की होगी, और नौवीं शताब्दी के शुरुआती दौर तक उन्होंने आखिर इस क्षेत्र पर कब्ज़ा कर ही लिया था।

4.5.1 छोटे राजाओं की भूमिका

छोटे राजाओं और सरदारों ने क्षेत्रीय राज्यों के टकराव में इस या उस शक्ति के अधीनस्थ सहयोगियों के तौर पर हिस्सा लिया। पुलकेसिन द्वितीय को नरसिंह वर्मन प्रथम पर हमला करने से पहले पल्लवों के सहयोगी बाणों को शांत करना पड़ा था। इसी तरह, पल्लवों के सेनापति ने सबरा के राजा उदयन और निशादों के सरदार पृथ्वीव्याघ्र के साथ लड़ाई लड़ी, जो शायद चालुक्यों का साथ दे रहे थे। इन अधीनस्थ सहयोगियों ने केवल लूट में ही हिस्सेदारी नहीं की, बल्कि अपने राज्यों में नये क्षेत्र भी मिला लिये।

छोटे राज्यों को अलग से देखने पर हम उनमें कुछ विशेष ध्यान देने योग्य नहीं पाते हैं क्योंकि हर छोटे राज्य की अपने आपमें कोई अहमियत नहीं थी, उनकी स्थिति छोटी सी थी। लेकिन उन्हें साथ मिला कर देखने पर, वे सचमुच दक्कन और दक्षिण भारत के मामलों में एक जबरदस्त राजनीतिक शक्ति के रूप में सामने आते हैं यह तथ्य भी अपने आप में इतना ही उल्लेखनीय है कि चौथी से नवीं शताब्दी तक कोई भी राजा दक्कन और दक्षिण भारत पर अपना कब्ज़ा नहीं कर पाया। इन छह शताब्दियों तक, कई राजाओं की उत्साही कोशिशों और महत्वाकाक्षाओं के बावजूद राजनीतिक असमानता थी। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, राजनीतिक विपन्नता में, और छोटे राजाओं और सरदारों की अहमियत में भी खंडित भौगोलिक स्थिति का अपना एक योगदान था।

4.5.2 राजनीतिक टकरावों के अन्य आयाम

पल्लवों और चालुक्यों के आपसी टकराव का एक अहम नतीजा यह रहा कि लता या दक्षिण गुजरात के चालुक्यों की राजधानी का उदय, नरसिंहवर्मन के बादामी पर कब्ज़े और पुलकेसिन द्वितीय की मौत के परिणामस्वरूप, चालुक्य राज्य में भंयकर गड़बड़ी और राजनीतिक अव्यवस्था फैल गयी। इसकी एकता को बहाल करने तथा विघटनकारी शक्तियों का दमन करने के काम में, और चालुक्यों को खदेड़ने के काम में, विक्रमादित्य प्रथम को उसके छोटे भाई जयसिंहवर्मन ने बहुत मदद दी। बदले में विक्रमादित्य ने उसे दक्षिण गुजरात उपहार में दे दिया।

4.5.3 अन्य देशों के साथ संबंध

इस समय की दक्षिण भारत की राजनीति की एक अहम विशेषता थी श्रीलंका के मामलों में सक्रिय दिलचस्पी। चालुक्यों के साथ लड़ाई में हमें सुनने को मिलता है कि नरसिंहवर्मन प्रथम के साथ लंका का एक राजकुमार मारवर्मन था। उसे देश निकाला दे दिया गया था और उसने पल्लवी दरबार में शरण ली थी। बादाभी से लौटने के बाद नरसिंहवर्मन ने दो नौ सैनिक अभियान भेज कर मारवर्मन को अनुराधापुर का सिंहासन हासिल करने में मदद दी। बाद में, जब मारवर्मन से एक बार फ़िर उसका राज्य छिन गया तो, उसने पल्लव राजा से ही मदद ली। पांड्या भी श्रीलंका में गहरी दिलचस्पी रखते थे, जिसकी संपदा के लालच में उन्होंने इस क्षेत्र पर लूटपाट के इरादे में हमले किये।

पल्लवों के बारे में ऐसा लगता है कि उन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया की राजनीति में दिलचस्पी ली और उसे प्रभावित भी किया। यह संभव है कि नंदीवर्मन द्वितीय पल्लवमल्ल ने दक्षिण पूर्व एशिया से आकर आठवीं शताब्दी के मध्य में पल्लवों के सिंहासन का उत्तराधिकार लिया। हमें नंदीवर्मन द्वितीय के शक्तिशाली जहाजी बेड़े के बारे में भी सुनने को मिलता है, और थाईलैंड में उपलब्ध एक दस्तावेज़ में एक विष्णु मंदिर और एक तालाब पर उसकी एक उपाधि का उल्लेख मिलता है। बहरहाल, दक्षिणपूर्व एशिया में और अधिक प्रत्यक्ष हस्तक्षेप चोलों के साथ हुआ, जिन्होंने दक्षिण भारत में पल्लवों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया।

4.5.4 केरल

ऐसा लगता है कि इस काल में केरल पर पेरूमलों का राज रहा, हालांकि इस काल के राजनीतिक इतिहास का ब्यौरा नहीं मिलता। इस वंश का एक मशहूर शासक चेरामन पेरूमल (आठवीं शताब्दी के अंतिम वर्ष/नवीं शताब्दी के शुरुआत वर्ष) था। संभवतः उसने अपने धर्म और धार्मिक नीति का कुछ असाधारण ढ़ग से पालन किया, जिससे जैन, ईसाई, शैव और मुसलमान केवल एक संरक्षक के रूप में उसकी प्रशंसा ही नहीं करते, बल्कि यह

दावा भी करते हैं कि वह उनके धर्म को मानता भी था। मालाबार की संपन्नता ने बाहरी हमलावरों को हमेशा अपनी और खींचा। न केवल पांड्या केरल को हारने का दावा करते हैं, बल्कि यही दावा नरसिंहवर्मन, कई चालुक्य राजा, और बाद में जाकर राष्ट्रकूट भी करते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) निम्न वक्तव्यों में से कौन सा वक्तव्य सही (✓) है और कौन सा गलत (✗) है:

   क) सतवाहनों के पतन के बाद दक्कन पर एक ही वंश का राजनीतिक कब्ज़ा बना रहा। ( )

   ख) वाकाटक शांति प्रिय लोग लगते हैं। ( )

   ग) *संगम* काल के पतन के बाद तमिलनाडु और केरल पर कालभ्रों का कब्ज़ा रहा। ( )

   घ) दक्षिण भारत में टकरावों में निशाना पल्लव ही रहे। ( )

   च) मालाबार की संपन्नता ने हमलावरों को अपनी तरफ नहीं खींचा। ( )

2) चालुक्यों, पल्लवों और पांड्यों के बारे में आप क्या जानते हैं? लगभग पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) दक्षिण भारत की शक्तियों के टकराव किस किस्म के थे, विवेचना कीजिये। इसमें छोटे राजाओं की क्या भूमिका रही? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

4.6 राजनीतिक संगठन

आइये इन राज्यों के राजनीतिक संगठन की संक्षेप में चर्चा कर ली जाये।

4.6.1 राजा और प्रशासन का उच्चतर वर्ग

अब हम यह विवेचना करेंगे कि इन राज्यों में किस किस्म का प्रशासन विद्यमान था। सिद्धांत में तो राजा सभी अधिकारों का स्रोत होता था। उसके पास *महाराजा, भट्टारक, धर्ममहाराजाधिराज* जैसी ऊंची लगने वाली उपाधियां होती थी। शुरुआत में राजशाही वैदिक

आदर्श से चलती थी। हमें राजाओं के अभिलेखों में यह घोषणा मिलती है कि उन्होंने *अश्वमेध यज्ञ* कर, *वाजपेय यज्ञ* या *राजसूय* यज्ञ किये। इस दौर में इन यज्ञों की वह सामाजिक अहमियत नहीं थी जो वैदिक काल में थी। लेकिन उनका एक विशेष राजनीतिक अर्थ था क्योंक वे राजा विशेष की स्वाधीनता को रेखांकित करते थे और उसके शासन करने के अधिकार को उचित ठहराने वाले थे। इस तरह, चालुक्य राज्य के संस्थापक पुलकेसिन प्रथम ने अपने वंश के शासन की शुरुआत दिखाने के लिये एक *अश्वमेध यज्ञ* किया। बहुत से अन्य राजाओं ने भी यही किया। बहरहाल, धार्मिक माहौल बदलने के साथ, धीरे-धीरे राजशाही के आदर्श में भी बदलाव आया और राजसी वैदिक यज्ञों की रीति भी खत्म हो गयी।

दरबार में राजा की मदद के लिये मंत्री होते थे *युवराज* और शाही परिवार के अन्य सदस्य ऊंचे स्तरों पर सरकार चलाने के काम में अहम हिस्सेदारी करते थे। फ़िर अलग-अलग ओहदों वाले कई अधिकारी होते थे जो राजा के नाम पर प्रशासन के विभिन्न कामों को अंजाम देते थे। उनका एक अहम काम होता था करों को इकठ्ठा करना। एक मुख्य भूमि कर होता था जो उत्पाद का छठवां भाग या उससे ज़्यादा होता था, इसके अलावा कई विविध कर थे, जैसे कपड़ा बनाने वालों, मवेशियों, शादी की दावतों आदि पर लगने वाले कर। कर इकठ्ठा करने के अलावा राज्य के अधिकारी कानून और व्यवस्था बनाये रखने का काम करते थे और उनके सामने लाये जाने वाले अपराध और दीवानी झगड़ों के मामलों को भी निपटाते थे।

4.6.2 प्रशासनिक इकाइयाँ

राज्य की प्रशासनिक इकाइयों के श्रेणीबद्ध सोपान में बांटा जाता था। दक्कन में इन इकाइयों को *विषय, आहार, राष्ट्र* आदि कहा जाता था। आठवीं शताब्दी से दक्कन में राज्यों को दस-दस गांवों के गुणकों में बांटने की रीति की शुरुआत हुई। एक जिले में बारह गांव होते थे। पल्लवा राज्य में *नाडु* प्रशासन की मुख्य, स्थायी इकाई के रूप में उभरा।

इस काल के राजाओं ने कृषि और उनकी संपदा तथा शक्ति के मुख्य आधार, राजस्व की अहमियत को पहचाना। यह अपने आप में एक अहम बात है कि पल्लव काल में (और बाद में चोलकाल में) बुनियादी राजनीतिक इकाई *नाडु* का मतलब खेती योग्य भूमि भी होता था, जो *काडु* या खेती के अयोग्य भूमि से अलग थी। इसलिए, राज्य खेती के प्रसार को बढ़ावा देने की हर संभव कोशिश करता था। कदम्ब वंश के राजा प्रयूरसरमन के बारे में कहा जाता है कि उसने दूर-दूर से *ब्राह्मणों* को बुला कर बड़ी-बड़ी अनजुती जमीनों को खेती योग्य भूमि में बदल दिया। शायद इसी उद्देश्य से एक पल्लव राजा ने एक हजार हल दे डाले थे। इसके अलावा, क्योंकि दक्षिण भारत में खेती बहुत हद तक सिंचाई पर निर्भर करती थी, इसलिये पल्लवों ने नहरें, तालाब, झीलें और बड़े-बड़े कुएं बनवाने और उनकी संरक्षण में बहुत दिलचस्पी ली।

4.6.3 स्थानीय संगठन

दक्षिण भारतीय राज्यतंत्र, विशेषकर पल्लवी राज्यतंत्र, की एक आम विशेषता थी जन जीवन के सबसे अहम पहलुओं में स्थानीय सामूहिक एककों की अहमियत। ऐसे अनगिनत स्थानीय समूह और संगठन थे जिनका आधार *जाति,* दस्तकारी, व्यवसाय या धर्म होता था। इस तरह, दस्तकारों के संगठन थे, जैसे जुलाहों, तेलियों के संगठन, नानादेसी जैसे व्यापारियों के संगठन, मनीग्रामम और पांच सौ अय्यावोल के संगठन, विद्यार्थियों के, साधुओं के, मंदिर के पुराहितों आदि के संगठन। इसके अलावा, तीन अहम क्षेत्रीय संस्थायें थीं : *उर, सभा* और

नगरम। उर एक गैर-*ब्राह्मण* ग्राम सभा थी, *सभा* एक ऐसी ग्राम सभा थी जिसमें केवल *ब्राह्मण* होते थे, और *नगरम* एक ऐसी सभा थी जहां व्यापारिक हितों का बोलबाला होता था। *नगरम* के कुछ खेती संबंधी हित भी होते थे। हर सभा के सदस्य साल में एक बार मिलकर बैठते थे, जबकि दिन प्रति दिन के कामों को देखने के लिए एक छोटा अधिशासी निकाय था। हर समूह स्वायत्तता के साथ और प्रथा तथा रीति पर आधारित अपने संविधान के अनुसार काम करता था, और स्थानीय स्तर पर अपने सदस्यों की समस्याओं का समाधान भी करता था। उन मामलों में, जिनका प्रभाव एक से अधिक सभाओं या संगठनों पर पड़ता था, निर्णय आपसी सलाह-मशवरें से होता था।

सामूहिक इकाइयों के जरिये चलने वाले स्थानीय प्रशासन से सरकार का भार काफ़ी हल्का हो जाता था। इससे जनता को न केवल अपनी शिकायतें और समस्याएं कहने का मौका मिलता था, बल्कि इससे जनता पर खुद उनकी शिकायतें को दूर करने और समस्याओं को सुलझाने की ज़िम्मेदारी भी डाली जाती थी। इस तरह से राज्य का विरोध कम से कम होने के कारण उसका आधार भी मज़बूत होता था क्योंकि लोग सरकार को इन मामलों के लिये ज़िम्मेदार नहीं ठहरा सकते थे।

इसीलिये हमें पल्लव राजा स्थानीय स्वायत्तशासी सामूहिक संगठनों के काम में दखलंदाजी करते दिखाई नहीं देते। लेकिन वे अपना आधार मज़बूत करने की कोशिश जरूर करते थे, इसके लिये वे *ब्राह्मणों* को बुलाते थे, और विशेष अधिकार प्राप्त *ब्राह्मण* बस्तियां बनाते थे, *ब्राह्मणों* को भूमिदान करते थे। यह भूमिदान या तो प्रत्यक्ष (*ब्रह्मदान*) या किसी मंदिर के नाम पर (*देवदान*) होता था। पल्लव राज्य के केन्द्रीय क्षेत्रों में हर जगह ऐसी *ब्राह्मण* बस्तियां बसायी गयीं, ये केन्द्रीय क्षेत्र सिंचित धान की खेती वाले संपन्न क्षेत्र होते थे; उनकी संपन्नता पर पल्लवों की शक्ति निर्भर करती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, *ब्राह्मणों* की ग्राम *सभा* या *महासभा* कहलाती थी। बाद के पल्लव काल के दौरान सभा ने समितियों के माध्यम से शासन करने की व्यवस्था बनाई, इसे समिति व्यवस्था या *वरीयम* व्यवस्था कहा जाता है। यह दक्षिण भारत की *ब्राह्मण* बस्तियों में स्वायत्त शासन की एक विशेषता बन गयी। *सभा,* अधिकांश तौर पर इन समितियों के जरिये, कई काम निपटाती थी – जैसे, तालाबों और सड़कों की देखभाल, धर्मार्थ दानों और मंदिर के मामलों का प्रबंध, और सिंचाई के अधिकारों का नियमित करना।

दक्कन में, स्थानीय संगठनों और सभाओं की भूमिका कहीं कम स्पष्ट थी। सामूहिक संस्थाओं की जगह स्थानीय *महाजन* चालुक्यों के समय में गांवों और कस्बों में स्थानीय प्रशासन में हिस्सा लेते थे। गांवों में *महाजनों* का एक नेता होता था जिसे *गवुंडा* (या मुखिया) कहते थे। इन महाजनों के पास दक्षिण भारतीय सभाओं जैसी स्वायत्ता तो नहीं थी, लेकिन राज्य के अधिकारियों की उन पर नजदीकी देख रेख होती थी।

बहरहाल, *ब्राह्मण* बस्तियां पूरे दक्कन और दक्षिण भारत में भी मिल जाती थीं। हमें यह तो ठीक-ठीक नहीं पता कि दक्कन के *ब्राह्मण* अपने सामूहिक मामलों को किस तरह चलाते थे। लेकिन क्योंकि वे सभी राजाओं और सरदारों के बनाये होते थे, इसलिये यह जरूर कहा जा सकता है कि वे बस्ती में सरकार के हितों पर ध्यान रखते होंगे।

4.7 विभिन्न श्रेणी के शासकों के संबंध

बड़े राजाओं और उनके छोटे स्तर के मित्रों या सहयोगियों के संबंध को लेकर मतभेद हैं। व्यापक दौर पर, शक्तिशाली राजाओं, और छोटे राजा या सरदार किसी बड़े राजा का, विशेषकर पल्लवों को, धर्म के आधार पर अपना अधिपति मानते थे। पल्लव राजा बड़े

धार्मिक उत्सवों में हिस्सा लेते थे जिससे उन्हें एक ऊंची कर्मकांडी स्तर प्राप्त था। इसी ऊंचे कर्मकांडी स्तर का सम्मान छोटे राजा और सरदार करते थे। इस मत का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। इस मत से यह बात समझ में नहीं आती कि ये छोटे राजा पल्लवों के प्रति सम्मान को चालुक्यों के प्रति सम्मान में कैसे बदल सके, या अस्थिर राजनीतिक स्थितियों में वे किसी ऊंचे कर्मकांडी स्तर वाले राजा का सम्मान करना क्यों बंद कर देते थे और अपनी स्वाधीनता का ऐलान कर देते थे, या दुबारा क्यों वे दबाव में आकर कर्मकांडी स्तर का सम्मान करने को बाध्य हो जाते थे।

दूसरा मत इन छोटे राजाओं और सरदारों को बड़ी शक्तियों के सामंतों के रूप में मानता है। लेकिन सामंत एक तकनीकी शब्द है जिसका इस्तेमाल मध्ययुगीन पश्चिमी यूरोप में पाये जाने वाले एक विशेष किस्म के संबंध के लिये होता है। हम निश्चित तौर पर नहीं कह सकते कि क्या ऐसा ही संबंध पल्लवों या चालुक्यों और छोटे राजाओं और सरदारों के बीच भी था। इसीलिए हमने छोटी राजनीतिक शक्तियों के बड़ी राजनीतिक शक्तियों के साथ संबंध के लिये ''अधीनस्थ सहयोगी'' जैसे तटस्थ शब्द को वरीयता दी है।

बोध प्रश्न 2

1) प्रशासन में स्थानीय संगठनों की भूमिका की विवेचना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) विभिन्न श्रेणी के शासकों के बीच संबंधों की विशेषता बतायें।

.....

.....

.....

.....

.....

4.8 सारांश

इस इकाई में अपने छठवीं शताब्दी के मध्य तक की दक्कन और दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति के बारे में सीखा। इस काल के बाद हमें यह देखने को मिलता है कि चालुक्य, पल्लव और पांड्या क्षेत्र की बड़ी राजनीतिक शक्तियां थीं। कुछ छोटी शक्तियां भी थीं, लेकिन उनकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण नहीं थीं। बड़ी शक्तियां लगातार आपस में टकराती रहती थीं और छोटी शक्तियां इनमें इस या उस बड़ी शक्ति के साथ रहती थीं।

जहां तक राजनीतिक संगठन का संबंध है, राजा प्रशासन का केन्द्रीय अंग होता था और दूसरे अधिकारी उसकी मदद करते थे। दिन प्रति दिन के प्रशासनिक काम में स्थानीय संगठनों की भूमिका एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) क) × ख) ✓ ग) ✓ घ) ✓ च) ×

2) उत्तर भाग 4.4 के आधार पर दें।

3) उत्तर भाग 4.5 के आधार पर दें।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर उपभाग 4.6.3 के आधार पर दें।

2) उत्तर भाग 4.7 के आधार पर दें।

4.10 संदर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, अश्विनी (1980) *राइज़ एण्ड फॉल ऑफ़ इम्पीरियल गुप्ताज़*। दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।

गुप्ता, पी.एल. (1974) *द इम्पीरियल गुप्ताज़* । वाराणसी।

नीलकंठ शास्त्री, के. ए. (1974) *ए हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया*। नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 5 पल्लव, पांड्य और कलचुरी राज्य*

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 पल्लव

5.3 पांड्य

5.4 पल्लव-पांड्य संघर्ष

5.5 अंतर्काल और पतन

5.6 कल्चुरी

5.7 शासन प्रबन्ध

5.8 अर्थव्यवस्था

5.9 समाज

5.10 धर्म

5.11 साहित्य

5.12 कला और वास्तुकला

5.13 सारांश

5.14 शब्दावली

5.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.16 संदर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप इस बारे में जान पाएंगेः

- पल्लव, पांड्य और कलचुरी का राजनीतिक इतिहास और उसमें आया उतार-चढ़ाव;
- इन तीन राजवंशों का शासन प्रबन्ध और सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थितियाँ; और
- साहित्य और वस्तुकला के क्षेत्रों में उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ।

5.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाइयों में हमने उत्तर-सातवाहन काल के दक्षिण भारत और डक्कन में बसे विभिन्न राजवंशों के बारे में पढ़ा है। इस इकाई में हम तीन महत्वपूर्ण राजवंशों जैसे पल्लव, पांड्य और कलचुरी के बारे में विस्तृतरूप में अध्ययन करेंगे। प्राचीन तमिल क्षेत्र को '*तमिलाकम्* या *तमिलाहम्* नाम से सूचित किया जाता था जो वर्तमान में तमिलनाडु, केरल, पाण्डुचेरी, लक्ष्यद्वीप और आंध्रप्रदेश और कर्नाटक के दक्षिण हिस्सों के नाम से पहचाना जाता है। क्षेत्र के प्रमुख राज्य चोल, चेर और पांड्य थे जो संगम युग के दौरान लगभग 300 बी.सी.ई. से

*डॉ. ऋचा सिंह, इतिहास अध्ययन केन्द्र से पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

300 सी.ई. तक फैले हुए थे। इस इकाई में हम संगम युग के दौरान पांड्य वंश के बारे में जानेंगे और सुगम युग के बाद उनकी राजनीतिक शक्तियों में आये असंतोष की अवधि के साथ ही साथ उनकी शक्तियों के पुनः प्रवर्तन के बारे में पढ़ेंगे। अन्य राजवंश पल्लव और कलचुरी है। जिनके बारे में हम अध्ययन करेंगे। पल्लव दो नदियों पेन्नार और पौन्नैयार के बीच टोंडईमंडलम क्षेत्र में या वर्तमान तमिलनाडु के उत्तरी भाग में स्थित थे। कलचुरी की विभिन्न शाखायें है लेकिन हमारा मुख्य ध्यान मध्य भारत के कुछ हिस्सों में चेदी के कलचुरी पर और कर्नाटक के आधुनिक राज्य में कलयानी पर है।

इस मानचित्र में हम टोंडईमंडलम में पल्लवों के राज्यों और तमिलाहम में पांड्यों के साथ ही साथ वातापी के चालुक्यों के राज्य और उनके सहयोगी पश्चिमी गंगा राजवंश को देख सकते हैं। कालभ्रों का पल्लवों, पांड्य और चालुक्यों द्वारा विस्थापन होने के बाद पल्लव और चालुक्य छठीं शताब्दी बी. सी.ई. में पुनः संगठित हुए, जिसे हम स्पष्टरूप से देख सकते हैं। थॉमस लैसमन का फ्री डोमेन सामग्री से निर्मित।

श्रेयः योनमैन 331 । स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:South_India_in_AD_600.jpg) ।

5.2 पल्लव

पिछली इकाई में हमने देखा कि सातवाहनों के अंत के बाद अनेक राज्य उत्पन्न हुये। पल्लव उनमें से एक थे। वे सातवाहनों के सामंत थे जो अधिपति के पतन के बाद सत्ता में आये। हालांकि, उनकी उत्पत्ति पर बहुत बहस हुई है। कुछ इतिहासकार उनकी उत्पत्ति को पहलवा या पार्थियन से संबंधित मानते हैं, जो प्राचीन ईरान में प्रमुख राजनीतिक शक्ति हुआ करते थे, जिन्होंने 247 बी.सी.ई. से 224 सी.ई. तक राज्य किया। जबकि कुछ का ये मानना है उनकी उत्पत्ति अपने देश में हुई है न कि विदेश में। उनके अनुसार, वे स्वदेशी जन *जाति* / कबीला हो सकते हैं या एक *जाति*। ये कहा जाता है कि उनका सम्बन्ध वाकाटक कुल से था। दूसरा सिद्धान्त वैवाहिक गठंबधन के भूमिका की ओर प्रकाश डालता है जो उनकी उत्पत्ति को समझाता है और प्रतिपादित करता है। वैवाहिक गठंबधन के जरिए पश्चिमी *क्षत्रपों* के एक पहलवा मंत्री ने कांची की गद्दी प्राप्त की उसने शिवासकन्दा नाग-सातकर्णी की बेटी से विवाह किया। कुछ लोग मानते हैं कि वे चोल राजकुमार और मणियल्लवम की नाग राजकुमारी के उत्तराधिकारी थे।

उनके राजनीतिक इतिहास को समझने के उद्देश्य से उनके शासन को विभाजित किया जा सकता है और दो मुख्य भागों में अध्ययन किया जा सकता हैः

- पूर्व पल्लव
- शाही या उत्तरोत्तर पल्लव

पल्लव वंश से जुडे हुए कई पहलू अब तक स्पष्ट नहीं है और छठीं शताब्दी सी.ई. से शुरू हुए, शाहीं पल्लव के इतिहास के बारे में हमारे पास कुछ जानकारी है। वातापी या बादामी चालुक्यों और शाही पल्लवों के बीच निरंतर चलने वाले युद्ध शी पल्लव के इतिहास का एक बड़ा हिस्सा है। आरंभिक पल्लव शासकों के बारे में सटीक वंशावली तैयार कर पाना कठिन

है। कुछ विद्वान मानते हैं कि वीराकुरचा आरंभिक पल्लव के पहले महत्वपूर्ण शासक थे। ऐसा विश्वास है कि उन्होंने नाग राजकुमारी जो सातवाहन परिवार से सम्बन्धित थी, से विवाह किया। जब सावाहन वंश का पतन हुआ वह स्वतन्त्र हो गया। उसका पौत्र कुमार विष्णु ने कॉचीपुरम पर कब्ज़ा कर लिया और 200 सी.ई. में एक राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी कांचीपुरम थी आरंभिक पल्लव के आखिरी शासक के शासनकाल के दौरान कालभ्रों ने आक्रमण किया और उसे हरा दिया। इस तरह आरंभिक पल्लव के राज्य का अन्त हो गया।

पल्लवों ने टोंडईमंडलम में खोये हुए राजनीतिक महत्व को पुनः प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की जब सिंहाविष्णु (575-590 सी.ई.) ने कालभ्रों को हराया और इस तरह छठी शताब्दी सी.ई. में शाही पल्लवों का शासन शुरू हुआ। उसने चोल और पांड्य के विरूद्ध भी युद्ध लड़े। उसने *बिरूडा* (शाही उपाधि) की निम्नलिखित उपाधियां लीं:

- *अवानिसिम्हा* (धरती का शेर) और
- *सिम्हाविष्णुपोट्टर्यन*

महाबलिपुरम में आदिवराहा राह मंडप में एक उर्ध्ववृत्तचित्र में वह अपनी दो रानियों के साथ चित्रित है।

महेन्द्रवर्मन प्रथम (590-630 सी.ई.) अपने पिता की मृत्यु के बाद शासक बना। उसके शासन काल के दौरान पल्लव एक बहुत बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आए। उसके पास कई उपलब्धियाँ थी। वह अपने साहित्यिक कार्यों और मन्दिर-निर्माण कार्यों के लिए जाना जाता था और वह वीणा-वादन में भी निपुण था।

उसने कई कलात्मक कार्यों जैसे नाटक, चित्रकला, संगीत को बढ़ावा दिया व निम्नलिखित उपाधियाँ ग्रहण की:

- *मतविलास* (सुखों का आदी),
- *चित्राकरपुली* (चित्रकारों के बीच बाघ),
- *ललितांकुर* (आकर्षक संतान),
- *गुणभर* (गुणी),
- *चट्टाकरी* (मंदिर बनाने वाला), और
- *विचित्रचरित* (जिज्ञासु-मन वाला)।

इसके राज्यकाल के दौरान पल्लव-चालुक्य युद्ध शुरू हुये। पुलकेशिन द्वितीय वतापी के चल्लुयों का शक्तिशाली राजा जिसने पुष्याभुति राजवंश के महान शासक, हर्षवर्धन, के विरूद्ध एक महत्वपूर्ण युद्ध में विजय प्राप्त की। उसने महेन्द्रवर्मन को कांची के निकट परास्त किया। उसके बाद पुलकेशिन द्वितीय पल्लवों की राजधानी की ओर बढ़ा। महेन्द्रवर्मन ने अपनी राजधानी बचाने के उद्देश्य से चालुक्य शासक के साथ शान्ति समझौता किया और उसे अपनी राज्य का उत्तरी क्षेत्र दे दिया।

नरसिंहवर्मन प्रथम (630-668 सी.ई.) ने अपने पिता महेन्द्रवर्मन प्रथम की जगह ले ली। उन्हें सबसे महान पल्लव राजा समझा जाता है। उन्होंने ममल्ला (महान योद्धा) की उपाधि ली। उन्होंने चालुक्य शासक पुलकेसिन द्वितीय को हराया और मार दिया तथा चालुक्य राजधानी वातापी को नष्ट कर दिया। इस उल्लेखनीय जीत को मनाने के लिए उन्होंने वातापिकोंड (वातापी का विजेता) की उपधि ली। चोल, चेरा और पांड्य भी इसके

हाथों हार स्वीकार करने को मजबूर हुए। उन्होंने सिलोन पर दो बार आक्रमण किया ताकि वह मानयम्मा की सहायता कर सके जो एक निर्वासित सीलोनीज राजकुमार था। वह सिलोन की गद्दी को बचाने के लिए सहायता मांगने आया था। पल्लव शासक ने अपनी सेना राजकुमार के साथ सिलोन भेजी। यद्यपि मानयम्मा सिलोन की गद्दी पाने में सफल हुए पर ये सफलता लम्बे समय तक टिकी नहीं रही। उन्होंने दूसरी बार पल्लव शासक से सहायता की गुहार लगायी। दूसरा नौसेनिक अभियान ज़्यादा सफल हुआ और सीलोनीज राजकुमार अपनी शाही शक्ति को सुरक्षित और स्थिर कर पाये। नरसिंहवर्मन प्रथम शासनकाल के दौरान जब प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग 642 सी.ई. में कांचीपुरम की यात्रा करने आया।

महेन्द्रवर्मन द्वितीय (668-670 सी.ई.) अगले शासक थे। उनका शासनकाल संक्षिप्त था। पल्लव और चालुक्यों के बीच दुश्मनी ने पल्लव राजवंश में राजनीतिक उथल-पुथल पैदा कर दी। चालुक्य राजाविक्रमादित्य प्रथम ने पश्चिमी गंगा सम्राट की मदद से महेन्द्रवर्मन द्वितीय को हराया और मार दिया। इसी समय पल्लव राजधानी कांचीपुरम पर कब्ज़ा कर लिया गया और यह थोड़े समय के लिए बादामी के चालुक्यों के अधीन हो गया।

पर्मेष्वरवर्मन प्रथम (670-690 सी.ई.) ने चालुक्यों को हराने के कई प्रयास किये जिसमें अन्ततः उन्हें सफलता प्राप्त हुई। चालुक्यों पर अपनी विजय को मनाने के लिए अपने आप को ये उपाधियां दीं :

- *उग्रदण्ड* (प्रबल शासन), और
- ''रणरसिका नगर का विनाशक''।

रणरसिका उपाधि उसे चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य प्रथम के द्वारा दी गयी थी नरसिंहवर्मन द्वितीय के राज्यकाल (695-722 सी.ई.) शान्तिपूर्ण था क्योंकि दो राजवंशों के बीच लगातार होने वाले युद्धों का अन्त हो चुका था। उसने राजदूतों को चीन भेजा।

परमेश्रवर्मन द्वितीय (728-731 सी.ई.) को वतापी के शासक विक्रमादित्य द्वितीय के साथ एक अपमानजनक शान्ति संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े जब विक्रमादित्य द्वितीय ने कांचीपुरम पर हमला किया। उसे गंगा राजाओं के द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया गंगा राजा चालुक्यों के राजनीतिक मित्र थे। परमेश्रवर्मन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् नन्दीवर्मन द्वितीय (731-795 सी.ई.) गद्दी पर बैठा। वह पल्लवों की समानान्तर शाखा से सम्बन्धित था। यह कदव सिम्हविशु के भाई भीमवर्मन के वंशज थे और इस तरह कदव परिवार से संबंधित बाद के पल्लवों का राज्य शुरू हुआ। अपने पूर्वजों की तरह इसे भी विक्रमादित्य से युद्ध करना पड़ा जिसने पुनः पल्लव राजधानी पर आक्रमण किया। यद्यपि चालुक्य शासक ने इस समय तक कांचीपुरम पर कब्ज़ा कर लिया था फ़िर भी राजधानी को नष्ट नहीं किया और अपने क्षेत्र में वापस जाने का फैसला किया। यह राजनीतिक संघर्षों में देखी गई उदारता का एकमात्र दुर्लभ मामला है। इसे पांड्य शासक ने हराया लेकिन इसने पश्चिमी गंगों को हराने में सफलता प्राप्त की। उसके बाद शासक रहे :

क) दन्तिवर्मन

ख) नन्दीवर्मन तृतीय

ग) नृपतुंग, और

घ) अपराजित।

अपराजित आखिरी शाही पल्लव थे जिन्हें चोल राजाओं ने सामन्त बना लिया।

5.3 पांड्य

सटीक तरीके से पांड्य की उत्पत्ति के बारे में बताना कठिन है। इससे जुड़े कई सारे विचार हैं। हमें पांड्य सम्राटों के नामों का उल्लेख निम्न महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थों में मिलता है:

- *संगम* साहित्य
- *रामायण* और *महाभारत* महाकाव्यों में
- श्री लंकाई ऐतिहासिक ग्रंथ *महावंश* में
- कौटिल्य की *अर्थशास्त्र* में, और
- मेगस्थनीज़ की *इण्डिका,* जो मौर्य साम्राज्य के राजा चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार मे यूनानी राजदूत था।

कुछ इतिहासकार बताते है कि यह शब्द 'पांडय' से लिया गया है। ऐसा भी कहा जाता है कि अगर हम तमिल में 'पांड्य' शब्द के अर्थ को देखें तो इसका अर्थ पुराना नगर होता है इसकी उत्पत्ति की व्याख्या करने के लिए एक और अनुमान लगाया गया कि इसकी उत्पत्ति 'पन्डी' शब्द से हुई है जिसका तमिल में अर्थ 'वृश' होता है और तमिलाहम में वृश शक्ति और बहादुरी का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार यह तर्क दिया जाता है कि पांड्य शासक अपने आप की शक्तिशाली संप्रभु के रूप में प्रस्तुत करने के लिए इसका प्रयोग किया करते थे। पहले राजा जिसने 'पांड्य' की उपाधि ली, कुलशेखरन था उसके उत्तराधिकारियों ने भी इसी उपाधि को अपनाया और इस तरह से दावा किया जाता है कि पांड्य उपनाम राजवंश का पर्याय बन गया।

पल्लवों की तरह ही, पांड्यों के शासनकाल को निम्न भागों में वगीकृत किया जा सकता है :

1) आरंभिक पांड्य
2) प्रथम पांड्य साम्राज्य; और
3) द्वितीय पांड्य साम्राज्य।

संगम युग के दौरान आरंभिक पांड्य या संगम युग के पांड्य चेराओं और चोलाओं के समकालीन थे। ये पड़ोसी शक्तियाँ अपने स्वयं की राजनीतिक प्रभुता को स्थापित करने के लिए संघर्षो में लगी हुई थी। और जैसा कि हमने तमिल देश में संगम युग के बाद कालभ्रों की उत्पत्ति के बारे में पढ़ा है और साथ ही ये भी पढ़ा है कि उन्होंने पल्लव के शासन का अन्त किया, इसी तरह कालभ्रों आरंभिक पांड्यों के पतन का कारण बने। लेकिन पल्लव के तरह, पांड्य भी क्षेत्र में राजनीतिक पकड़ बनाने में सफल हुए। कावेरी नदी पल्लव और पांड्य के बीच सीमारेखा बन गयी।

पांड्य वंश का सबसे पहला ज्ञात शासक पाल्यगसलाई मुदुकुदुमी पेरूवालुडी था। नेदुन्चिल्यान प्रथम या अय्यप्पुदाई कादंथा नेदुन्चिल्यान इस राज्य के चौथे राजा थे। उसके राजसी उपाधि अय्यप्पुदाई कादंथा का मतलब आर्यों पर विजय थी। उसका नाम सिलापादिकारम नामक महत्वपूर्ण तमिल साहित्य में उल्लेखित है। यह चेरा राजकुमार इलंगो अडिगाल द्वारा लिखा गया है। इस कृति के अनुसार निष्पक्ष नेदुन्चिल्यान न्याय देने में असफल हुए। जब उन्होंने एक निर्दोष आदमी, जिसका नाम कोवलन था जिस पर महारानी की पायल चुराने का गलत आरोप लगाया गया था, को मौत की सजा सुना दी। नेदुन्चिल्यान द्वितीय

आरंभिक पांड्य का महानतम शासक था। उसने टोंडईमंडलम के युद्ध में चोला और चेरा की संयुक्त ताकतों के हराया। इस कारण वह तमिल क्षेत्र प्राप्त करने में सफल हुआ और अपने पांड्य का राज्य को बढ़ा पाया। संगम युग के बाद उसकी शक्ति में कमी आई और कालभ्रा इस क्षेत्र में एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरा।

- काडुंगोन ने छठी शाताब्दी में कालभ्रों को हराकर प्रथम पांड्य साम्राज्य की स्थापना की। उसके बाद प्रथम पांड्य साम्राज्य के शासकों ने निम्न उपाधिया लीं:
- *मारावर्मन,* और
- *सदायावर्मन* (भगवान शिव के उपासक) या *सादैंयां* (भय विनाशकों में एक)।

अरिकेसरी मारावर्मन इस साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण शासक था। पांड्य अभिलेखों से हम यह जानकारी मिलती है कि उसने चेरा को कई बार हराया और शासन कर रहे चेरा शासक को बन्दी भी बनाया। उसके बेटे-कोचाडिया रणधिरन – के शासनकाल के दौरान चालुक्य-पाड्य विद्रोह शुरू हुआ जिसमें बादामी के चालुक्यों को दक्षिणी गंगों की सहायता प्राप्त हुई। उसकी मृत्यु चोलाओं से युद्ध करते हुए हुई। उसका बेटा मारावर्मन राजसिम्हा प्रथम अगला शासक बना और उसने पल्लव शासक नंदीवर्मन द्वितीय के साथ कई युद्ध लड़े और पल्लव क्षेत्र का कुछ हिस्सा अपने कब्ज़े में कर लिया। उसने चालुक्य और गंगा राजाओं को भी हराया। चालुक्य शासक कीर्तीवर्मन द्वितीय ने अपनी बेटी का विवाह पांड्य राजा के पुत्र से करवाया। इस साम्राज्य का आखिरी शासक मारावर्मन राजसिम्हा तृतीय था। उसे चोला राजा परंटका प्रथम के द्वारा हराया गया। विजयी शासक ने पांड्यों की राजधानी पर कब्ज़ा कर लिया और मदुरईकोंडा की उपाधि ली। धीरे-धीरे जब चोला 10वीं शताब्दी मे फ़िर से उभरें, पाड्य की शक्तियों पर ग्रहण लग गया। आदित्य कारीकाला जो परंटका चोल द्वितीय का पुत्र था, ने पाड्य शासक वीर पाड्य को हराया

बाद में 13वीं शताब्दी में पांड्य फ़िर से शक्तिशाली हुए। मारावर्मन सुन्दरा पांड्य ने दूसरे पांड्य साम्राज्य की नींव रखी जब उसने चोल शासक कुलोथुंगा तृतीय को औपचारिक रूप से पांड्य प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए विवश किया। जटावर्मन सुन्दरा पांड्य सबसे प्रसिद्ध राजा हुए। इसी समय के दौरान साम्राज्य का क्षेत्रीय विकास बहुत अधिक सीमा तक सम्भव हो सका। उन्होंने काफ़ी सफलतापूर्वक तेलगु देश, कलिंग पर कब्ज़ा किया (वर्तमान समय में उडीशा) और सीलोन तक अपने क्षेत्र का विस्तार किया। कुलोथुंगा चोल तृतीय के बाद आये चोल राजा पांडयों की बढ़ती हुई शक्ति को लगाम लगाने में सफल न हो सके। चोलों को होयसाल द्वारा पांड्यों की शक्तियों को कम करने के लिए लगातार सहायता मिलती रही परन्तु चोल अपने क्षेत्रों, प्रतिष्ठा और शक्ति को लगातार खोते रहे। दक्षिणी भारत में पांड्यान प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आये। अखिकार मारावर्मन पांड्य प्रथम ने राजेन्द्र चोल तृतीय और शासन कर रहे होयसाल सम्राट की संयुक्त सेनाओं को मात दी। इस प्रकार चोल साम्राज्य का अंत हो गया। हालांकि चोलों के पतन के बाद भी पांड्य लम्बे समय तक जीवित नहीं कर सके। वीर पांड्य और सुंदरा पांड्य, जो मारावर्मन कुलशेखर पांड्य प्रथम के बेटे थे, के बीच उत्तराधिकार के युद्ध का परिणाम यह हुआ कि उनका राजनीतिक पतन हो गया।

5.4 पल्लव-पांड्य संघर्ष

संघर्ष और गठबंधन शासकों की राजनीतिक महत्वकांक्षा के परिणाम थे। इनके जरिए शासक अपनी सरकारों के उच्च क्रिया-कलाप के लिए ज़्यादा से ज़्यादा संसाधन प्राप्त किया करते थे। वातापी के चालुक्य और कांची के पल्लव लगातार एक दूसरे से युद्ध करते थे।

पल्लव शासक महेन्द्र वर्मन प्रथम ने पल्लव वंश के क्षेत्र को उत्तर से कृष्णा नदी तक विस्तार किया। विष्णुकुंडीन पल्लवों के उत्तर में बसे हुए पड़ोसी राज्य बन गए। पुलकेशिन द्वितीय ने विष्णुकुंडीन को हराया और विष्णुकुंडीन के राज्य क्षेत्र को चालुक्य वंश का हिस्सा बना लिया। चालुक्य राजा ने अपने भाई कुब्जा विष्णुवर्धन को जीते हुए क्षेत्र का वायसराय नियुक्त किया। बाद में विष्णुवर्धन ने पूर्वी चालुक्य वंश या वेंगी के चालुक्य राज्य की स्थापना की। विष्णुकुंडीन के पतन के साथ चालुक्य उत्तर की ओर पल्लवों का पड़ोसी क्षेत्र बन गया। इस तरह महेन्द्रवर्मन प्रथम और पुलकेसिन द्वितीय की विस्तार करने वाली नीतियों ने दोनों को युद्ध क्षेत्र में एक दूसरे के सामने लाकर खड़ा कर दिया। इसने दो वंशों के बीच निरंतर संघर्षों को जन्म दिया। तीसरा महत्वपूर्ण वंश जो वेंगी घाटी में मदुरै के पांड्या हुआ करते थे, ने इस संघर्ष में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ये तीनों राजनीतिक शक्तियाँ समकालीन हुआ करती थी और लगभग एक ही समय पर प्रसिद्वि प्राप्त कर सकी। पांड्य और चालुक्य पल्लवों के पड़ोसी राज्य थे। प्रत्येक अपनी क्षेत्र सीमाओं को एक दूसरे की कीमत पर बढ़ाना चाहते थे। पांड्य उपजाऊ कावेरी डेल्टा पर कब्ज़ा करने के लिए उत्सुक थे। उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए वातापी के चालुक्यों, जो लगातार पल्लवों के साथ युद्ध में संलग्न थे, को अपना राजनीतिक मित्र बनाना उचित समझा। अरीकेसरी पारांकुसा मारावर्मन प्रथम जो पांड्य शासक थे, पांड्य शासक ने चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम के साथ संधि की। और पल्लव क्षेत्र का कुछ हिस्सा अधिग्रहण करने का प्रयास किया। पांडया भी दूसरे पड़ोसी वंश चेरा के साथ युद्ध में थे ताकि अपनी क्षेत्रीय सीमाओं को विस्तार कर सके। युद्धों को लड़ना और जीतना शासकों के लिए हमेशा ही गर्व की बात हुआ करती थी। उन्होंने इसे विभिन्न तरीकों से दर्शाया। जंयतवर्मन (645-670 ई.) मारावर्मन अवानीसुलेमानी के पुत्र ने, वानावन की उपाधि ग्रहण की जो हमें बताती है कि वह चेरा के विरूद्व कुछ हद कर सफलता प्राप्त कर पाए थे। पांड्य ने सिंहल शासक सेना प्रथम की अवधि के दौरान सीलोन पर आक्रमण करने की कोशिश की, इस क्षेत्र को नष्ट किया और एक विशाल लूट को अंजाम दिया। सिंहल का उत्तराधिकारी शासक सेना द्वितीय ने पांड्य से बदला लेने के उद्देश्य से पांड्य राज्य पर आक्रमण किया और लूटकर एक बहुत बड़ा हिस्सा साथ ले गया।

पांड्य ने पल्लवों के आपसी झंगड़ों में हस्तक्षेप कर अवसरों की तलाश की। पांड्य राजा मारावर्मन राजसिम्हा प्रथम (735-765 सी.ई.) में चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य द्वितीय से सन्धि की और पल्लव राज्य की गद्दी के लिए चित्रमाया को समर्थन दिया। पांड्य शासक ने पल्लव राजा नन्दीवर्मन द्वितीय को कई बार हराया। इस उपलब्धि को उल्लेख करने के लिए उसने पल्लव भंजना (पल्लवों को तोड़ने वाले) की उपाधि ली। अन्त में चित्रमाया को नन्दीवर्मन द्वितीय के सेना नायक द्वारा मार दिया गया। पल्लवों के राजनीतिक मामलों में पांड्य के हस्ताक्षेप और पल्लवों पर निरंतर आक्रमण को देख नंदीवर्मन द्वितीय भयभीत हुआ और उसने मदुरई के पांड्य के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने की चेष्टा की।

कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासन काल में, दन्तीदुर्ग, जो चालुक्य का सामंत था और उच्च राजनीतिक महत्वाकाक्षायें रखता था, एक स्वतंत्र क्षेत्र को तलाशने का प्रयास कर रहा था। उसने, इस प्रक्रिया में, पल्लव शासक नन्दीवर्मन द्वितीय पर आक्रमण किया। नन्दीवर्मन द्वितीय ने दन्तीदुर्ग के साथ भयंकर लड़ाई लड़ी और इसीलिए वार्ता के बाद, दन्तीदुर्ग ने अपनी पुत्री रेवा का विवाह नंदीवर्मन द्वितीय से करवाया। इसी बीच, दन्तीदुर्ग ने कीर्तिवर्मन द्वितीय को हराया और मान्याखेत के राष्ट्रकूट सामाज्य की नींव डाली। तभी चालुक्यों ने, जिनकी संधि पश्चिमों गंगा वंश के साथ थी पल्लवों के विरूद्व कई लड़ाइयाँ लड़ी। पल्लव के राजनीतिक प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से पांड्यों ने चालुक्यों को अपना राजनीतिक सहयोगी बनाया। इसी तरह नन्दीवर्मन द्वितीय वैवाहिक संधि के बाद पांड्यों की शक्ति को

कम करना चाहते थे इसीलिए वातापी के चालुक्य को दंडीदुर्ग के द्वारा विस्थापित कर दिया गया। पल्लव शासक पांड्यों के विरूद्व शासकों को सहयोग देकर उनके आत्मविश्वास को बढाने की कोशिश कर रहे थे। कोंगु नामक राज्य दक्षिण गंगा वंश के निकट स्थापित था। संघ के राज्यों में एक था। कोंगु के शासक को पांड्य द्वारा शिकस्त दी गयी और उसके राज्य की पाड्य क्षेत्र में मिला दिया गया। पाड्य पल्लव क्षेत्र में भीतर तक घुस गये। पल्लव पांड्यों की बढ़त को दबाने में असफल रहे। फ़िर भी, कई पराजयों और विजयों के वावजूद, कोई भी पक्ष लम्बे समय तक क्षेत्रीय विस्तार व लाभ का दावा न कर सका। निरंन्तर आक्रमण और आपसी हमले और हानियॉ व लाभ होते रहे।

5.5 अंतर्काल और पतन

कालभ्रों ने पांड्यों को कूचल दिया। इस तरह पांड्य शासन में अनिरंतरता का काल प्रारम्भ हुआ। इसीलिए इस समय को कालभ्र अंतर्काल के नाम से जाना जाता है जो तीसरी से 6-7वीं शताब्दी तक रहा। कालभ्र के उद्गम के बारें में कोई जानकारी नहीं है। ऐसा माना जाता है कि छठीं शताब्दी के अन्त और 7वीं शताब्दी के शुरुआत में काडुंगन के अन्तर्गत पांड्य फ़िर से अस्तित्व में आये। उसने पांड्य शक्तियों को फ़िर से संगठित किया। पल्लवों को भी कालभ्र का सामना करना पड़ा और बाद में सिंह विष्णु के अन्तर्गत वे फ़िर से संगठित हुए। वह शाही पल्लव वंश के संस्थापक बने। कालभ्र के अंतर्काल के समाप्त होने के बाद, ये राज्य दुबारा फलीभूत हुए।

एक समृद्ध शक्ति के रूप में पल्लवों के सम्मान को एक गहरा धक्का लगा जब चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लव वंश पर आक्रमण किया और कांचीपुरम पर कब्ज़ा किया। बाद में कुम्भकोनम के निकट पांड्य शासक श्रीमारा श्रीबल्लभ (5-862 सी.ई.) ने नंदिवर्मन तृतीय का दमन कर दिया। पल्लव राजा की मृत्यु के बाद उनके तीन बेटों के बीच उत्तराधिकार को लेकर युद्ध हुआ। इस शक्ति संघर्ष में शाही भाईयों में एक नुपटुंगा की मौत हो गयी। चोल राजा आदित्य चोल ने पांडय शासक कमवर्मन के साथ मिलकर दूसरे पल्लव भाई अपराजिता को हरा दिया जबकि तीसरे ने 10वीं शताब्दी के आगमन के समय ही शाही चोल के अधिपत्य को स्वीकार किया। इस तरह, आखिरकार यह गृह युद्ध शाही पल्लव के शासन के विघटन का कारण बना। इसके अतिरिक्त पल्लव चालुक्यों जिन्हें पश्चिमी गंगों का समर्थन प्राप्त था के विरूद्व लगातार युद्व में लीन रहे। पांड्य, राष्ट्रमिठ और चोल ने भी जब भी उन्हें मौका मिला, राज्य पर आक्रमण किया।

इसी तरह, पांड्य राज्यवंश में भी उत्तराधिकार को लेकर किये गये युद्व ने गृह युद्व की स्थिति उत्पन्न की, जो उनके पतन के कारणों में से एक था। 1311 में मलिक कफूर- अलाउद्दीन खिलजी का सैन्य अधिकारी- ने मदुरै पर आक्रमण किया। इस समय दो भाईयों वीरा पांड्य और सुन्दरा पांड्य के बीच राजगद्दी के लिए युद्ध चल रहा था। ऐसा कहा जाता है कि कफूर के सभी दक्कन और दक्षिण भारत का सैन्य अभियानों में भौतिक रूप से मदुरै पर आक्रमण सबसे सन्तोषजनक था। यह सिद्ध करता है कि पाड्य एक धनी राज्य था लेकिन आक्रमण ने उनकी स्थिति को कमज़ोर कर दिया था। इस तरह पांड्या के सांमत अपनी शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से लागू कर सके। पांड्य तक अपनी उत्तरी क्षेत्र को काकातियों को हार गए। बाद में दिल्ली सल्तनत ने दो और आक्रमण किये। अन्तिम उल्लघ खान (मोहम्मद बिन तुगलक) द्वारा किया गया, और इस समय पांड्य क्षेत्र पर कब्ज़ा कर लिया गया और सल्तनत में मिला दिया गया। लेकिन मोहम्मद बिन तुगलक के शासन काल के दौरान (1325-1351 ई.) सल्तनत ने मदुरै पर अपना अधिकार खो दिया और मदुरै सल्लतनत की स्थापना हुई।

बोध प्रश्न 1

1) पल्लव शासक नरसिंहवर्मन प्रथम ने वातापीकोंडा की शाही उपाधि को क्यों ग्रहण किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) पल्लव-चालुक्य संघर्षों में पश्चिमी गंगा वंश ने क्या भूमिका निभाई थी?

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्न के बीच होने वाले संघर्षों पर प्रकाश डालें।

i) पल्लव और पांड्य

अथवा

ii) पल्लव और चालुक्य

.....

.....

.....

.....

.....

4) उत्तराधिकार को लेकर किये गये युद्ध कैसे पांड्य और पल्लव वंशों के पतन का कारण बने?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

5.6 कल्चुरी

अब हम कालचुरी वंश के राजनीतिक इतिहास के बारे में जानेंगे। इनको हैहयास के नाम से भी जाना जाता है। कलचुरी के इतिहास की उत्पति बहुत स्पष्ट नहीं है। वे क्षेत्रिय जनजाति से सम्बन्ध रखते थे। इनका उल्लेख महाकाव्य और *पुराणों* में मिलता है। माहिश्मती के प्रारंभिक कलचुरियों या कलचुरियों का उदय वर्तमान गुजरात, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में हुआ था। इस राजवंश के कुछ महत्वपूर्ण शासक थेः

- कृष्णराज,
- शंकरगण, और
- बुद्धराजा

उन्होंने 550-620 सी.ई. तक शासन किया। शुरुआती कलचुरियों को उनके पड़ोसी राज्यों वातापी के चालुक्यों और वल्लभी के मैत्रकों के कारण कठिनाई का सामना करना पड़ा। इन दोनों राज्यों को उन पर राजनीतिक दबाव था और आखिरकार, उनकी शक्ति कम हो गई। बुद्धराज को अपने काल में दो बार चालुक्यों के खिलाफ लड़ना पड़ा। पहली लड़ाई में वह मंगलेश से हार गया था और दूसरे में वह पुलकेशिन द्वितीय से हार गया था। इन पराजयों ने हालांकि कलचुरियों को कमज़ोर कर दिया गया था फ़िर भी वे जीवित रहे। पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यों के साथ उनके वैवाहिक संबंध थे।

9वीं शताब्दी तक हम कलचुरी की अनेक संपार्श्विक शाखाओं से अवगत हुए। इनमें से प्रमुख थेः

- चेदि के कलचुरी (जिसे त्रिपुरी के कलचुरियों के रूप में भी जाना जाता है), और
- दक्कन के कलचुरी।

कलचुरियों की कुछ अन्य शाखाएँ भी थीं, जैसेः

- रतनपुर के कलचुरीं,
- दक्षिण कोशल के कलचुरी,
- गोरखपुर के कलचुरी,
- रायपुर के कलचुरी आदि।

रतनपुर के कलचुरी राजवंश की स्थापना कोकला प्रथम के एक पुत्र, चेदि का कलचुरी शासक द्वारा की गई थी। प्रारंभ में यह चेदि के कलचुरियों के अधीन था। 12वीं शताब्दी में जज्जलदेव प्रथम के अंतर्गत यह स्वतंन्त्र हो गया। उन्होंने शाही उपलधियां धारण कीः

- *धर्ममहाराजाधिराज,* और
- *परमेश्वर*

रतनपुर के कलचुरी ने दक्षिण कोशल पर विजय प्राप्त की। बाद में, रतनपुर कलचुरी से एक और शाखा उत्पन्न हुई और इसे रायपुर के कलचुरी के रूप में जाना गया।

चेदी के कलचुरी और दहल-मंडला शासकों ने अपनी राजधानी त्रिपुरी से शासन किया जो अब मध्य प्रदेश में जबलपुर के पास एक गाँव है। इस शाखा के प्रथम महत्वपूर्ण राजा कोकला प्रथम थे, जिनका शासनकाल लगभग 845 सी.ई. में शुरू हुआ। उन्होंने प्रतिहार सम्राट भोज प्रथम को हराया। उन्होंने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय को भी पराजित किया था, जिनकी हार के बाद राष्ट्रकूटों ने कलचुरियों के साथ वैवाहिक संबंध रखना शुरू कर

दिया था। इस प्रकार, हम देखते हैं कि कोकल्ला प्रथम अपने सैन्य कौशल और सफलताओं के माध्यम से कलचुरियों की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सक्षम रहा। उसके बाद उसका बड़ा बेटा शंकरगणा गद्दी पर बैठा। उनकी मृत्यु के बाद, बल्हारशाह सत्ता में आया, उसके बाद युवराज प्रथम। उसकी अवधि के दौरान हुई सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय और उसके बीच की लड़ाई थी, जिसमें वह पराजित हुआ। उसके राज्य पर कृष्ण तृतीय का कब्ज़ा हो गया। लेकिन कृष्ण तृतीय लंबे समय तक कलचुरियों से हड़पे हुए क्षेत्र को नहीं रख सके। युवराज प्रथम, अपने हारे हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने में सफल रहा। उसके बाद लक्ष्मणराज, युवराज द्वितीय और कोकल्ला द्वितीय कलचुरी सिंहासन पर बैठे।

इसके बाद गंगेयदेव का महत्वपूर्ण शासन प्रारम्भ हुआ। इसे कलचुरी का महानतम राजा माना जाता है। उसके शासनकाल के दौरान कलचुरी एक महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति बन चुका था। उसने विक्रमादित्य की उपाधि ली। उसने विस्तारवादी नीतिओं को अपनाते हुए अपने राज्य के विस्तार करने की कोशिश की। उसने दक्षिण कोशल के राजा – महाशिवगुप्त यायाति का दमन किया और त्रिकालिंगाधिपति (त्रिकालिंगा के भगवान) की उपाधि ली। उन्होंने पाल सम्राट महीपाल प्रथम को भी हराया और बनारस पर कब्ज़ा कर लिया। उन्होंने चालुक्य राजा जयसिम्हा के खिलाफ पारमारों और चोलों के शासकों के साथ एक गठबंधन बनाया लेकिन जयसिम्हा ने उन्हें हरा दिया। बाद में, पारमार शासक और साथ ही बुंदेलखंड के चंदेल राजा ने भी उसे हराया। गंगेयदेव के बाद कई कलचुरी नरेश एक के बाद एक सफल हुए। विजयसिम्हा चेदि कलचुरियों का अंतिम शासक था।

12वीं शताब्दी के दौरान एक राजनीतिक इकाई के रूप में कल्याणी कलचुरी अस्तित्व में आया। उनका शासन लगभग 1156 से 1181 सी.ई. तक था। उन्होंने वर्तमान कर्नाटक और महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों पर शासन किया। हालाँकि उन्होंने बहुत संक्षिप्त अवधि अर्थात् 25 वर्षों तक के लिए शासन किया था। उनका शासन बिना किसी महत्व के नहीं था। बिज्जला द्वितीय इस राजवंश का संस्थापक था और कलचुरियों की इस शाखा का सबसे महत्वपूर्ण शासक भी था। इससे पहले, उन्हें चालुक्य वंश के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया था। लेकिन, उन्होंने तेला तृतीय के शासनकाल के दौरान अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र – सोमेश्वर और संगम – कल्याणी के राजगद्दी पर बैठे, लेकिन वे इतने मज़बूत नहीं थे कि वे कलचुरियों की शक्ति कायम रख सकें और चालुक्य अपने खोए हुए क्षेत्र को पुनः प्राप्त कर सकें।

5.7 शासन प्रबन्ध

नीचे दिये गए भाग में हम उपरोक्त में उल्लेखित किये गये वंशों के दौरान प्रशासन, अर्थव्यवस्था, समाज, धर्म, साहित्य, कला और वास्तुकला से परिचित होने जा रहे हैं।

पल्लवों के प्रशासन को समझने के लिए हम उनके केंद्रीय प्रशासन और स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों को देखेंगे। पल्लवों के पास वंशानुगत राजतंत्र था। राजा अपने राज्य में सर्वोच्च अधिकारी थे, न्यायपालिका विभाग के सर्वोच्च प्रमुख, सेना के सर्वोच्च नेता आदि। उन्होंने धर्म-महाराजा की उपाधि को इसलिए अपनाया कि वे धर्मशास्त्रों[1] के सिद्धांतों के अनुसार

[1] संस्कृत धर्मशास्त्रीय साहित्य की एक शैली; धार्मिक कर्तव्यों और धार्मिक आचरण के लिए नैतिक कानूनों और सिद्धांतों का प्राचीन संकलन जिसे एक हिंदू द्वारा पालन किया जाता है। उदाहरण के लिए, *मनुस्मृति* या *मानव धर्मशास्त्र* (दूसरी शताब्दी बी.सी.ई.-तीसरी शताब्दी सी.ई.)। वे पहली सहस्राब्दी बी. सी.ई.को दिए गए प्राचीन धर्मसूत्र कोश पर आधारित हैं, जो स्वयं द्वितीय सहस्राब्दी बी.सी.ई से दूसरी सहस्राब्दी बी.सी.ई.के शुरुआती शताब्दियों के बीच रचित वेदों की साहित्यिक परंपरा से उभरा था।

अपने राज्य का संचालन करते थे। पल्लव प्रशासनिक प्रणाली अच्छी तरह से संरचित थी। अमात्य नामक नियुक्त मंत्री राजा को अपनी सेवाएं और सहायता प्रदान करते थे। सरकारी विभागों का नेतृत्व शाही सदस्यों जैसे कि राज्य के शाही कुमार करते थे। शाही परिवार के सदस्यों के अलावा प्रतिष्ठित सेना-अधिकारियों को भी शाही विभागों की देखरेख का काम दिया जाता था। राजवंश के पास एक सुव्यवस्थित सेना थी। पल्लव साम्राज्य के प्रशासनिक विभाग गुप्त साम्राज्य के समान थे। राज्य के क्षेत्र को पल्लव शिलालेखों में राष्ट्र, देश या मंडला कहा जाता है। क्षेत्र के लिए ये शब्द गुप्त शिलालेखों में भी पाए जाते हैं। पूरे राज्य या राष्ट्र को कई प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित किया गया था:

- *कोट्टम,* और
- *नाडु*।

प्रत्येक कोट्टम राजा द्वारा नियुक्त अधिकारियों की देखरेख में था। ग्राम सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई थी। गांवों के प्रशासन की देखभाल के लिए कई स्थानीय विधानसभाएं थीं जो प्रकृति में स्वायत्त थीं। सभा और उर उनमें से सबसे महत्वपूर्ण थे। सभा आम तौर पर ब्रह्मादेय गाँवों (*ब्राह्मणों* को दिए गए गाँव) में पाए जाते थे। इसलिए, वे ऐसी सभाएँ थीं जिनके सदस्य *ब्राह्मण जाति* के थे। उर में विभिन्न जातियों के लोग शामिल थे। ये स्व-शासित विधानसभाएँ निम्नलिखत कार्यों में शामिल थीं:

- मंदिरों का प्रबंधन,
- सिंचाई टैंकों की मरम्मत कराना।
- दानशील कार्यों को करना आदि।

ग्राम सभाएँ पल्लव वंश के विभिन्न हिस्सों में कार्य कर रही थी और ग्रामों के प्रभावी कामकाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी लेकिन केन्द्रीय सरकार से जुड़े हुए उनके कार्यों विभिन्न पहलुओं के बारे मे कोई जानकारी नहीं है। केन्द्रीय सरकार और ग्राम कृषि योग्य और बेकार भूमि जल निकायों जैसो नदियाँ और झीले कुएँ और सिचाई टैंक या कृत्रिम जलाशय, राज्य में पाई जाने वाली चट्टानों और पेड़ों का भी एक सम्पूर्ण लेखा जोखा रखते थे। क्योकि ये भूमि के लिए महत्वपूर्ण संसाधन थे। राज्य के राजस्व का प्रमुख स्त्रोत भूमि कर था। फ़िर भी निम्न से कोई कर नहीं लिया जाता था:

- देवदान (मंदिरों को दी गई भूमि),
- अग्रहार (*ब्राह्मणों* द्वारा बसाई गई भूमि), और
- ब्रह्मदेय (*ब्राह्मण* या पुरोहित वर्ग के समूह को दी गई भूमि)।

अन्य प्रकार के कर भी थे जैसे :

- *ईराइ*
- *कानम*
- *पूची,* और
- *पातम।*

बुनकरों पर लगाये गये कर को थन ईराइ और शिल्पकारों पर लगाया गया कर कुसकानम कहा जाता था। ताड़ी-उत्पादक, तेली (तेल निकालने वाले), सुनार, पशुपालान करने वाले, धोबी, कपड़ा निर्माता आदि को कर चुकाना पड़ता था। ग्रामों से दो तरह के कर लिये जाते थे।

1) भूमि का राजस्व जो किसान भुगतान करने के लिए बाध्य थे। यह भूमि की उपज के एक-छठे से एक-दसवें तक होता है। यह गांव द्वारा एकत्रित किया जाता था और राज्य समाहर्ता (collector) को दिया गया था।

2) दूसरा प्रकार का कर स्थानीय था।

ये कर ग्रामों से जमा किये जाते थे और रखरखाव के लिए प्रयोग किये जाते थे।

विभिन्न साधनों से लिये गये करों को राजा और उसके परिचारक वर्ग पर, उसकी सेना और नौसेना आदि के रखरखाव के लिये व्यय किया जाता था। पल्लव ने एक विशाल सेना को बनाये रखा था। पैदल सैनिक, घुड़सवार, हाथी और रथ सेना की चार शाखायें थीं। चुकि अच्छी नस्ल के घोड़े स्थानीय जगहों पर उपलब्ध नहीं होते थे, इस कारण पल्लवों को उत्तरी भारत या दक्षिणी एशिया से आयात कराने पड़ते थे। इसी कारण इन्हें राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा सेना के घुड़सवारों पर व्यय करना पड़ता था। उनके पास नौ सेना भी थी।

जैसा कि हमने पहले चर्चा की है, जब पल्लव राजा नृसिंहवर्मन के दरबार में सीलोनियों का निर्वासित राजकुमार आया था, उसने दो नौसेना अभियान सीलोन भेजी थी।

पांड्य शासक वेदांर (अभिशिक्त शासक) थे। पल्लव पांड्य की तरह उनका शासन भी आनुवंशिक था बावजूद इसके, उत्तराधिकार के युद्ध होते रहते थे। उच्चतम न्यायालय सभा या मनरम थे। पाण्ड्यों के राज्य मंडलम (प्रांतों) में विभाजित किया गया था और मंडलम को नाडु या वलनाडु (उप-प्रांतों) में विभाजित किया गया था। एक नाडु में कई गाँव शामिल थे। गाँव प्रशासन की देखभाल के लिए निम्नलिखित पाँच वरियम्स (समितियाँ) नियुक्त की गईं:

- *नीरनिलई वरियम,*
- *अरनिलया वरियम,*
- *ननया वरियम,*
- *वरीथंडल वरियम,* और
- *नीधी वेरियम।*

वरियम ग्राम संगठन की एक विशिष्ट विशेषता बन गया। खेती में लगे लोगों को *भूमिपुत्र* के रूप में जाना जाता था।

5.8 अर्थव्यवस्था

गुप्त काल के बाद से उत्तर भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत में भूमि-अनुदान की प्रथा लगातार होती गई। यह कृषि भूमि के विस्तार में उपयोगी थी क्योंकि कई अक्षत भूमि को दान दी जाती थी। पल्लव साम्राज्य बहुत समृद्ध था। पल्लव अभिलेखों से पता चलता है कि पल्लव शासकों ने कई भूमि-अनुदान किये। उन्होंने मंदिरों के रखरखाव के लिए भूमि दान की जो महत्वपूर्ण आर्थिक केंद्रों के रूप में उभरे। उन्हें समृद्ध दान प्राप्त हुये। उन्हें मगामई नामक ग्रामीणों के समूह से खाद्यान्न का अनिवार्य दान प्राप्त होता था। मंदिरों में कोयल परिवारम (अनुष्ठान विशेषज्ञ) थे। वार्षिक त्यौहारों पर ये लोग एक बड़े पैमाने पर लोगों को आकर्षित करते थे व अनुदान प्राप्त करते थे।

ह्वेनत्सांग, जिन्होंने कांचीपुरम की यात्रा की थी, ने अपनी रचना में पल्लव की राजधानी का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पल्लव क्षेत्र बहुत उपजाऊ था और इसलिए, कृषि क्षेत्र

का विकास हुआ। कृषि उत्पादन अधिक था। वन भूमि का उपयोग खेती के लिए भी किया जाता था। इसलिए, जंगलों ने न केवल लकड़ी और हाथियों को प्रदान किया, बल्कि कृषि भूमि के विस्तार में भी मदद की। पल्लवों ने राज्य के विभिन्न हिस्सों में कृषि को बढ़ावा देने के लिए सिंचाई की सुविधा प्रदान की थी। कई सिंचाई टैंक बनाए गए थे और कुछ आज तक बच गए हैं। कई बड़े सिंचाई टैंक बताते हैं कि उन्हें बड़ी संख्या में विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। गांव के कई लोगों के पास टैंकों के निर्माण और उचित रखरखाव की देखभाल के लिए एक अलग टैंक पर्यवेक्षण समिति थी।

पल्लव काफ़ी हद तक चालुक्यों और पांड्यों के साथ संघर्ष में लगे हुए थे। लेकिन शांतिपूर्ण समय के दौरान वे अपने राज्य में व्यापार और वाणिज्य में सुधार की ओर अधिक ध्यान दे सकते थे। नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिम्हा (700-728 सी.ई.) ने तुलनात्मक रूप से शांतिपूर्ण शासन का आनंद लिया था क्योंकि उनके समय में चालुक्य शासक के साथ लड़ाई नहीं लड़ी गई थी। समुद्री व्यापार को बढ़ावा मिला। महाबलीपुरम एक व्यस्त पल्लव बंदरगाह था और यहाँ जहाजों, पर सामान लादना व उतारना होता था। जब पल्लव सम्राट नरसिंहवर्मन प्रथम ने सीलोन के लिए दूसरी बार अपना नौसेना अभियान भेजा तो बंदरगाह से उनकी सेना को भेजा गया। उनके पास नागपट्टिनम में जहाज बनाने का स्थान भी था।

पांड्यों के पास आंतरिक और बाहरी दोनों तरह से समृद्व व्यापार था। वही अनेक विभिन्न प्रकार के व्यापारी (*वणीयार*) थे जैसेः

- नमक
- सोना
- धार-फार
- कपड़ा आदि।

वे कई व्यापारिक सहकारी समितियों में संगठित थे। बाहरी व्यापार में लगे लोगों को पराव या परतवत कहा जाता था। नगरत्तर एक अन्य प्रकार के सक्रिय व्यापारी थे। पांड्यों ने मसाले (विशेष रूप से काली मिर्च), लकड़ी, सोना और चंदन का निर्यात किया। लेकिन निर्यात की प्राथमिक वस्तु मोती थे। पांड्य साम्राज्य अपनी मोती पालन के लिए भी जाना जाता था। मार्को पोलो – एक इतालवी अन्वेषक ने इस राज्य के मोतियों की अत्यंत उत्तम गुणवत्ता के बारे में बताया हैं। उनके प्रमुख बंदरगााह शहर थे।

- कोरकाई
- कायल
- पेरियापट्टिनम आदि।

पांड्यों का अंतर-महाद्वीपीय व्यापार था। विदेशी व्यापारियों और यात्रियों ने पांड्य साम्राज्य को मबर के रूप में संबोधित किया जो कि नौका या मार्ग के लिए एक अरबी शब्द है। यह क्षेत्र के महत्व को रेखांकित करता है और इस बात का प्रमाण है कि यह अक्सर फ़ारस की खाड़ी और अरब क्षेत्र के व्यापारियों और यात्रियों द्वारा दौरा किया जाता था। पोलो ने अपने वृतान्त में बताया है कि पांड्य राजाओं ने व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा देने में रुचि ली और देशी और विदेशी व्यापारियों को व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न होने के लिए अनुकूल स्थिति प्रदान की। पांड्यों द्वारा आयात की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं में से एक घोड़े थे। प्रारंभिक पांड्यों का रोम, यूनानी, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भी एक समृद्ध व्यापार संबंध था। रोमन साम्राज्य और पांड्य साम्राज्य के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान

था। लगभग 361 सी.ई. में एक पांड्य शासक ने रोमन सम्राट जूलियन के दरबार में एक दूत भेजा था। हमें ग्रीक वृतान्तों में पांड्य राजाओं के नाम भी मिलते हैं।

कलचुरी ने एक समृद्व अर्थव्यवस्था बनाई। त्रिपुरी के कलचुरी ने एक क्षेत्र पर कब्ज़ा किया जो खनिज संसाधनों में काफ़ी धनी था। अपने क्षेत्र में राजा सर्वोच्च प्रभु थे। उनके शिलालेख बताते हैं कि वह पूर्ण ग्रामों को दान करते और ऐसे दान केवल उन्हीं के द्वारा किये जाते। राज्य का खानों और मूल्यवांन संसाधनों के ऐसे अन्य भंडार पर एकाधिकार था। राजा द्वारा *ब्राह्मणों* को दी गई भूमि ने पुरोहित वर्ग को सामाजिक और आर्थिक रूप से शक्तिशाली बना दिया। कृषि के उत्थान के लिए सिंचाई सुविधायें प्रदान की जाती थी। चुंकि वन भूमि में चेदी के कलचुरी का क्षेत्र काफ़ी समृद्व था इसलिए उन्हें वन उत्पादों का पूरी तरह से उपयोग करने और अपने उद्योग विकसित करने में सक्षम बनाया। कच्चे माल के लिए जंगलों तक आसान पहुंच के कारण लकड़ी के काम और धर्मशोधन उद्योगों को विशेष रूप से बढ़ावा दिया गया था। इस अवधि के दौरान प्रचलित अन्य उद्योग थे–

- खनन,
- तेल खनन,
- कपड़ा,
- धातु,
- शराब निर्माण, और
- पत्थर के काम के उद्योग।

कस्बों में आंतरिक व्यापार से संबंधित कई गतिविधियाँ आयोजित की गईं। मंडापिका में बाजार में बिकने वाले सभी उत्पादों पर कर लगता था। इन उत्पादों को तब विथि (दुकानों) में बेचा जाता था। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि त्रिपुरी के रूप में – चेदि के कालचुरियों की राजधानी – वह स्थान था जहाँ से होकर कई व्यापार मार्ग गुजरते थे, इसलिए उनकी अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिला होगा।

5.9 समाज

शासक और पुरोहित वर्ग का अन्योन्याश्रित संबंध था। *ब्राह्मणों* ने सत्तारूढ़ वंश को राजनीतिक वैधता प्रदान की और राजाओं ने उन्हें कर मुक्त भूमि प्रदान की। भूमि-अनुदान की प्रथा, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, ने *ब्राह्मणों* के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधारों को और मज़बूत किया। उन्होंने उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त की। तमिल समाज में पल्लवों के दौरान एक महान परिवर्तन आया। उनके तहत दक्षिण भारत का ''आर्यीकरण'' पूरा हुआ। उन्होंने जिन स्मारकों का निर्माण किया, वे मुख्यतः हिंदू देवी-देवताओं को समर्पित धार्मिक संरचनाएँ थीं। मंदिरों ने धार्मिक विचारों का प्रसार किया, लेकिन उन्होंने धर्मनिरपेक्ष कार्यों को भी किया। पुस्तकालयों के साथ कई मंदिर थे और इस प्रकार, वे धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के केंद्र बन गए। मंदिरों से जुड़े शिक्षण संस्थान थेः

- घटिका, और
- मठ।

धनी मंदिरों में कुशल संगीतकार, गायक और नर्तक थे। नर्तकियों को रोजगार देने की प्रथा देवदासी प्रणाली में विकसित हुई। इस अवधि के दौरान नर्तकियों को उनके कौशल के लिए सम्मानित किया जाता था। यहां तक कि शाही महिलाओं ने भी यह कौशल हासिल किया। नरसिंहवर्मन द्वितीय की एक रानी, रंगापटक, एक कुशल नर्तकी थी। इसलिए मंदिरों ने न केवल धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का प्रचार किया बल्कि एक नियोक्ता के रूप में भी काम किया।

पल्लवों के अन्तर्गत पनपने वाले भक्ति आंदोलन ने उनकी सामाजिक संरचना पर एक बड़ा प्रभाव डाला। हम पाते हैं कि इस क्षेत्र में भक्ति पंथ के बढ़ते प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म और जैन धर्म का प्रभाव कम हुआ। आंदोलन के संत कवियों और कवित्रियों का संबंध दोनों उच्च और निम्न जातियों से था:। जैसेः:

- अरासर (राजा),
- *ब्राह्मण*,
- वेणीगर (व्यापारी),
- वेल्लाला (किसान),
- कुयवर (कुम्हार),
- वेदांर (*शिका*री) आदि।

जाति प्रथा पल्लव समाज का एक महत्वपूर्ण पहलू था। प्रत्येक *जाति* को व्यावसायिक वर्गों में संगठित किया गया था जो वंशानुगत थे। किसी एक व्यक्ति के *जाति* और व्यवसाय अंतर-संबंधित थे।

वर्ग भेदों ने पांड्य समाज में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रारंभिक पांड्य समाज में लोग कई वर्गों में विभाजित थे। राजा सामाजिक पदानुक्रम के शीर्ष पर था:

i) अरिवर्स (ज्ञानी संन्यासी)
ii) उलावर (किसान वर्ग)
iii) पोरुप्पन (योद्धा वर्ग)
iv) अय्यर (चरवाहे)
v) वेदुवार (*शिका*री)
vi) कारीगर (सुनार, लोहार आदि)
vii) वैलेयर (मछुआरे) और अंत में
viii) पुलेयर (मेहतर) जो समाज के सबसे निचले पायदान पर थे।

विभिन्न प्रकार के सामाजिक वर्गों ने सामाजिक असमानता पैदा की। समाज का स्वरूप पितृसत्तात्मक था। महिलाओं को पुरुषों के बराबर नहीं माना जाता था। उनके पास संपत्ति का कोई अधिकार नहीं था। विधवाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी। सती प्रथा स्पष्ट थी और इसे टिप्पायडल कहा जाता था। पुडपांडियान नामक एक पांड्य शासक की मृत्यु पर उसकी रानी ने इस रिवाज का पालन किया। पांड्य साम्राज्य के दौरान राजा बहुविवाह करते थे। पोलो ने उल्लेख किया है कि राजा के पास कई भरोसेमंद मंत्री थे जो उनकी मृत्यु पर अपने राजा के अंतिम संस्कार की चिता पर जल जाते थे। हालाँकि, महिलाओं को शिक्षा दी जाती थी और उन्हें अपने पति को चुनने का विशेषाधिकार था। संगम युग में जो महिलाएं इयाल (साहित्य), ईसाई (संगीत) और नाटकम (नाटक) में निपुण थीं, उन्हें मृदुकुरवई माना जाता था। तमिल महाकाव्य सिलपदिकाराम (100-300 सी.ई.) कन्नगी (कोवलन की पत्नी) को मुदुक्कुरवई के रूप में वर्णित करता है।

पल्लव के भांति पांड्य साम्राज्य के मंदिर भी धार्मिक प्रतिष्ठानों से कुछ अधिक थे। उनके सामाजिक और आर्थिक पहलु भी थे। उन्हें राजाओं, राजकुमारों और अमीर व्यापारियों से भव्य उपहार मिलते थे। इस तरह के समृद्ध बंदोबस्तों ने उन्हें कई सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बना दिया जैसेः

- नृत्य
- संगीत
- गायन
- गहना बनाना आदि।

कई मंदिरों में पुस्तकालय थे जो शिक्षा की सुविधा प्रदान करते थे। उनमें *वेदों* और *पुराणों* का अध्ययन और पाठ किया जाता था।

कलचुरी शासकों ने मठों और मंदिरों से जुड़ी ऐसी शिक्षण संस्थाओं को भी भूमि-अनुदान दिया। वे वर्णाश्रम धर्म के आदर्श में विश्वास करते थे, जो प्राचीन भारतीय समाज की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक था, जिसके अनुसार समाज को चार *वर्णों* (वर्गों) में विभाजित किया गया था। कल्याणी के कलचुरियों के अन्तर्गत बसवन्ना द्वारा वीरशैव आंदोलन ने समानता के सिद्धांत को बढ़ावा देना शुरू कर दिया। उन्होंने विभिन्न जातियों और वर्गों से संबंधित पुरुष और महिला दोनों अनुयायियों के बीच सहज चर्चा को प्रोत्साहित करने के लिए अनुभव मंतपा जैसे सार्वजनिक संस्थान की स्थापना की।

बोध प्रश्न 2

1) चेदी के कलचुरी के गंगेयदेव की कुछ राजनीतिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) किसी भी दो पर संक्षेप में टिप्पणी करें:

i) पल्लवों का ग्राम प्रशासन,
ii) पल्लवों के अन्तर्गत कराधान की प्रकृति,
iii) पंड्यों के ग्राम प्रशासन,
iv) व्यापार और पल्लवों की सेना के बीच संबंध,
v) पल्लव काल में सिंचाई प्रणाली, और
vi) पांड्य काल के दौरान अंतर महाद्वीपीय व्यापार

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) चेदि के कालचुरी के अन्तर्गत समृद्ध वन भूमि की उपलब्धता उद्योगों के फैलाव को कैसे सुगम बनाती है?

.....

.....

.....

.....

.....

4) पल्लव साम्राज्य में मंदिर बहुस्तरीय गतिविधियों के केंद्र थे। कैसे ?

.....

.....

.....

.....

.....

5.10 धर्म

पल्लवों ने अपने राज्य में ब्राह्मणवादी धर्म के विकास में योगदान दिया। उनके शिलालेख से हमें पता चलता है कि उन्होंने अश्वमेध जैसे वैदिक यज्ञ किए।

महेन्द्रवर्मन प्रथम ने अपने काल के प्रारंभिक चरण में जैन धर्म का पालन किया लेकिन एक नयनमार संत अप्पार (जिसे तिरुनावुक्करसु के नाम से भी जाना जाता है) द्वारा ब्राह्मणवादी आस्था में परिवर्तित हो गए। वह शिव के उपासक बन गये। उनकी रचना *मत्तविलास प्रहसन* अपने राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों की मौजूदा स्थिति पर कुछ दिलचस्प प्रकाश डालता है।

ह्वेनत्सांग ने कांचीपुरम की अपनी यात्रा के दौरान उल्लेखित किया है कि बौद्ध धर्म एक कठिन परिस्थिति में था। महायान बौद्ध धर्म के अध्ययन में लगभग 100 संघाराम (बौद्ध मठ) और 10,000 बौद्ध पुजारी लगे हुए थे। हिंदू और जैन मंदिरों की संख्या लगभग 80 थी। एक बौद्ध विद्वान धर्मपाल, जो बाद में नालंदा विश्वविद्यालय के प्रमुख बने, कांचीपुरम से थे। हालांकि, इस समय के दौरान बौद्ध और जैन धर्म शाही संरक्षण नहीं पा सके। वैष्णववाद और शैव धर्म के अनुयायियों के रूप में पल्लव शासकों ने बड़े पैमाने पर ब्राह्मणवादी मान्यता को संरक्षण दिया और यह पल्लव कला, वास्तुकला शाही खिताब, और कराधान प्रणाली आदि में देखा जा सकता है। पल्लवों द्वारा पत्थर को काटकर बनाई गई धार्मिक संरचनाओं के साथ ही दक्षिण भारत में मंदिर-निर्माण की परंपरा शुरू हुई थी। शासकों द्वारा मंदिरों का निर्माण इन निम्नलिखित कारणों के लिए किया जाता था:

- किसी विशेष देवता की भक्ति,
- लड़ाई में जीत का पुण्यस्मरण, या
- अपनी शक्ति पर जोर देना।

नरसिंहवर्मन द्वितीय ने शंकरभट्ट की उपाधि ली जिसका अर्थ है शिव का उपासक। उन्होंने इनका निर्माण शुरू किया :

- कांची में कैलाशनाथ मंदिर,
- पेनामलाई में शिव मंदिर, और
- ममल्लापुरम में शोर मंदिर।

मंदिरों ने प्रत्येक गांव में कई महत्वपूर्ण कार्य किए और इस प्रकार, धार्मिक संरचना राजनीतिक शक्ति के केंद्र के रूप में उभरी। वे धीरे-धीरे मंदिर के नगर बन गए। उन्हें कर-मुक्त भूमि अनुदान में दी जाती थी। परमेश्वरवर्मन प्रथम ने कुर्म गांव में स्थित परमेश्वरमंगलम गाँव को शिव मंदिर के रखरखाव के लिए अनुदान दिया। शाही संरक्षण के अलावा पल्लव काल के दौरान भक्ति आंदोलन का उदय भी *ब्राह्मण* धर्म की लोकप्रियता का कारण बना। इसने लोगों के धार्मिक दृष्टिकोण को बदल दिया। भक्ति दर्शन उनके धार्मिक जीवन को संचालित करने लगा। भक्ति के आगमन और भक्ति संतों की शिक्षाओं के साथ विष्णु और शिव की पूजा अधिक लोकप्रिय होने लगी थी।

पल्लवों की तरह पांड्य शासकों ने भी वैदिक यज्ञ किए। वे वैदिक देवताओं के उपासक थे। *ब्राह्मणों* ने तमिल समाज में एक उच्च स्थान धारण किया। संगम युग के दौरान तमिलाहम को पाँच मुख्य तिनैं (भौतिक विभाजनों) में विभाजित किया गया था। लोगों के व्यवसाय और देवताओं का संबंध उन क्षेत्रों से था जिनसे वे जुड़े हुए थेः

- कुरुंजि(पहाड़ियों) में रहने वाले लोगों के मुख्य देवता मुरुगन (या स्कंद) थे – जो शिव और पार्वती के पुत्र थे।
- मायन (विष्णु) मुल्लै (जंगलों) में रहने वालों के मुख्य देवता थे।
- लोग मरुदम (मैदानी) में इंद्र की पूजा किया करते थे, जबकि नेयडल (तटीय क्षेत्रों) मेंलोग ने वरुण की पूजा करते थे।
- पालैं (सूखी जमीन) के लोग कोरवई (मुरुगन की माँ) के उपासक थे।

संगम के पांड्य साम्राज्य में शैववाद और वैष्णववाद पनपा और ये धर्म जैन धर्म और बौद्ध धर्म के सह-अस्तित्व में थे। कालभ्रों के दौरान, जो संभवतः जैन धर्म या बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, दोनों ने इस क्षेत्र में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। भक्ति परंपरा के उदय के साथ शैव और विष्णुवाद का फ़िर से उदय हुआ। जब ह्वेनत्सांग ने पांड्य साम्राज्य का दौरा किया, तो उन्होंने पाया कि बौद्ध धर्म एक पतन की स्थिति में था।

चेदि के कलचुरी ने ब्राह्मणवादी धर्म विशेषकर शैव धर्म को शाही संरक्षण दिया। उन्होंने विष्णु और शिव की पूजा की और धार्मिक प्रतिष्ठानों के रखरखाव के लिए कई भूमि-अनुदान दिये। कलचुरी शासक युवराज प्रथम शिव का उपासक था और शैव संतों को शाही संरक्षण देता था। दुर्वासा, एक प्रसिद्ध शैव ने गोलकीमठ नामक एक मठ की स्थापना की। उन्होंने इस मठ के रखरखाव के लिए भूमि दी। उनके पुत्र और उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज भी शिव भक्त थे। शक्ति उपासना भी प्रचलित थी। योगिनी पंथ की प्रथा लोकप्रिय थी। यहां कुल 64 योगिनियाँ हैं। उनके मंदिर यहां पाए जाते हैंः

- खजुराहो,
- भेराघाट
- शहडोल आदि।

जैन और बौद्ध धर्म का भी प्रचलन था। कल्याणी के कलचुरियों के समय में वीरशैव या लिंगायत आंदोलन (शैव धर्म के भीतर एक उप-परंपरा) के कारण धर्म को सरल बनाया गया। यह बसवन्ना- कलचुरी राजा बिज्जला के दरबार में एक मंत्री द्वारा स्थापित किया गया था। इसमें कई महिला संतों के साथ-साथ कवियों ने भी शिरकत की। चेन्नाबसवा (बसवा के भतीजे), अक्का महादेवी, अल्लामा प्रभु, रेणुकाचार्य, दारुचाचार्य, निलाम्बिके आदि कुछ लोकप्रिय संत थे जो इस आंदोलन से जुड़े थे।

5.11 साहित्य

पल्लव काल के दौरान साहित्य धार्मिक व गैर धार्मिक था परंतु ज़्यादातर धार्मिक था। इस समय के दौरान संस्कृत और तमिल साहित्य दोनों का विकास हुआ। पल्लव शासकों के दरबार में संस्कृत को शाही संरक्षण दिया गया। तमिल साहित्य को भक्ति आंदोलन के विकास के साथ एक प्रेरणा मिली। कई नयनार या नयनमार (शिव के भक्त) व अलवार कवि संतों (विष्णु के भक्त) ने साहित्यिक कृतियों को रचा है जिसे हम अब देखेंगे।

पल्लव शासकों ने बड़े पैमाने पर संस्कृत विद्वता और संस्कृति को संरक्षण दिया। संस्कृत उनकी दरबारी भाषा थी। हालाँकि, उनके प्रारंभिक अभिलेखात्मक अभिलेख प्राकृत में हैं, जो 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृत द्वारा प्रतिस्थापन किया गया था। महेंद्रवर्मन प्रथम को उनके साहित्यिक योगदान के लिए याद किया जाता है। वह इन कृतियों के लेखक थेः

- मत्तविलास प्रहासनमः संस्कृत में लिखा गया एक व्यंग्यात्मक नाटक, और
- भगवदजजुका

उन्होंने अन्य कृतियों की भी रचना की है। दुर्भाग्य से वे लुप्त हो गये। दंडिन ने पल्लव राजा नरसिंहवर्मन द्वितीय के दरबार को सुशोभित किया। उन्होंने संस्कृत में द*शकु*मारचरित और अवंतिसुंदरीकथा लिखी। पल्लवों के दरबार में न केवल प्रमुख कवि और लेखक थे, बल्कि इसने अन्य शाही दरबारों के कवियों को भी आकर्षित किया। भैरवी, एक संस्कृत कवियत्री जिन्होंने किर्तनजुनियम को लिखी, सिम्हाविष्णु के समय में पल्लव दरबार का दौरा किया। कांचीपुरम संस्कृत सीखने का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। कदंब वंश के संस्थापक मयूर शरमन ने कांचीपुरम में वेदों का अध्ययन किया।

हम जानते हैं कि पल्लवों के दौरान एक सांप्रदायिक आंदोलन यानी भक्ति आंदोलन की धूम थी। अलवर और नयनामार संतों ने अपनी भक्ति के प्रति श्रद्धा और उमंग व्यक्त करने के लिए कई भक्ति गीतों और भजनों की रचना की। इन भक्ति रचनाओं ने भक्ति साहित्य के साथ-साथ तमिल साहित्य को समृद्ध बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि ये तमिल में भक्ति के दर्शन को व्यक्त करते हुए लिखे गए थे। वैष्णव संत कवि द्वारा रचित सबसे महत्वपूर्ण कृति नलायिरा दिव्य प्रबन्धम है जिसमें 4,000 तमिल छंद हैं और 12 अलवर द्वारा लिखे गए थे। इसे द्रविड़ वेद या 5वें वेद के रूप में भी जाना जाता है। दूसरी ओर तिरुमुरई को प्रमुख शैव विहित पाठ माना जाता है। इसमें 12 किताबें हैं। प्रथम सात को तेवारम कहा जाता है, जो तीन महत्वपूर्ण नयनमार संतों द्वारा लिखा गया है जैसे सुंदरर, समबंदर और अप्पार। मानिकवसागर ने 8वीं पुस्तक पूर्ण की। वह पांड्य शासक वरगुण वर्मन द्वितीय (862-885 सी.ई.) के अन्तर्गत काम करने वाले मंत्रियों में से एक थे। 9वीं पुस्तक में मामूली नयनमार कवियों की रचनाएँ शामिल हैं। पहली नौ पुस्तकों को थोथिरम कहा जाता है जिसका अर्थ है कि शिव की स्तुति करने के लिए मुख्य रूप से भजन लिखे गए थे। 10वीं पुस्तक में तिरुमूलर की रचना है और इसमें दिशानिर्देश (चर्थ्थीम) हैं। 11वीं पुस्तक, तिरुमुरई के खंड 9 के समान, कराईकल अम्मैयार जैसे मामूली शैव संतों की

कृतियां हैं, जिसमें एक महिला नयनार संत और नंबी अंदार नंबी थे। तिरुमुरई के अंतिम खंड को पेरियापुरानम (महान महाकाव्य) कहा जाता है जो चोल के दौरान सेक्किलार द्वारा लिखा गया था। पेरुंडेवनार द्वारा भरतवेन्बा एक तमिल रचना है जो बाद के पल्लव काल के दौरान लिखी गई थी।

रतनपुर के कलचुरियों के दौरान कुछ महत्वपूर्ण साहित्यकार (जो पहले चेदि के कलचुरियों के सामंत थे) निम्नलिखित हैं:

- रूद्रशिव
- राजगुरू
- बाबू रेवा राम,
- शिव दत्त शास्त्री, और
- गोपाल प्रसाद मिश्र।

बाबू रेवा राम की विख्यात रचनाएँ हैं:

- *रतनपरीक्षा*
- *ब्रह्मोस्त्रोता*
- *विक्रमविलास*
- *गंगलाहरी*
- *रामायण दिपिका,*
- *सार रामायण*
- *नर्मदाश्तक*
- *तवारीख है-हय वंशी,* और
- *गीता माधव*।

गोपाल प्रसाद मिश्र ने *खूब तमाशा* की रचना की जो मुगल बादशाह औरंगजेब के प्रशासन का एक महत्वपूर्ण लेख है। उसने लिखा:

- *भक्त चिंतामणि,*
- *सुदामाचारित्र,* और
- *रामप्रताप*।

इतिहास समुच्चय और *रतनपुर अख्यान्* शिव दत्त शास्त्री द्वारा लिखे गए थे। चेदि के कलचुरियों के युवराज प्रथम के शासनकाल के दौरान प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने उनके दरबार में विधा सलाभंजिका नामक नाटक का मंचन किया। कलयाणी के कलचुरि 'के अन्तर्गत कन्नड़ साहित्य खूब फला-फूला। इस दौरान कन्नड़ कविता में एक नया चलन शुरू हुआ, जिसे वचन साहित्य कहा गया। यह एक प्रकार का लयबद्ध लेखन है। वचन लेखकों को वचनाकार के रूप में जाना जाता था। इस अवधि के कुछ महत्वपूर्ण कार्य हैं:

- धरिणी पंडिता द्वारा *बिज्जलारायचारित,*
- विरुपाक्ष पंडिता द्वारा *चेन्नाबासवपुराण,* और
- चंद्रसागर वरणी द्वारा *बिजलारायणपुराण*।

5.12 कला और वास्तुकला

आइए हम इन राजवंशों के अन्तर्गत कला और वास्तुकला को देखें। किसी विशेष राज्य की वास्तुकला निम्न कारणों से प्रभावित होती है जैसेः

- संबंधित क्षेत्रों में संसाधनों की उपलब्धता,
- राजनीतिक परिस्थितियाँ,
- राजनीतिक संघर्ष,
- राजाओं की पसन्द
- कारीगरों के कौशल, और
- विश्वास प्रणाली।

पल्लवों और पांड्यों ने ग्रेनाइड का प्रयोग किया था जो उनके मंदिरों के निर्माण के लिए एक प्रकार की कठोर चट्टान है। नरम चट्टानों को काटना और कठोर चट्टानों को आकार देना आसान नहीं है। इसके लिए बहुत कुशल कारीगरों की आवश्यकता होती है। ऐसा माना जाता है कि संभवतः, पल्लवों और पांड्यों द्वारा बनाए गए गुफा मंदिरों को एक ही तरह के कारीगरों द्वारा बनाया गया था।

दक्षिण भारत में चट्टान तराशने वाले वास्तुकारों ने द्रविड़ शैली की वास्तुकला की नींव रखी। पल्लवों को इस शैली की शुरुआत का श्रेय दिया जाता है। वास्तुकला की पल्लव शैली का विकास शासकों के साथ हुआ। महेन्द्रवर्मन प्रथम, नरसिंहवर्मन प्रथम, राजसिंहवर्मन और अपराजिता। उनमें से प्रत्येक ने विशिष्ट कला शैली के विकास में योगदान दिया और इस प्रकार, प्रत्येक शैली का नाम उनके संबंधित संरक्षकों के नाम पर रखा गया है। पल्लव वास्तुकला उत्तरोत्तर रॉक-कट (पत्थर को काटकर) मंदिरों से अखंड रथों तक विकसित हुई और आखिरकार, इसने संरचनात्मक मंदिरों को जन्म दिया। पल्लव वास्तुकला के विकास को चार विभिन्न चरणों या शैलियों में विभाजित किया जा सकता हैः

क) **महेंद्र शैलीः** महेंद्रवर्मन प्रथम को एक शाही उपाधि चट्टकरी से भी जाना जाता है जो मंदिर निर्माण के लिए उनकी पसंद को दर्शाता है। उन्होंने कारीगरों को रॉक-कट गुफा मंदिरों का निर्माण करने के लिए नियुक्त किया था और इस प्रकार, उनके संरक्षण में पल्लव वास्तुकला का प्रारंभिक चरण विकसित किया गया था। इस शैली की कुछ मुख्य विशेषताएं हैंः

i) घन स्तंभ,

ii) गोलाकार लिंगम,

iii) दो सशस्त्र द्वारपाल (द्वार-रक्षक) जो धर्मस्थलों के द्वार के दोनों तरफ कुछ विशेष स्थिति में खड़े हैं।

इस शैली में गुफा मंदिर में आयताकार मंडप के पीछे गर्भगृह स्थित हैं। मंडप में छोटे और भारी खंभे हैं जो समान रूप से स्थापित हुए हैं। ये स्तंभ शीर्ष और आधार पर आकार में चौकोर हैं। खंभों के मध्य भाग अष्टकोणीय रूप में हैं। वे बिना किसी अलंकरण के हैं, लेकिन इस शैली के बाद के चरण के दौरान स्तंभों के शीर्ष और आधार को कमल -आकार के साथ सुसज्जित पाया जाता है। शुरुआती रॉक-कट गुफा मंदिर ब्रह्मा, विष्णु और शिव (त्रिमूर्ति) को समर्पित थे, जो बाद में एक अकेले हिंदू देवता – विष्णु या शिव को समर्पित हैं। हालांकि, मंदिर में किसी देवता की छवि नहीं

हैं। ये पूरी तरह से खाली हैं। लेकिन, हम मंदिरों के शिलालेखों के माध्यम से जानते हैं कि गर्भगृह में एक देवता की छवि थी। शायद, चित्र लकड़ी की तरह नाशवान सामग्री से बने थे और यही कारण है कि वे बच नहीं सके। इस अवधि के दौरान प्रतिमाओं को गर्भगृह में रखने के लिए पत्थर का उपयोग नहीं किया गया था। इस शैली में बने गुफा-मंदिरों के कुछ उदाहरण हैं:

- अर्कोनम के पास महेंद्रवाडी में महेन्द्रविष्णुगृह (विष्णु मन्दिर),
- लक्ष्मीतायातना गुफा मंदिर, और
- डालवनूर, मंडागापट्टू और तिरुचिरापल्ली में बने गुफा मंदिर।

ख) **मम्मला शैली:** नरसिम्हावर्मन प्रथम या मम्मला, हाइव्स मंदिर-निर्माण गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध है। अपने शासनकाल के शुरुआती चरण में कुछ मंदिरों का निर्माण किया गया है जैसे कि पुदुकोटा और त्रिचीनोपोली में दर्शाया गया है। उन्होंने महेंद्र शैली को जारी रखा। मामल्ला शैली की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता मंदिरों के स्तंभ हैं। महेंद्र शैली में वे मोटे, भारी और शकुधारी शीर्ष के आकार के होते हैं। अब वे लंबे, पतले, अधिक सजावटी होते हैं और सुरुचिपूर्ण दिखाई देते हैं। उनके आधार पर हम लेओग्रिफ (शेर के सिर वाले प्राणी) या व्याल रूपांकनों को पाते हैं। ये सिम्ह व्याल खंभे को सहारा देने वाली स्थिति में बैठे हुए दिखाए गए हैं। इसलिए, इस शैली ने पल्लव वास्तुकला की एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता को पेश किया, यानी स्तंभ, जिन्हें सिम्ह व्याल से सजाया गया है।

इस शैली के दौरान पल्लव वास्तुकला के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विकास हुआ। इसने रॉक-कट शैली से अखंड संरचना में स्थिर संक्रमण देखा। वह महाबलीपुरम/मम्मलापुरम (कांचीपुरम जिला, तमिलनाडु) में सात पैगोडा या अखंड रथों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध हैं। इन रथों को एक अखंड चट्टान से बनाया गया है। ये संख्या में 10 हैं जिनमें से पांच रथ – जिन्हें आमतौर पर पंच पांडव रथ के रूप में जाना जाता है, का अधिक महत्व है। ये पंच रथ हैं:

- द्रौपदी रथ,
- धर्मराज रथ,
- भीम रथ,
- अर्जुन रथ, और
- नकुल-सहदेव रथ।

उन्हें एक ही मंदिर परिसर में रखा गया है। द्रौपदी रथ को छोड़कर वे बौद्ध विहार और चैत्य शैली में निर्मित हैं। द्रौपदी रथ, एक चौकोर योजना में, बहुत ही सरल तरीके से बनाया गया है। यह एक छज्जे वाली छत के साथ एक गाँव की झोपड़ी जैसा दिखता है। भीम रथ – सबसे बड़ा – एक खस्ताहाल छत है जैसा कि हम बौद्ध चैत्य में देखते हैं। अपनी तीन मंजिला विमान (शिखर) के साथ धर्मराज रथ महाबलीपुरम के सभी अखंड रथों में सबसे ऊंचा और सबसे बड़ा विमान है। इन पांच रथों के अलावा हमारे पास वाल्यांकुट्टाई रथ, गणेश रथ, उत्तरी पिडारी रथ और दक्षिणी पिडारी रथ और एक और महिशासुरमर्दिनी गुफा के सामने स्थित है।

बाएं: *पंच-पाडव रथ*, मम्मलापुरम, तमिलनाडु। श्रेय: जी41आरएन8। स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स (https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/8/83/Mamallapuram_si0508.jpg) ।

दाएं: स्तंभों पर सिम्ह व्याल के सथ भीमरथ। श्रेय: जोहेबखन94। स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स (https://fr.wikipedia.org/wiki/Fichier:Bhima_Ratha_(Five_Rathas),_Mahabalipuram.jpg)।

ग) **राजसिम्हा शैली:** नरसिंहवर्मन द्वितीय या राजसिम्हा ने संरचनात्मक मंदिरों का निर्माण किया, जो एक के ऊपर एक रखे गए चट्टान के खण्डों का उपयोग करके बनाए गए थे। यह पल्लव काल के मंदिर निर्माण के पहले के तकनीकों से बहुत अलग हैं। मम्मलापुरम में उन्होंने, ईश्वरा मंदिर, मुकुंद मंदिर शोर मंदिर का निर्माण किया और कांचीपुरम में उन्होंने कैलाशनाथ मंदिर (जिसे राजसिंमेहश्वर मंदिर भी कहा जाता है), वैकुंठपेरूमल मंदिर और ऐरावतेश्वर मंदिर का निर्माण किया। कैलाशनाथ मंदिर अपनी विमान और सपाट छत वाले मंडप के लिए प्रसिद्ध है।

घ) **अपराजिता स्टाइल:** इसके तहत निर्मित मंदिर शैली बहुत अलंकृत थी। राजाओं और उनकी रानियों के सुंदर चित्र भी दिखाए गए हैं जिन्हें इस शैली की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक के रूप में जाना जा सकता है। इस शैली के कुछ उदाहरण हम दलवानुर में पा सकते हैं।

पल्लव शासकों द्वारा अधिकार में लिए गए इन स्मारकों की एक और विशेषता उनकी दीवारों पर पाए जाने वाले कलात्मक मूर्तिकला पैनल हैं। महिशासुरमर्दिनी मंडपम में जो पत्थर को काटकर बनाया गया है, दीवार पर एक विशाल मूर्तिकला पैनल है। इसमें एक भयंकर शेर पर सवार अष्ठभुजा देवी दुर्गा और राक्षस भैंस के सिर वाले राजा महिशासुर के बीच युद्ध का दृष्य दिखाया गया है। महिशासुर को हारते हुए दिखाया गया है। उसी रॉक-कट गुफा मंदिर में अनंताषायण या विष्णु शेषाशायी की कम उभरी हुई नक्काशी है जिसमें उन्हें अपने योगनिद्रा में दिव्य नाग आदिशेष पर लेटे हुए दिखाया गया है।

बाएं : महाबलीपुरम में महिशासुरमर्दिनी की दीवार पर मूर्तीकला पट्टिका। श्रेय: जेनिथ। स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Mahishasura_sculpture_at_Mahabalipuram. jpg).

दायें: विष्णु की शेषशाई पट्टिका। श्रेय: रिचर्ड मोर्टल। स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Mahishasuramardini_Mandapam,_Pallave_period,_7th_century,_Mahabalipuram_(39)_(36804060563).jpg).

गंगाधर या अर्जुन की तपस्या। ए.एस.आई. स्मारक संख्याः एन-टी.एन.-सी.57। श्रेयः डॉ. गुंजन गूहा। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Stone_Sculpture_Representing_The_Group_Of_Elephants,_Monkeys_-_Mamallapuram_-_Kanchipuram_(3).jpg)।

पल्लव काल से संबंधित एक अन्य प्रसिद्ध मूर्तिकला गंगाधर या ''गंगा का अवतरण'' है, जिसे मम्मलापुरम में ''अर्जुन की तपस्या'' भी कहा जाता है। यह गंगा नदी के पृथ्वी पर अवतरण की कहानी को दर्शाता है। ऋषि भगीरथ या अर्जुन की तपस्या जो उसे पृथ्वी पर लाई, व शिव को अपने बालों के जटों के माध्यम से कल-कल करती हुई नदी के रोश को नियंत्रित करते हुए दिखाया गया है। यह दृश्य कांचीपुरम में कैलाशनाथ मंदिर में भी दिखाया गया है।

मूर्तिकला पट्टिकाओं के अन्य उदाहरण हैं वराह मंडप में वराह, त्रिविक्रम, गज-लक्ष्मी और दुर्गा पैनल और धर्मराज रथ में सोमस्कंद पैनल। पल्लव शासकों की चित्रित मूर्तियां भी हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि पल्लव वास्तुकला मुख्य रूप से धार्मिक है। पल्लव शासकों ने मुख्य रूप से मंदिरों के निर्माण का समर्थन किया और ये धार्मिक संरचनाएं विष्णु और शिव जैसे देवताओं को समर्पित हैं। वास्तुकला की पल्लव शैली की विरासत को शाही चोलों ने कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ आगे बढ़ाया, जैसे कि पल्लव मंदिरों के छोटे शिखर अब बहुत ऊँचे हो गए थे। पल्लव वास्तुकला ने दक्षिण-पूर्व एशियाई मंदिर वास्तुकला को भी प्रभावित किया।

पांड्यों की वास्तुकला संरचनाओं की विशेषताएं, कई मायनों में, पल्लवों की वास्तुकला के समान दिखाई देती हैं। जैसा कि हमने पहले देखा है, उनके संबंधित क्षेत्रों में नरम पत्थर उपलब्ध नहीं था और इसलिए, उनके कारीगरों की नक्काशी के लिए कठोर पत्थर यानी ग्रेनाइट का इस्तेमाल किया गया था। यह संभव हो सकता है कि इन दो राजवंशों के अन्तर्गत काम करने वाले कारीगर एक ही समूह के थे, समान विशेषज्ञता और नक्काशी की तकनीक साझा करते थे। पांड्यों की वास्तुकला इसके निष्पादन में तुलनात्मक रूप से सरल थी और पल्लवों की तुलना में इसकी संरचना में छोटी थी। उदाहरण के लिए, पांड्यों के मंदिरों के खंभे बहुत अलंकृत नहीं हैं और इनमें सिंम्ह व्याल जैसी किसी विस्तृत रूपांकनों का अभाव है। जबकि नरसिंहवर्मन प्रथम के शासनकाल में पल्लव वास्तुकला का विकास रॉक-कट गुफा से लेकर अखंड संरचनाओं तक हुआ है और स्थापत्य शैली अधिक उन्नत हो गई है। पांड्यों द्वारा निर्मित स्थापत्य संरचना चट्टान-कट वास्तुकला के प्रारंभिक चरण

में प्रतीत होती है। इसलिए, कुछ विद्वानों का मानना है कि दक्षिण भारत में रॉक-कट गुफाओं की परंपरा पांड्यों द्वारा शुरू की गई थी, न कि पल्लवों द्वारा। कावेरी नदी के दक्षिण में हमें पांड्यों की गुफा-मंदिरों के कुछ दिलचस्प उदाहरण मिलते हैं। ये हैं:

- मलैयादिपट्टी में विष्णु गुफा-मंदिर,
- शिव गुफा मंदिर, मलैयाकोयिल में,
- तिरुमायम में सत्यागिरीश्वर गुफा-मंदिर,
- अरिवारकोइल गुफा-मंदिर में सीतान्नवसल जो एक जैन गुफा मंदिर है, और
- पिल्लैयारपट्टी में कर्पाकविनायकर गुफा-मंदिर।

मलैयाकोयिल में शिव गुफा-मंदिर और तिरुम्यम में सत्यागिरीश्वर गुफा मंदिर के शिलालेख में कुछ संगीत वाद्ययंत्रों के नाम हैं। करपकविनायक गुफा-मंदिर में हिंदू देवता विनायक या गणेश की शुरुआती मूर्ति है। इस मंदिर का शिलालेख ब्राह्मी और तमिल दोनों भाषाओं में अंकित है।

पंड्यों के पुनरुत्थान के बाद हम उनकी स्थापत्य शैली में महत्वपूर्ण बदलाव पाते हैं, जिसने, द्रविडियन वास्तुकला शैली के विकास में योगदान दिया। उदाहरण के लिए, इस चरण के दौरान उनके द्वारा बनाए गए मंदिरों में विशाल अलंकरण वाले द्वार हैं जिन्हें गोपुरम कहा जाता है। उनके मंदिरों में इन गोपुरमों की ऊँचाई विमानों (गर्भगृह के ऊपर की शिखरों) की तुलना में काफ़ी अधिक है। शाही चोलों के दौरान विमान गोपुरमों की तुलना में लंबा बनाया गया था। हालाँकि, पंड्यों ने अपने द्वारा निर्मित मंदिरों के गोपुरम पर अधिक ध्यान दिया। उन्होंने अपने गोपुरम को भी आयताकार पिरामिड आकार में सजाना शुरू कर दिया। ये गोपुरम अब अत्यधिक अलंकृत हैं। मदुरई में मीनाक्षी अम्मन मंदिर और तिरुनेलवेली में नैलायप्पार मंदिर, पांड्य साम्राज्य के मंदिरों के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

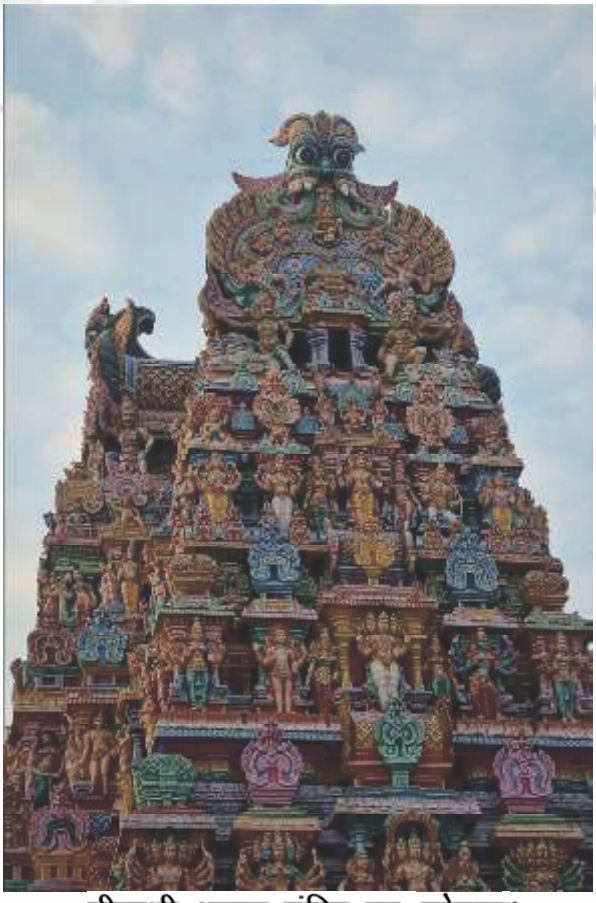

मीनाक्षी अम्मन मंदिर का *गोपुरम*।
श्रेयः डॉ. ऋचा सिंह।

कलचुरियों ने कला और वास्तुकला के क्षेत्र में भी अपना योगदान दिया। उन्हें कई गुफाओं की खुदाई करने का श्रेय दिया जाता है, उदाहरण के लिए औरंगाबाद में बौद्ध गुफाओं की संख्या 6 और 7 और महाराष्ट्र में एलिफेंटा, एलोरा और जोगेश्वरी की कुछ गुफांएँ हैं। महिश्मती के कलचुरियों या शुरुआती कलचुरियों ने कोंकण तट को नियंत्रित किया है और इसलिए, एलीफेंटा द्वीप के कुछ स्मारकों को उनका दिया योगदान माना जा सकता है। एलोरा गुफा सं0 29 अपने स्थापत्य शैली में ऐलिफेंटा गुफाओं से समानताएं प्रदर्शित करता है, माहिश्मती के कलचुरियों का संरक्षण प्राप्त था। हमने पहले पढ़ा था कि शैववाद

और वैष्णववाद के साथ चेदि के कलचुरी के दौरान देवी पूजा भी प्रचलित थी। चौसठ योगिनियों को समर्पित मंदिर खजुराहो, भेड़ाघाट, शहडोल आदि में बनाए गए थे। उन्होंने चंद्रेहे, अमरकंटक, सोहागपुर आदि में भी मंदिर बनाए।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित पर कुछ पंक्तियाँ लिखें:

   i) वीर शैव आंदोलन,

   ii) भक्ति साहित्य की वृद्धि के लिए अलवर के संत-कवियों का योगदान, और

   iii) पांड्यों के दौरान तमिल साहित्य का विकास।

   .....

   .....

   .....

   .....

2) रॉक-कट गुफा मंदिरों से अखंड संरचनाओं तक पल्लव वास्तुकला के क्रमिक विकास और संरचनात्मक मंदिरों में इसकी पराकोटि पर चर्चा करें।

   अथवा

   पल्लव काल की मूर्तियों के कुछ उदाहरण दीजिए और किसी एक पर चर्चा कीजिए।

   .....

   .....

   .....

   .....

5.13 सारांश

संक्षेप में यह इकाई दर्शाती है:

- पल्लव, पांड्य और कलचुरियों ने अपने-अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अपने संबंधों को संरचित किया और उनके राजनीतिक इतिहास पर इनका प्रभाव पड़ा। राजनीतिक वर्चस्व के संघर्ष ने उनके सामंतों के साथ संबंधों को भी आकार दिया।
- कृषि भूमि, वन क्षेत्र, बंजर भूमि, जल निकाय आदि क्षेत्र राजा से संबंधित में भूमि थी। कुछ प्रकार की भूमि पर राजा का एकाधिकार था, जबकि अन्य भूमि-अनुदान की प्रणाली के माध्यम से पुनर्वितरित होती थी। सातवाहनों के साथ शुरू हुआ भूमि-अनुदान गुप्तों के अंतर्गत और विकसित हुआ। गुप्तोत्तर काल के दौरान यह व्यापक था, जिसके परिणामस्वरूप खेती योग्य भूमि और एकीकरण का विस्तार हुआ। *ब्राह्मणों* भूमध्यस्थों के रूप में उभर कर आये और *जाति* भेदभाव ने समाज, अर्थव्यवस्था और धार्मिक विश्वासों के साथ-साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में भी बदलाव लाया।
- पल्लवों, पांड्यों और कलचुरियों के तहत कला और वास्तुकला का विकास।

5.14 शब्दावली

BCE : कॉमन ईरा से पहले।

CE : कॉमन ईरा (ईसा पूर्व या ईसा और ईस्वी सन् या एन्नो डोमिनी में तारीखों को विभाजित करने की पारंपरिक पद्धति को बी.सी.ई. और सी.ई. के उपयोग की आधुनिक प्रणाली द्वारा बदल दिया गया है।)

रॉक-कट संरचना : एक संरचना जब एक प्राकृतिक ठोस चट्टान या बोल्डर को एक वांछित आकार देने के लिए काट दिया जाता है।

द्रविड़ स्थापत्य शैली : वास्तुकला की शैली जो दक्षिण भारत में उत्पन्न हुई और विकसित हुई। गोपुरम, जलाशय और अन्य विशेषताएं वास्तुकला की इस शैली को अद्वितीय और नागर वास्तुकला के स्कूल से अलग बनाती हैं।

5.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 5.2 देखिए।

2) भाग 5.2 देखिए।

3) भाग 5.4 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 5.6 देखिए।

2) भाग 5.7, 5.8 देखिए।

3) भाग 5.8 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 5.10, 5.11 देखिए।

2) भाग 5.12 देखिए।

5.16 संदर्भ ग्रन्थ

गोपलन, आर (1928): *हिस्टी ऑफ़ द पल्लवास ऑफ़ कोची*। युनीवर्सिटी ऑफ़ मद्रास; मद्रास।

शास्त्री, के.ऐ. नीलकंठ (1929). *द पांड्यन किंगडम, फ्रॉम द अर्लियस्ट टाईम्स टू द सिक्सटीन्थ सेन्चुरीज*। ल्यूजैक अंड क0; लंडन।

शर्मा, आर.एस. (2005). *इंडियाज एंशियंट पास्ट*. ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस : नई दिल्ली

थापर, रोमिला (2003). *द पैन्युइन हिस्टी ऑफ़ अर्ली इंडिया फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300*. पेन्युइनः नई दिल्ली।

वैदय, सी.वी. (1921). *हिस्टी ऑफ़ मेडिवल हिंदू इंडिया ए हिस्टी ऑफ़ इंडिया फ्रॉम 600-1200 ऐ.डी., वॉल्युम-1 (सिरका 600-800 ए.डी.)*। ओरियंटल बुक-सप्पलाईंग ऐजन्सी, पूना।

इकाई 6 कदम्ब, बादामी के चालुक्य, चोल और होयसाल राज्य*

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 कदंब

6.3 बादामी के चालुक्य

6.4 चोल

6.5 होयसाल

6.6 सारांश

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.8 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे :

- 6वीं से 12वीं शताब्दी सी.ई. के प्रायद्वीपीय भारत में प्रमुख राज्य और उनके क्षेत्रीय विस्तार और राजनीतिक प्रक्रियाएँ;
- कदंबों, चालुक्यों, चोलों और होयसालों की राजतंत्रीय राज्य-व्यवस्थाओं की प्रकृति; और
- कंदब, चालुक्य, चोल और होयसाल की प्रशासनिक और संस्थागत संरचनाएं।

6.1 प्रस्तावना

यह इकाई 9वीं-13वीं शताब्दी सी.ई. के दौरान दक्कन और सुदूर दक्षिण में राजनीतिक विकास को रेखांकित करती है। दक्कन और सुदूर दक्षिण में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के कमज़ोर पड़ने के बाद, नये राजनीतिक विन्यास सामने आए। बाद में कंदब जो चालुक्य और राष्ट्रकूट के सांमत थे, ने उनकी क्षीण शक्ति का लाभ उठाते हुए गोपाकपट्टन (गोवा) और बनवासी (हंगल) में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। चोल (मध्यकालीन चोल) एक शक्तिशाली शक्ति के रूप में फ़िर से उभरे, और लगभग चार शताब्दियों तक इस क्षेत्र पर हावी रहे। इसी समय इस क्षेत्र में पल्लवों और पांडयों का रहस्यमयी पतन हुआ, जिससे बादामी के चालुक्यों के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। होयसालों ने भी स्थिति का लाभ उठाया और प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे, और यहाँ तक कि पूरे चेरा प्रदेशों में फैल गये और *केरल स्वामी* बन गए।

6.2 कदंब

कदंब शुरू में उत्तरी-पश्चिमी कर्नाटक में तलगुंडा (आधुनिक शिमोगा जिला) के आसपास 345 सी.ई. आसपास शक्तिशाली बनकर उभरे। उनकी राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र

*यह इकाई एम.एच.आई.-4, इकाई संख्या 6 और 15 से ली गई है। हालांकि भाग 6.2 और 6.5 नये लिखे गये हैं।

बनवासी क्षेत्र था, इसलिए उन्हें आम तौर पर बनवासी के कदम्ब के रूप में भी जाना जाता है। वे 6वीं शताब्दी सी.ई. के आसपास चालुक्य राज्य-व्यवस्था में आत्मसात हो गये और चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के सामंत बन गये। वे एक बार फ़िर 10वीं शताब्दी सी.ई. के उत्तरार्ध में प्रमुखता से उभरे। यहाँ हमारा प्रयोजन प्रारंभिक कदंबों से नहीं है, बल्कि हमारी चर्चा का ध्यान मध्ययुगीन कदंबों पर होगा जो 10वीं-13वीं शताब्दी सी.ई. के दौरान इस क्षेत्र में प्रमुख शक्ति थे। 11वीं शताब्दी सी.ई. में बनवासी कदंब की वंशावली का दावा करने वाले दो प्रमुख समूह उभरे :

1) हंगल के कदंब (धारवाड़ जिले में) और

2) गोवा के कदंब (धारवाड़, करवाड़ और बेलगाम जिले)।

दोनों ने *बनवासिपुरवर्धीसवर* उपाधि का दावा किया और राजधानी बनवासी पर अपना अधिकार जताया। गोवा के कदंब चंद्रपुरा और गोपकापट्टन से शासन चलाते थे; जबकि हंगल के कदंबों ने बनवासी पर अपना आधार बरकरार रखा।

हंगल के कदंबों ने 9वीं शताब्दी के शुरुआती दिनों से 13वीं शताब्दी तक अपनी राजधानी बनवासी से शासन किया। 11वीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभिक 13वीं शताब्दी के बीच गोपकापट्टन (आधुनिक गोवा) के कदंब प्रमुख शक्ति थे। उन्होंने गोवा के उत्तर-पश्चिमी भाग, बेलगाम (पटासीग 1200), धारवाड़ और उत्तरी कन्नड़ के कुछ हिस्सों (कोंकण 900, वर्तमान रत्नागिरी) आधुनिक कर्नाटक के जिलों पर शासन किया। गोवा के कदंबों के संस्थापक शेश्ठ-प्रथम थे। हालाँकि, गोवा के कदंबों का समूचित इतिहास ग्वालदेव-प्रथम, शेश्ठ प्रथम के पुत्र से शुरू होता है। उन्हें लमका (दक्षिण गोवा) को स्थायी रूप से अपने अधिकार क्षेत्र में लाने का श्रेय दिया जाता है। अंततः वे बादामी के चालुक्यों से हार गये।

राजा और उनके अधिकारी

हालाँकि राजा पूर्ण शक्तिशाली था, मध्ययुगीन कर्नाटक की एक महत्वपूर्ण विशेषता वहाँ की विकेन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था थी, जहाँ राजा ने स्थानीय प्रमुखों/सामंतों को शक्तियाँ सौपीं जिन्होंने लगभग समानान्तर सरकारें चलाईं, जिसमें उन्होंने स्वयं की प्रशासनिक व्यवस्था और अधिकारियों को बनाए रखा। वहाँ *युवराज* (युवराज, उत्तराधिकारी) को नियुक्ति करने की परंपरा थी। जयकेशी-1 ने ये उपाधियाँ ग्रहण की :

- *कोंकणाधीश*
- *कोंकण चक्रवर्ती* (कोंकण के स्वामी) और *पश्चिमी-समुद्रधीश्वर* (पश्चिमी महासागर के स्वामी)

गुवाल-II का अपना *मंत्री-परिषद* था। 1054 सी.ई. के एक शिलालेख में वीरवर्मदेव को *महामंडलेश्वर* के रूप में वर्णित किया गया है। शण्ठीदेव ने *तुला पुरुष* और *अश्वमेध* यज्ञ किए और सोमनाथ मंदिर में दर्शन किए।

हम राजदरबार के आधिकारियों के विशिष्ट कार्यों का वर्णन भी पाते हैं जैसे कि:

- *मनवरगड़े* (कुटुम्ब के अधिकारी),
- *तन्त्रपाल* (पार्शद),
- *प्रधान* (प्रमुख), और
- *तबुंला परूपेत्येगार* (सुपारी की धाली का रक्षक)

इसी तरह, *महामात्तर, राजजुका* और *लेखक* की उपस्थिति भी थी।

क्षेत्रों को *विसाय* (जिलों) में विभाजित किया गया था जिनका प्रशासन *मानेय* चलाते थे। सबसे छोटी इकाई गाँव (*ग्राम*) थी, जो *ग्राम मुखिया, उरोदेय* या *गावुंड* द्वारा शासित थी। उन्होंने अपनी स्वयं की सेना बनाए रखी और न्यायिक कार्य किये। *महाजन* सभाओं के महत्वपूर्ण सदस्य थे।

अर्थव्यवस्था और व्यापार

कृषि और व्यापार दोनों अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी थे। *त्रियोग, सर्वनामस्थ* और *तालवश्त्री* भूमि-अनुदानों के उद्धरण व्यक्तियों और धार्मिक समूहों द्वारा भूमि के स्वामित्व की मौजूदगी का सुझाव देते हैं। कदंब शासकों ने जैनों और शैवों को उदार अनुदान प्रदान किये। जुआन झांग बनवासी में कई बौद्ध *विहारों* और *मठों* की उपस्थिति की पुष्टि करता है।

क्दंबों की समृद्धि उनकी समुद्री गतिविधियों पर आधारित थी। गोवा के कदंबों की राजधानी-चंदापुर एक महत्वपूर्ण समुद्रीय केन्द्र था। उनके महत्वपूर्ण बंदरगाह गणदेवी (आधुनिक सूरत जिले में) के पूर्वी अफ्रीकी तट के साथ संपर्क थे। जयकेशी प्रथम ने *पश्चिमी-समुद्रधीश्वर* (पश्चिमी महासागर का स्वामी) की उपाधि ग्रहण करते हुए कदंबों की अर्थव्यवस्था में महासागरीय व्यापार का महत्व जताया। क्षेत्र में अरब व्यापारियों की मज़बूत उपस्थिति भी पायी गई। गुहलादेव को सोमनाथ की तीर्थ यात्रा के दौरान मधुमद (मोहम्मद/अली (?) द्वारा बचाया गया था जो एक अरब व्यापारी था। अली के बेटे साधना ने भूमि अनुदान भी प्राप्त किया, प्रशासनिक पद पर रहे और एक मस्जिद (*मिजिगिती*) का निर्माण किया।

6.3 बादामी के चालुक्य

जब पल्लव राजा सिंहविष्णु 550-80 सी.ई. के दौरान अपने भूभाग का विस्तार कर रहा था, लगभग उसी काल में बादामी के चालुक्यों ने भी उत्तरी कर्नाटक पर शासन स्थापित कर दिया था जिनकी राजधानी बादामी (बीजापुर जिले में) थी। संस्थापक पुलकेसिन I (543-66 सी.ई.) ने बादामी के निकट पर्वत पर एक शक्तिशाली दुर्ग बना दिया और अपनी विस्तारवादी गतिविधियों को प्रारंभ किया था। दक्षिण की ओर बनवासी के कदंबों और पश्चिम के कोंकण के मौर्यों के क्षेत्रों का जल्द जीत लिया गया और I (566-97 सी.ई.) कीर्जिवर्मन द्वारा अपने फैलते क्षेत्र में मिला लिया गया लेकिन पुलकेशिन द्वितीय के शासनकाल (609-642 सी.ई) में चालुक्य क्षेत्र का सबसे ज़्यादा विस्तार हुआ। दक्षिण कर्नाटक के गंगा शासकों और पश्चिमी तट (दक्षिण कनारा जिला) के अलूपों को अपने अधीन कर लिया गया। अतः कन्नड़ भाशी संपूर्ण क्षेत्र को एक शासन के अंतर्गत ले आया गया। उत्तर में सेना नर्मदा के पार मालवा और दक्षिणी गुजरात तक पहुंच गई जहां लता, मालवा और गुर्जर राजाओं ने अधीनता स्वीकार कर ली। चालुक्य शासकों को बड़ी सफलता उत्तर के उनके सबसे बड़े प्रतिद्वंदी कन्नौज के हर्ष के विरूद्ध संघर्ष में मिली जो दक्कन को जीतने की योजना बना रहा था। नर्मदा के तट पर चालुक्यों ने उसे निर्णायक रूप से परास्त कर दिया।

पूर्वी दक्कन और कृष्णा तथा गोदावरी के डेल्टा से बने तटवर्ती आंध्र पर चढ़ाई करके पुलकेसिन द्वितीय ने पूरे दक्कन पर नियंत्रण करने की कोशिश की। इसके कारण उसका टकराव पल्लवों से हुआ जो डेल्टा पर कब्ज़ा करने की कोशिश में एक सदी से अधिक समय से लगे हुए थे। पल्लव समकालीन महेंद्रवर्मन (580-630 सी.ई.) भी एक महत्वाकांक्षी राजा था। दोनों के टकरावों में पल्लवों की हार हुई और पल्लवों के क्षेत्र में चालुक्य सेना

लगभग उनकी राजधानी कांचीपुरम तक घुस गई। इसके शीघ्र बाद पुलकेसिन द्वितीय ने अपने भाई विष्णुवर्धन को आंध्र प्रदेश का शासक नियुक्त कर दिया और इससे एक नया राजवंश, वेंगी के पूर्वी चालुक्य, उभरा जो गोदावरी कृष्णा डेल्टा में केंद्रित था तथा लम्बे समय तक वहां बना रहा।

पल्लव राजा महेंद्र प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंह (630-68 सी.ई.) चालुक्य राजा के समान ही योग्य सिद्ध हुआ और अनेक युद्धों के बाद उसकी सेनाएं चालुक्य क्षेत्र में प्रवेश कर गई और बादामी तक घुस गई। वहां उसने एक शिला पर अपनी विजय को अंकित कराया। बाद के दशकों में चालुक्यों और पल्लवों के बीच अनेक संघर्ष हुए लेकिन किसी को निर्णायक जीत हासिल नहीं हुई। तत्पश्चात लगभग तीन दशकों तक युद्ध गतिविधियां रूकी रहीं। इस काल में चालुक्य शासक विजयदित्य (696-733 सी.ई.) और उसका समकालीन पल्लव राजा राजसिंह (691-729 ईसवी) था। 750 ईसवी के आस-पास बादामी में चालुक्यों का स्थान राष्ट्रकूटों ने ले लिया, जब राष्ट्रकूटों के सामंत दांती दुर्ग ने चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन को परास्त करके उन्हें अंतिम आघात पहुँचाया।

चालुक्यों की राज्य-व्यवस्था

चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के दक्कन राज्यों की राजनैतिक पद्धतियां *ब्राह्मण*वादी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था और *ब्रह्मदेय* तथा मंदिरों जैसे संस्थाओं पर आधारित थी, लेकिन ये लचीले ढंग से जुड़े हुए सामंती प्रकृति वाले राज्य थे। इन राज्यों की कमज़ोरी सामंती व्यवस्था की प्रकृति में निहित थी जिसमें एक या दूसरे पदानुक्रम से युक्त मुखियातंत्र के द्वारा सत्ता संतुलन को सैन्य सामर्थ्य के आधार पर आसानी से बदला जा सकता था। इसलिए एक केंद्रीकृत कर प्रणाली और पदानुक्रमानुसार संगठित अधिकारी वर्ग होने के बावजूद किसी केंद्रीकृत प्रशासन के विकास की संभावना नही ंके बराबर थी। राजधानी में राजा के अधीन सैनिकों की और राजवंशीय परिवार के सदस्यों के अधीन आस-पास क्षेत्रों में तैनात छोटी सैन्य टुकड़ियां अस्तित्व में थीं, पर कोई स्थाई सेना नहीं थी। इन छोटी सैनिक टुकड़ियों में से कुछ को उन पारगमन क्षेत्रों या मध्यवर्ती क्षेत्रों के सामरिक स्थलों पर तैनात किया जाता था जो मुख्य राजवंश के प्रति निष्ठावान सामंतों अथवा छोटी राजनैतिक शक्तियों के नियंत्रण में होते थे; ये क्षेत्र आंध्र तथा तमिल क्षेत्र की बड़ी राजनैतिक ताकतों के क्षेत्रों की बड़ी सीमा से लगे हुए थे।

राजत्व

चालुक्य राजाओं की उपाधियाँ थीं – *सत्याश्रय, श्रीपृथ्वीवल्लभ महाराज, परमेश्वर* और *महाराजाधिराज*। यह केन्द्रीकृत राज्य नहीं था। मंत्रिपरिषद् के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है लेकिन ऐसा लगता है कि शाही परिवार के सदस्य आधिकारिक स्तर पर कार्य करते थे। बाद में पूर्वी चालुक्य राज्य और अन्य राज्य इस नीति के तहत विकसित हुए। वे मूल बादामी के चालुक्यों की शाखाओं के रूप में उभरे। अभिलेखों से हमें उनकी प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी मिलती है। *राजश्रवितम* शाही आदेश थे। *विज़्ञनप्ति* (आवेदन करने वाले) और राजा के आदेश लिखने वाले, जो पत्थर व ताम्रपत्रों पर अनुदान संबंधी आदेश अंकित करते थे, महत्वपूर्ण प्रशासनिक कार्मिक थे। वे *महासंधिविग्रहिका* (शांति और युद्ध के अधिकारी) के पद पर कार्यरत थे। अभिलेखों में जिन इकाइयों का उल्लेख है वे हैं : *नाडु, विषय* तथा *राष्ट्र*। चालुक्य राजाओं के ताम्र अनुदानपत्रों में *विषयपति, सामंत, ग्रामभोगिका* तथा *महारात्राओं* का उल्लेख है। इस तरह प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्रीकृत नहीं थी हालांकि *विषयपति* शाही प्रतिनिधि या कार्मिक थे। ग्राम प्रशासनिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम स्तर के शाही प्रतिनिधि को *गामुंडा* कहते थे। वह राजा एवं ग्रामीणों के बीच कड़ी के रूप में कार्य करता था। *करण* ग्रामीण लेखाकार थे। गाँवों के बड़े लोगों को *महाजन*

कहा जाता था। लक्षमेश्वर अभिलेखों में हमें शाही व्यवस्था व स्थानीय प्रशासन के बीच संबंधों की जानकारी मिलती है। एक *आचार व्यवस्थे* (अधिकार एवं कर्त्तव्यों का अधिकारपत्र) *महाजनों, नगर* (व्यावसायिक समूहों) देशाधिपति (अधिकारी जो कर एकत्र करते थे) और अठारह *प्रकृतियों* (प्रकार) को दिया जाता था। यह शाही कार्मिकों, *महाजन, देसाधिपति* (अधिकारी जो कर एकत्र करते थे), तेल बेचने वालों की श्रेणी आदि का उल्लेख करता है। अभिलेखों में अनेक करों का भी उल्लेख है जैसे नमक, *स्वर्ण* एवं नज़राना जो राजा के अधिकारियों को बड़े त्योहारों के दौरान दिए जाते थे। पुलकेसिन द्वितीय के हैदराबाद अनुदानपत्र से पता चलता है कि गाँवों के साथ *निधि* (खज़ाना), *उपनिधि, क्लिप्त* और *उपारिकर* (देय) भी दिए जाते थे। शाही परिवार के सदस्य और व्यापार संगठन भी मंदिरों की वस्तुओं (ज्वार, पान के पत्ते) के रूप में दान (उपहार) देते थे।

(स्रोतः एम.एच.आई.-04, भारत में राजनैतिक संरचनायें, इकाई 16.6 से पृ. सं. 21)

प्रशासन

सत्ता के अनिश्चित स्वरूप के कारण अतिशयोक्तिपूर्ण उपाधियों का प्रयोग किया गया जबकि *महासंधिविग्रह, महादंडनायक* जैसी प्रभावशाली उपाधियां धारण करने वाले अधिकारियों की नियुक्तियां राजवंशीय परिवार से संबंधित कुलवंशों और सामंतों एवं छोटे प्रमुखों में से की जाती थीं। स्थानीय स्तर पर *विश्या, राष्ट्र* और *देश* जैसी इकाइयां या क्षेत्र प्रशासन में भूमिका निभाते थे जिनके प्रमुखों को क्रमशः *विश्यपति, देशाधिकारी* आदि कहा जाता था, जबकि गांव या ग्राम के भूमि नियंत्रण, उत्पादन, पुनर्वितरण के साथ स्थानीय प्रशासन के लिए उत्तरदायी गांव के उच्च स्तर के लोग, *महाजन* थे। ये विभाजन केंद्रीय सत्ता द्वारा नहीं बनाए गए थे बल्कि इन क्षेत्रों का विकास अपने आप हुआ था और इनको उसी रूप में शासक शक्तियों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। सत्ता का केंद्र राजवंशों के बदलने के कारण परिवर्तित हो जाता था जिन्होंने कुछ मुख्य भू-सीमांकित और अन्य क्षेत्रों पर संपूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया था। अतः इस राजनैतिक पद्धति की *ब्राह्मण*वादी व्यवस्था और संस्थाओं से युक्त राजतंत्र के साथ एक अधिक शक्तिशाली राजवंशीय शासन के अंतर्गत ढीले-ढाले तौर पर जुड़ा हुआ मुखियातंत्र माना जा सकता है। शासक शक्तियों में सबसे शक्तिशाली के पक्ष में झुकाने की क्षमता संरचनाओं की प्रकृति में निहित थी[1]।

स्रोतः एम.एच.आई.-04, भारत में राजनैतिक संरचनायें, इकाई 15.6, पृष्ठ - 32

बोध प्रश्न 1

1) कदंबों पर एक लेख लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) पुलकेशिन द्वितीय के तहत् चालुक्य शक्ति के उद्भव पर संक्षिप्त चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

[1]बादामी के चालुक्यों पर पूरा भाग एम.एच.आई.-04, भारत में राजनैतिक संरचनायें, इकाई 6.5 और 15.6 से लिया गया है।

3) क्या आप इस बात से सहमत हैं कि चालुक्य राज्य व्यवस्था की प्रकृति अत्यधिक केन्द्रीकृत थी?

.....

.....

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित में से कौन सा कथन गलत है?

i) रविकीर्ति के ऐहोल शिलालेख में पुलकेशिन द्वितीय के हाथों हर्ष की हार का उल्लेख है। ( )

ii) पल्लवों के साथ चालुक्यों का संघर्ष, चालुक्य राज्य के पतन के लिए ज़िम्मेदार था। ( )

iii) दंतिदुर्ग एक राष्ट्रकूट सामंत था। ( )

iv) पुलेकेशिन द्वितीय ने हर्ष पर अपनी हार के बाद *परमेश्वर* की उपाधि धारण की। ( )

6.4 चोल

तंजौर के चोल (कावेरी घाटी) (नौवीं-तेरहवीं शताब्दी ई.)। चोलों की सत्ता का केन्द्र कावेरी घाटी में था। प्रायद्वीपीय राजनैतिक पद्धति में वे सबसे शक्तिशाली थे और तमिल बृहत क्षेत्र में उन्होंने लंबे समय तक शासन किया।

भौगोलिक विस्तार

नौवीं सदी में चोल एक शासन करने वाली राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरे, जब विजयालय ने तंजावूर को पल्लवों के सामंत प्रमुख मुट्टारया से छीनकर अपने अधीन कर लिया। इसके बाद चोलों ने पल्लवों के क्षेत्र को कब्ज़े में कर लिया तथा पांड्यों की शक्ति को क्षीण कर दिया। चोल राज्य मज़बूत रूप से 'कावेरी घाटी जैसे समृद्ध व उपजाऊ संसाधनों वाले क्षेत्र में स्थापित हुआ। राजाराज प्रथम व उसके बाद के काल में कई सामंत प्रमुखों को अधीनस्थ कर लिया गया व पहले के *नाडू* को पुनर्गठित कर *वालानाडू* बनाया गया और इनको व्यवस्थित करने का दायित्व अधीनस्थ प्रमुखों को दिया गया। भू-स्वामियों को राज-व्यवस्था का हिस्सा बनाया गया और उन्हें प्रतिष्ठित उपाधियों के साथ-साथ प्रशासनिक व सैन्य कार्य दिए गए, जिसमें भू-राजस्व इकट्ठा करना और आकलन भी था।

चोल राजत्व

चोल खुद को *सूर्यवंशी* मानते थे। मिथकीय परंपराएँ विभिन्न अभिलेखों जैसे *प्रशस्तियों* में उल्लिखित हैं, जिनमें वंशावलियाँ भी हैं – तिरुवलेंगड ताम्रपत्र, बड़ा लेडेन पत्र एवं अंबिल पत्र व वीर राजेन्द्र का कन्याकुमारी अभिलेख। इनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों के विषय में जानकारी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका उद्देश्य चोलों के शासन को वैधता देना था चोलों की *प्रशस्तियाँ इतिहास-पुराण* परंपरा पर आधारित थी। संस्कृतिय एवं

*ब्राह्मण*वादी परंपराओं की प्रधानता के प्रमाण मिलते हैं। चोल अपने को *संगम* काल की परंपरा से भी जोड़ते हैं। चोलों की वंशावली में राजा के पद को प्रतिष्ठित व महत्वपूर्ण वंश से जोड़ा गया है। राजराजा के शासनकाल के आठवें साल से लेकर आगे तक के समय में तमिल *मेयकीर्ति* में वंशावली रूपी प्रमाण नहीं पाए जाते हैं। ये *मेयकीर्ति* राजा की सैन्य उपलब्धियों को दर्शाती है तथा ये पत्थर पर अंकित की गई तथा ये तमिल भू-स्वामियों को संबोधित करती हैं। चोल खुद को क्षत्रिय वंशज बताते थे इस बात का प्रमाण है कि राजराजा ने *क्षत्रिय-शिरोमणि* की उपाधि धारण की थी। राजा के नाम के साथ वर्मन प्रत्यय (संस्कृत से) जोड़ना भी इस बात की पुष्टि करता है कि वे खुद को क्षत्रिय बताते थे जैसे आदित्य वर्मन (871-906 ईसवी) और परांतक वर्मन (707-775 ईसवी)। चोल शासन के दौरान बाकायदा राज्याभिषेक समारोह में नाम धारण किए जाते थे। जैसे प्रकेसरीवर्मन और राजकेसरीवर्मन एवं अरुमोलीवर्मन (संस्कृत प्रत्यय के साथ तमिल नाम)। चोलों के अधिकारपत्रों में *प्रशस्ति* तथा वंशावली संस्कृत में है तथा अनुदान से संबंधित विस्तृत विवरण तमिल में उपलब्ध है। चोल राजाओं द्वारा *हिरण्यगर्भ* एवं *तुलाभरा* अनुष्ठान आयोजित किए जाते थे। अभिषेक अनुष्ठान भी क्षत्रिय स्तर को पाने का माध्यम था। वीर चोल द्वारा दिए गए अनुदान से पता चलता है कि राजा को *ब्राह्मणों,* जैसे नैतिकता पर उपदेश देने वाले *धर्मोपदेशता* द्वारा यह बताया जाता था कि *ब्राह्मणों* को भूमि देने से राजाओं के पूर्वजों को स्वर्ग मिलता है। अनुदान देने का उद्देश्य संसाधनों जैसे भूमि, स्*वर्ण* तथा मवेशियों को पुनर्वितरित करना था। *ब्राह्मणों* को अग्रणीय सेवा व राजनैतिक क्षेत्र में वैधता प्रदान करने के लिए दान दिए जाते। भू-अनुदान के जरिये राजा गैर-बस्तियों वाले क्षेत्रों को कृषि क्षेत्रों में परिवर्तित करने का प्रयास करता था। यह अनुदान केवल धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए ही नहीं होता था। राजारा को *उल्कलाइ पेरुमेल* (वह महान् जिसने पृथ्वी को *त्रिविक्रम* की तरह नापा) के रूप में एवं शिव की तरह माना गया जिसका भार्गव राम की भूमि पर नियंत्रण था।

बोध प्रश्न 2

1) संक्षेप में चोलों के क्षत्रिय विस्तार की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) *प्रशस्तियों* के आधार पर चोल राजत्व की मुख्य विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

स्थानीय प्रशासनः उर एवं नाडु

चोल ताम्रपत्र में भू-अनुदान को क्रियान्वित करने वाले निम्नलिखित लोगों का विवरण है:

1) *नेट्टर*

2) *ब्रह्मदेयाक्किलवर*

3) अ) *देवदान*

   ब) *पल्लिक्कांडा*

   स) *कानिमुरुट्टु*

   द) *वेट्टापेरु - उरकलिलर*

4) *नगारेट्टर*

नेट्टर, नाडु (इलाका) के प्रतिनिधि थे। *ब्रह्मदेयाक्किलवर ब्रह्मदेय* (भूमि जो *ब्राह्मणों* को दी जाती) अनुदान पाने वाले *ब्राह्मण* थे, *नगारेट्टर* व्यापारी समुदाय थे जो *नगरम* या व्यापारियों की बस्तियों से जुड़े थे। *देवदान, पेल्लीकांडा, कविमुरुतु* एवं *वेट्टापेरु* की पहचान कर मुक्त गाँवों के रूप में दी गई है। वाई. सुब्रयालु ने बताया है कि *नेट्टर वेल्लनवगई उरर* (कृषक ग्राम) के समकक्ष थे क्योंकि अनेक *उर नाडु* बनाते थे। सुब्रयालु *उर* या ग्राम को *नाडु* का एक छोटा हिस्सा मानते हैं। प्रशासनिक ढाँचे के रूप में *नाडु* महत्वपूर्ण थे लेकिन ये *उर* (*वेल्लानवगई* ग्राम) से बने थे तथा उसका प्रतिनिधित्व करते थे। इसलिए भू-सीमांकित क्षेत्र के अर्थ में *नाडु वेल्लानवगई* ग्रामों (*उर*) से मिलकर बने थे। *नेट्टर नाडु* (इलाके) के महत्वपूर्ण सदस्य (भूमि के धारक) थे। *वेल्लानवगई* गाँवों के बारे में बहुत कम अभिलेख उपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस सामान्य जनता के उस भाग का प्रतिनिधित्व करता था जो साक्षर नहीं थे। परंतु *उर* से संबंधित अभिलेखात्मक साक्ष्य जो मंदिरों में मिलते हैं साक्षर लोगों से संबंधित है। एन. कारशीमा ने राजराजा प्रथम के दो तंजावुर अभिलेखों व वीरराजेन्द्र के गंगईक्कोंडा कोलापुरम अभिलेख का विश्लेषण किया है। उनके मुताबिक *वेल्लानवगई* गाँव में कृषि भूमि, पशुचारी के लिए उपयोग की जाने वाली भूमि, सिंचाई के लिए भूमि, श्मशान क्षेत्र एवं रिहाइशी क्षेत्र आदि पाए जाते थे। रिहाइशी इलाकों में निम्न आते थे :

1) भू-धारक / कृषकों (*उर-नेट्टम / उर-इरुक्कई*) के आवास स्थल।

2) शिल्पकार (*काम्मानाक्केरी*) के स्थाल और

3) कृषि मज़दूरों (*पराईक्केरी*) के स्थल। काराशीमा का मत है कि *वेल्लानवगई* ग्रामों में विभेदीकरण नहीं था। सुब्बरयालु इस मत का खंडन करते हैं। गाँवों में पदानुक्रम व्यवस्था के अस्तित्व में होने की बात कहते हैं जिसके अंतर्गत कृषक (*कानिइयुडयियार*), काश्तकार कृषक (*उलुकुडी*), शिल्पकार तथा कृषक मज़दूर आते थे। कृषकों को सामान्यतः *वेल्लाल* कहा जाता था।

उर के निम्न कार्य थे : ग्राम भूमि की देखरेख, बिक्री जैसे खरीद तथा उपहार देने संबंधी गतिविधियाँ। *उर* का सदस्य बनने के लिए भूमि पर अधिकार होना बेहद जरूरी था। अभिलेखीय साक्ष्यों से हमें पता चलता है कि *उर* के सदस्य भी कई उपाधियाँ धारण करते थे जैसे *उदईन, किलन* (*किलावन*), *वेलन, पेरारइयन*। ये सभी उपाधियाँ भूमि का अधिकार (कब्ज़ा) की द्योतक थीं। इस तरह अभिलेखीय सबूतों के मुताबिक यह पता चलता है कि *उर* ऐसे गैर *ब्राह्मणों* का समूह / सभा थी जिनका भूमि पर अधिकार था।

एन. काराशीमा ने कहा है कि *उर* गाँवों में भूमि पर अधिकार सामूहिक था। कुछ अन्य उदाहरण देकर काराशीमा ने यह बताया है कि *उर* के कुछ सदस्य भूमि का व्यक्तिगत रूप

से बेचते भी थे। सुब्बरयालु बताते हैं कि इस काल में व्यक्तिगत भूमि अधिकारों के उभरने के संकेत थे। *नाडु* का नाम ग्राम के नाम पर रखा जाता था जो उसका अंश था। अभिलेखीय साक्ष्य इस ओर भी इशारा करते हैं कि अनेक *नाडु* में *ब्रह्मदेय* (*ब्राह्मणों* की दी जाने वाली जमीन) मुख्य गाँव थे। यद्यपि अनेक *नाडु* में *ब्रह्मदेय* नहीं भी होते थे। सुब्बरयालु यह भी बताते हैं कि *नाडु* की संख्या में बढ़ोतरी नौवीं सदी से हुई। *नाडु* शुरू में उपजाऊ भूमि में स्थापित हुए जहाँ ज़्यादा गाँव थे जबकि बाह्य क्षेत्र (कम उपजाऊ क्षेत्र) में गाँवों की संख्या तुलनात्मक रूप से कम थी। नीलकंठ शास्त्री कहते हैं कि *नाडु* कई गाँवों का सम्मिश्रण होता था जो प्रशासनिक व्यवस्था के सबसे छोटे हिस्से होते थे। महालिंगम ने कहा है कि *नाडु* एक प्रशासनिक इकाई थी जो कि गाँवों में उप-विभाजित थी। शोध करने वालों में इस संबंध में कोई सर्वमान्य मत नहीं है कि नाडु केवल *वेल्लनवगई* गाँवों से ही बना था या फ़िर उसमें *ब्राह्मदेय, देवदान* आदि भी समाहित थे। वाई. सुब्बरयालु कहते हैं कि *नाडु* एवं *उर* उस स्थानीय क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते थे जिसमें *वेल्लनवगई* गाँव शामिल थे एवम् इनके प्रतिनिधि *नाडु* की सभा में भाग लेते थे। *नाडु* कितने बड़े क्षेत्र में फैले थे इसके विषय में सुनिश्चित तौर पर बताना कठिन है। आकार की दृष्टि से *नाडु* कई तरह के होते थे और वे किसी प्राकृतिक विभाजन (जैसे नदी) के आधार पर गठित नहीं थे। *नाडु* कृत्रिम रूप से बनाई गई इकाई या विभाजित इकाई नहीं थी। कभी-कभी नाडु में नदी के पार का क्षेत्र भी आता था। पारंपरिक इतिहासलेखन में *नट्टर* को भू-सीमांकित इकाई *नाडु* की सभा माना गया है जिसके महत्वपूर्ण सदस्य प्रत्येक ग्राम से थे। अन्य सभाओं जैसे, *पल्लिकांडम* को प्रशासनिक व्यवस्था में *नाडु* के अधीन बताया गया है। हाल में ही इतिहासकारों ने बताया है कि *नाडु* चोल राज्य द्वारा स्थापित कोई प्रशासनिक इकाई नहीं थी बल्कि यह किसानों की बस्तियों का एक स्वाभाविक समूह था जिसे चोल राज्य व्यवस्था में पहले की परंपरा के आधार पर शामिल किया गया। यह इस बात से सिद्ध होता है कि *नाडु* समान आकार के नहीं थे और वे केन्द्रीकृत थे। राजराजा प्रथम के समय उभरे *वलानाडु* प्रशासनिक खंडों के रूप में कृत्रिम तरीके से स्थापित किए गए। नाडु शुरुआत में उपजाऊ क्षेत्रों में उभरे और बाद में तुलनात्मक रूप से कम उपजाऊ क्षेत्र में भी फैल गए। इस प्रकार कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ। उपजाऊ क्षेत्रों में उभरे *नाडु* की संख्या अन्य क्षेत्रों के नाडु से अधिक थी।

कुछ अन्य अभिलेख भी हैं जो हमें *नाडु* के बारे में जानकारी देते हैं। 1310 सी.ई. के *किरनुर* अभिलेख के मुताबिक ''नंजिल, पेरुनसेवुर, विराईक्कुडी गाँवों के *उरुम* को *नाडु* अथवा वडा चिरुवयइल नाडु (के. वेलुठट, पृ. 184) के लिए योग्य माना गया''। इससे यह साफ होता है कि साक्ष्यों के मुताबिक *वेल्लाल* ही *नेट्टर* थे एवं *नट्टर* (*नाडु*) से संबंधित कार्य वेल्लाल करते थे तथा उन्होंने वेलन उपाधि भी धारण की थी। *नेट्टर* का मुख्य कार्य कृषि था क्योंकि *नाडु* कृषक बस्तियों का समूह थे।

ताम्र पत्र मूलतः भू-अनुदान से संबंधित थे तथा ये *नेट्टर* को संबोधित करते थे तथा अनुदान के कार्यान्वयन का दायित्व राजा द्वारा *नेट्टर* को दिया जाता था (अनुदान में दी गई भूमि की सीमा तय करना जो नए अनुदान प्राप्तकर्ताओं को विशेषाधिकारों के तहत दी गई थी)। *नेट्टर* शासकों के अधीन थे तथा उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करते थे। *नेट्टर* सिंचाई कार्यों की देखरेख करते थे। वे मंदिरों को भूमि अनुदान देते थे। वे मंदिरों को दिए गए दान की देखरेख करते थे। व्यक्तिगत तौर पर दिए गए अनुदानों का हिसाब रखना तथा इनको कर-मुक्त बनाने के बदले में नगद जमा करवा लेते थे। *नाडु* मंदिरों को कर-मुक्त (*नेट्टीरेती*) भूमि देता था। मंदिरों को कर-मुक्त भूमि दिए जाने के कारण राज्य को कर देना अब *नाडु* की ज़िम्मेदारी थी। *नाडु* कर लगाकर राज्य को देकर उसके प्रति अपना दायित्व निभाते थे। ये कर थेः *नदातकी, नटट्र विनियोगन* तथा *नट्डु व्यावस्थाई*। मंदिर भूमि बेची

जाती या पट्टे पर दी जाती थी और *नेट्टर* इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। ऐसा लगता है कि नाडु कर संग्रहण और इसके निर्धारण का कार्य करते थे। कभी राजस्व संग्रहण का कार्य राज्य की ओर से *नेट्टर* करते थे। हालाँकि कई बार राजा के कार्मिक (*कोमारवर*) भी इस काम के लिए ज़िम्मेदार होते थे। मुडलिगल और दंडनायकम *नाडु* के लिए नियुक्त किए गए कार्मिक थे और शाही अधिकारियों की तरह प्रशासनिक ज़िम्मेदारियों को निभाते थे। चोलों ने राज्य व्यवस्था में क्षेत्र के भू-स्वामियों को शामिल किया। ये स्थानीय भू-स्वामी थे और ये राजा के निर्देशानुसार कार्य करते थे तथा उसके अधीन थे।

राजस्व प्रशासन के अंतर्गत *नाडु* सबसे छोटी इकाई होती थी। *नट्टुपुरवु, नट्टुवाड़ी* (भू-राजस्व) एवं *नट्टुक्कानक्कू* सभी का *नाडु* के राजस्व से संबंध था। *नट्टुक्कानक्कू नाडु* के राजस्व प्रशासन के लिए ज़िम्मेदार कार्मिक थे। गाँव का राजस्व संग्रहण तथा निर्धारण उस नाडु के संदर्भ में किया जाता था जहाँ वह गाँव स्थित था। जब उर करों में छूट देता था तो यह नाडु के खातों में प्रतिबिंबित होता था। किसी खास उद्देश्य के तहत मंदिर संसाधनों का हस्तांरण *वरीगीलारकनकू* (शाही राजस्व दस्तावेज) तथा *नट्टुकनकू* (नाडु का राजस्व दस्तावेज) में प्रतिबिंबित होता था। इससे यह पता चलता है कि *नाडु* चोल प्रशासनिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण घटक था। हालाँकि इसका स्थानीय संदर्भ में स्वायत्त चरित्र था। *नाडु वगई-सेयवर, नाडु-कुर्क-सेयवर, नाडु-कनकनी-नयाग्राम* एवं *नाडु-कनकटकी* आदि *कार्मिक नाडु* में शाही शक्ति के प्रतिनिधि थे। *नाडु* कुरु का उल्लेख *कुलोट्टुनगा* प्रथम (1116 ई.) के अभिलेखों में मिलता है जो नये *देवदान* से संबंधित प्रबंधन की ज़िम्मेदारी निभाते थे। इन कार्मिकों को स्थानीय मंदिरों के खातों की देखरेख की भूमिका दी गई थी। *नाडुवाई ब्रह्मदेय* (*सभा*) की सभा में भाग लेते थे। एक अभिलेख में *नाडु-कनकी-नयागाम* के *सेनापति* के अधीन होने का उल्लेख है। *नाडु* के अधिकारियों के पद स्थानन्तरणीय थे। कुछ अधिकारियों को एक से ज़्यादा *नाडु* की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी। इस प्रकार से ये शाही प्रशासनिक व्यवस्था के घटक के रूप में कार्य करते थे।

ब्रह्मदेय एवं नगरम

ब्रह्मदेय ब्राह्मणों की बस्तियाँ थीं जो कृषि क्षेत्र में भू-धारक थे और उन्हें भूमि (कर-मुक्त) दी गई थी और वे एक खास समूह में संगठित हुए। *नगरम* में वे व्यापारी रहते थे जो व्यापार तथा आदान-प्रदान की गतिविधियों में संलग्न थे और उनके इलाके वाणिज्यिक केन्द्रों में परिवर्तित हो गए क्योंकि शिल्पकारों के उत्पादन में बढ़ोतरी हुई। नौवीं सदी के मध्य में जब थांजवूर में चोल एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे तब अनेक *ब्रह्मदेय* कावेरी के उपजाऊ तथा घनी जनसंख्या वाले क्षेत्र में पहले से स्थापित थे। राजेन्द्र प्रथम के कर्नाटई अधिकारपत्रों में 1080 *ब्राह्मणों* के बारे में बताया गया है जो त्रिभुवनमहादेवी चतुर्वेदीमंगलम में बसे हुए थे। कृषि क्षेत्र में बसे *ब्राह्मणों* के समूह के *सभा* या *महासभा* कहा जाता था। ज़्यादातर *ब्रह्मदेय* या *ब्राह्मण* बस्तियाँ मंदिरों के आस-पास स्थापित हुई। मंदिर एवं *इतिहास* तथा *पुराण* पर आधारित विचारधारा और *वर्णाश्रमधर्म* एवं *भक्ति* के माध्यम से समाज तथा राजवंशीय राजनैतिक पद्धति को वैधता मिली। इसलिए राजा *ब्राह्मणों* को ज़मीन देते थे और अपनी शक्ति को वैधता देने के लिए *ब्रह्मदेय* स्थापित करते थे।

अभिलेखों से हमें यह जानकारी मिलती है कि चोल काल में *नाडु* के तहत बहुत सारे *ब्रह्मदेय तैनियुर* (अलग ग्राम) थे। उनकी अलग प्रशासनिक व्यवस्था (राजस्व एवं न्याय) थी। बहुत से कृषि गाँवों को *तैनियुर* के साथ मिला दिया जाता था। कभी-कभी *तैनियुर* को मंदिर के अधीन रखा जाता था। यहाँ *मुलपारउसई* नामक निकाय प्रशासनिक व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार था।

अभिलेख *सभा* की कार्यकारी समिति का सदस्य बनने के लिए ज़रूरी शर्तों की जानकारी देते हैं जैसे भू-अधिकार, ज्ञान, अच्छा व्यवहार आदि। कर्नाटई अधिकारपत्र (1080 *ब्राह्मण*) *ब्रह्मदेय* के बारे में बताते हैं, लेकिन सभी व अन्य समितियों का किस तरह गठन हुआ इस बारे में जानकारी नहीं देते। उन्हें शाही शक्ति ने स्थापित नहीं किया था। उनका उद्‌भव *धर्मशास्त्र* के नियमों के मुताबिक हुआ था। *सभा* एवं उनकी समितियाँ मंदिर भूमि, पशु एवं अन्य संसाधनों की देखरेख करती थीं। वे जमीन काश्तकारों को देते थे तथा उनसे लगान लेते थे। वे राजस्व का लेखा-जोखा रखते, उसे एकत्र करते थे और खर्चों का विवरण रखते थे। वे मंदिर के पुजारी से लेकर सफाईकर्मियों के कार्यों पर निगरानी रखते थे और मंदिर के दैनिक कार्यों की देखरेख करते थे। सभी एक समूह की तरह कार्य करती थीं और जो निर्णय लिए जाते थे वे किसी व्यक्ति विशेष के हित के लिए नहीं वरन् सभी के कल्याण को ध्यान में रखकर लिए जाते थे। चोल शासन काल के उतरार्ध में *ब्रह्मदेय* बस्तियाँ, जहाँ मंदिर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, महत्त्वपूर्ण नहीं रहीं। ग्यारहवीं सदी के मध्य में *ब्रह्मदेय* की संख्या में कमी आई तथा मंदिरों के निर्माण में वृद्धि हुई और पुराने मंदिरों को पुनर्निमित किया गया। कभी-कभी *महासभा* संसाधनों के अभाव में मंदिर से ली गई रकम को चुकाने में असमर्थ होती थी तब आसपास के ग्राम से एकत्रित रकम पर निर्भर रहती थी। *नगरम* बस्तियाँ वो क्षेत्र थे, जहाँ व्यापारी व अन्य (शिल्पकारों सहित) रहते थे। 1036 सी.ई. के एक अभिलेख में गैर-*ब्राह्मण* निवासी, जो उच्च स्तर के थे (*कुडीग*) एवं वे जो निम्न स्तर (*किल कलनई*) के थे, में अंतर बताया गया है। *कुडीग* के अंतर्गत दो व्यापारी समूह *शंकरप्पिडियर* (निचला समूह) एवं *व्यापारिन* (उच्च समूह) और तीन समूह *वेल्लार* (कृषक), *सेलियर* (कपड़ा व्यापारी) एवं *पट्टिनवर* (मछुवारे) आते थे। छोटे स्तर के कार्मिक (*किल कलनई*) थे : *टक्कर* (बढ़ई), *कोलियर* (बुनकर), *टट्टर* (स्*वर्ण*कार), तथा *कोलर* (लुहार) आदि। (*बी. स्टेन, पेजेन्ट स्टेट एंड सोसाईटी इन मिडीवल साउथ इंडिया*)।

नगरेट्टर व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करने वाला निकाय था। *नगरम* बस्ती एक अलग क्षेत्र थी। *नगरेट्टर* की समिति *नगरवैरियम* कहलाती थी। *नगरम* में भी भूमि व्यवस्था सामूहिक थी जिसे *नगरक्कनी* कहते थे। भूमि को खरीदा जाता था तथा पट्टे पर भी दिया जाता था। नगरम कर लेते थे तथा स्थानीय समूहों को सेवाएँ प्रदान करते थे। वे आय एवं व्यय का हिसाब रखते थे तथा शाही कर सोने या अनाज के रूप में देते थे। वे स्थानीय मंदिरों पर कर भी लगाते थेः जैसे *कदामयी* (भूमि पर कर), *नगरविनियोगम* (*नगरम* के लिए कर) आदि। कभी-कभी *नगरम नाडु* से स्वतंत्र होते थे (*तनियूर*)।

राजा, अधिकारी तथा मुखिया

चोल राज्य में अनेक अधिकारी प्रशासनिक व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार थे। यद्यपि मंत्रिपरिषद् के बारे में स्पष्ट साक्ष्य नहीं है, लेकिन लगता है *उड़ंडम-कोट्टम* मंत्रीपरिषद् के रूप में कार्य करती थी। प्रशासनिक पदानुक्रम में ऊपर या नीचे की ओर गतिशीलता देखी जा सकती है। पारंपरिक इतिहासलेखन के अनुसार *पेरुंडनन* एवं *शिरुतरम* क्रमशः उच्च एवं निम्न अधिकारियों की श्रेणी थी। *सेनापति* (सेना की टुकड़ी का अध्यक्ष) की बीच की स्थिति भी जिसे *सिरुडनट्टुप,* पेरुडनन कहा जाता है। न्यायट्टर (न्यायाधीश) दोनों श्रेणियों के होते थे। हाल ही में इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि यह विभाजन साक्ष्यों के द्वारा प्रमाणित नहीं है।

अधिकारियों को भू-अधिकार के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था। भूमि पर कर नगद तथा वस्तुओं के रूप में लिए जाते थे। अधिकारियों को भू-धारक (*उदयन, किलान*) कहा जाता था। वे भूमि किसी अन्य को भी दे सकते थे या बेच सकते थे। सामुदायिक स्वामित्व प्रचलन में था तथा गाँववालों के पारंपरिक अधिकारों को मान्यता मिली हुई थी। प्रशासन की सबसे

छोटी इकाई गाँव थी। इनको मिलाकर *नाडु* बनते थे। कुछ *नाडुओं* को मिलाकर *वैलेनाडु* बनता था। *तेनीयार* एक अलग गाँव और बस्ती स्थल था। वैलेनाडु के ऊपर मंडलम होते थे जो प्रांत के समान होते थे। *कारुमिलगल* एवं *पैनिमक्कल* शब्द अधिकारी एवं नौकर की ओर इंगित करते हैं। अंबिल अधिकारपत्र में *ब्राह्मण* मान्य सचिव के बारे में बताया गया है जिसे राजा द्वारा भूमि दी गई थी। राजा का आदेश मौखिक रूप (*त्रियुवयकेलवी*) में होता था खासतौर पर मंदिरों के लिए दान के संबंध में। दिशा-निर्देश पत्र (*श्रीमुखम*) के द्वारा दिए जाते जिन्हें राजा द्वारा नियुक्त *अनाट्टी* (कार्यकारी अधिकारी) जारी करता था। स्थानी निकायों को जानकारी दी जाती थी और प्रक्रिया पूरी हो जाने पर दस्तावेज स्थानीय प्रमुख, जिन्हें *नाट्टुक्कन, नाडुकिलावन, उरुदैयान* कहते थे, के समक्ष रखा जाता था। अनुदान देने तथा उनके दस्तावेज़ बनाने की प्रक्रिया में संलग्न कुछ आधिकारियों को *उत्तरामंत्रिन* कहा गया है। *पुरवु-वारी-निनईक्कलम* भू-राजस्व विभाग था। *वारिपोट्टगम* भू-अधिकारों से संबंधित दस्तावेज़ तथा *वारि-पोट्टगक कनक्कु* भी राजस्व विभाग का दस्तावेज़ था। *वारिपोट्टग* और *वारियिलेड* वे अधिकारी थे जो राजस्व विभाग तथा भू-अधिकारों से संबंधित दस्तावेज़ रखते थे। *कनकनिस* या पर्यवेक्षक लेखा अधिकारी थे। दस्तावेज़ों में दी गई प्रविष्टि को *वैरियीलेडु* कहा जाता था। *मुगावेट्टी* (शाही पत्र लिखते थे) और *पट्टोलई* भू-राजस्व के कनिष्ठ कार्मिक थे। *नाडु* के 'अधिकारी' (अधिकारी स्तर के) नाडुकुरु (राजस्व निर्धारण एवं बंदोबस्त अधिकारी) व *नाडु वगई* (राजस्व अधिकारी) थे। *मंदिर ओलई* वे अधिकारी थे जो *निरूगुम* (शाही आदेश से संबंधित पत्र) लिखते थे। *नाडुविरुक्कई* शब्द *विज़नप्ति* (*वक्केलवी*) के लिए इस्तेमाल किया जाता या आवेदन करने वाले लिए प्रयोग में लाया जाता था और *अनट्टी* (कार्यकारी अधिकारी) राजा तथा उससे मिलने के इच्छुक लोगों के बीच को कड़ी के रूप में काम करता था। राजा मौखिक आदेश (*तिरुवयक्केलवी*) उन मुद्दों पर जारी करता था जो अधिकारियों द्वारा उसके पास लाए जाते थे। ये निवेदन आदेश में तबदील हो जाते थे जो स्थानीय प्रशासन और केन्द्रीय प्रशासन को कार्यान्वयन के लिए भेजे जाते थे। *ओलई नयागम* वे अधिकारी थे जो *मंदिर ओलई* द्वारा लिखे पत्रों को प्रमाणित करते थे। राजा के मौखिक आदेश को लिखित (*एलुट्टु*) रूप दिया जाता था तथा इसकी मूल आदेश (*ओप्पु*) से मिलाया जाता था फ़िर दस्तावेज में लिखा (*पुगुंडा*) जाता था। *विदाइल दिगारी* आदेश को दस्तावेज में सूचीबद्ध करते थे। इस दस्तावेज़ को *टिट्टु* कहते थे और धर्मार्थ कार्य को *अरावोलाई*।

ग्रामीण सभाओं द्वारा न्याय प्रक्रिया का कार्यान्वयन उन समितियों के जरिये होता था जिनमें *न्ययट्टर* होते थे। *धर्मासना* केन्द्रीय न्यायालय था जो *धर्मासना भट्ट* (*ब्राह्मण* जो कानून विशेषज्ञ थे) के द्वारा संचालित था। ऐसा लगता है कि नागरिक एवं फौजदारी अपराधों के मामलों के लिए अलग से व्यवस्था नहीं थी। राजा या शासन करने वाले राजवंश को प्रभावित करने वाले अपराध की सज़ा राजा निर्धारित करता था। दंड के कुछ तरीकों का विवरण उपलब्ध है जैसे आर्थिक दंड, मृत्यु दंड आदि।

राजा के अधिकारियों को अधिकारी कहा जाता था। वे *उदईयान, किलन/किलावन, वेलन, मुवेन्डावेलन, ब्रह्मा, पल्लवरियन, विलुप्परियन* जैसी उपाधियाँ तथा अन्य मुखिया नामपद्धति धारण करते थे। कई बार एक से अधिक नाम पद्धतियाँ धारण की जाती थीं। चोल शासक का नाम या उपनाम अधिकारियों द्वारा प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता था। *नाडुविरुक्कई* अधिकांशतः *ब्राह्मण* (जो *भट्ट, ब्रह्माधिराजन* की उपाधि धारण करते थे) अधिकारी थे। ये अधिकारी शाही प्रशासन एवं नौकरशाही के बीच कड़ी का काम करते थे और उनका उल्लेख हमेशा अधिकारियों के संदर्भ में मिलता है। मंदिरों के प्रभारियों को *श्रीकार्यम* कहते थे। लेकिन वे आनुष्ठानिक कार्यों जैसे पूजा आदि की व्यवस्था नहीं करते थे। कुछ मामलों में हमें इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि अधिकारी *श्रीकार्यम* का पद सँभालते थे। सामान्यतः

प्रशासनिक व्यवस्था में उनकी विशिष्ट स्थिति थी। उनके द्वारा धारण की जाने वाली उपाधियाँ थीं *किलन/किलावन, वेलन, मुवेन्डवेलन, ब्रह्मा, भट्ट, कोन, पल्लविरयमन, विलुप्परियन, नाडु उपाधि, राजा की उपाधि*। सैन्य मामलों का प्रभारी *सेनापति* होता था। वे राजा की उपाधि या नाम धारण करते थे एवं अन्य उपाधियाँ जैसे *उदईयान, ब्रह्माआरियन* आदि भी धारण करते थे। *तिरुमंदिर ओलई नयाकम* भूमि-अनुदान से संबंधित दस्तावेज़ों को तैयार करते थे। इन अधिकारियों की उपाधियाँ थीं *मुवेन्डवेलन, ब्रह्मा* आदि।

नाडु के अधिकारी जो राजा के प्रतिनिधि थे उन्हें *नाडु वगई* कहते थे। ये राजस्व निर्धारण एवं आकलन थे। *कोट्टम वगई तोड़ाइंमंडलम* क्षेत्र में तैनात थे और *नाडु वगई* के समान कार्य करते थे। *नाडुकंकनियकम* का एक से अधिक *नाडु* पर नियंत्रण था और उसका स्तर *नाडु वगई* से उच्च था। *नाडु वगई* से संबंधित उपाधियाँ *आरियन* एवं *उदईयन* थीं। *मुवेन्डवलेन* उपाधि *नाडु कुरु* धारण करते थे (*नाडु* के अधिकारी) जो अधिकारी के स्तर के थे।

राजराजा प्रथम (1001 सी.ई.) ने विस्तृत भू-राजस्व निर्धारण प्रणाली अपनाई तथा *वैलेनाडु* अस्तित्व में आए और यह तरीके दूसरे शासकों ने भी अपनाए। भू-राजस्व विभाग को *पुरवुवरी टिनईक्कलम* कहा जाता था। यह विभाग राजा की शासन-व्यवस्था के अंतर्गत एक प्रशासनिक खंड था और इसके निम्नलिखित कार्मिक थे *पुरवुवारी, वारी पोट्टागन, मुगवेट्टी, वारी पोट्टागा, कनक्कु, वैरियिल इडु* एवं *पट्टोलई* आदि। राजेन्द्र द्वितीय के शासनकाल में प्रशासनिक कार्मिक अतिशयोक्तिपूर्ण उपाधियाँ धारत करते थे जैसे *पुरकु-वारी - टिनईक्कला, कन्नकर* आदि। *कुलोट्टुंगा* प्रथम को शासन काल में अधिकारियों की संख्या में कमी आई: *उदईयान, मुवेन्डवेलन* आदि। राजा के कार्मिकों द्वारा धारण की गई उपाधियाँ थीं: *उदईयान, किलन* एवं *किलवन* जो नियंत्रण या कब्ज़ा होने की तरफ संकेत करती हैं।

वेलान तथा *मुवेन्डवेलन* इनके द्वारा धारण की गई अन्य उपाधियाँ थी। *मुवेन्डवेलन* चोल उपाधि थी और यह परांतक के शासनकाल से प्रचलन में थी। इन उपाधियों से पता चलता है कि जो इन्हें धारण करते थे वे भूमि से जुड़े थे। *मुवेन्डेवलन* उपाधि चोल राजा देते थे तथा के. वेलुथट बताते हैं कि ''इस उच्च उपाधि को धारण करने वालों का संबंध महत्वपूर्ण पदों से था इससे यह पता चलता है कि महत्वपूर्ण वेल्लाल भू-स्वामी राजा की सेवा में कार्यरत थे जिससे वे राज्य व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में उभरे''। प्रमुखों एवं उनके परिवार द्वारा *अरियान* उपाधि धारण की जाती थी। यह उपाधि अन्य महत्वपूर्ण लोग भी धारण करते थे। राजराजा प्रथम के शासनकाल में प्रमुखों के प्रभुत्व में कमी आई परंतु *अरियान* उपाधि धारण करने वालों की संख्या बढ़ गई। यह *मुवेन्डवेलन* से अधिक प्रतिष्ठा वाली उपाधि थी। ऐसा माना जाता है कि प्रमुख राजराजा तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में भू-स्वामियों या खेतिहरों में परिवर्तित हो गए हालाँकि वे बाद में भी उपाधि धारण करते रहे थे।

पशुपालन समूह (*मनराडी*) मंदिरों में दिए जलाने के कार्य की देख-रेख करते थे। व्यापारी *सेट्टी, मेयलट्टी* एवं *पलन* उपाधियाँ धारण करते थे। वे महत्वपूर्ण पदों पर थे जैसे *सेनापति* तथा लेखाकार। *पेरुटक्कन* एवं *पेरुंकोल्लन* वे उपाधियाँ थीं जो शिल्पकार धारण करते थे परंतु उनमें से कुछ महत्वपूर्ण पदों पर थे जो शाही महल तथा मंदिर से संबंधित थे।

हमें मंत्रिपरिषद् के बारे में स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलते लेकिन अधिकारियों जैसे पुरोहित (*धर्मोपदेस्त*), *राजागुरु, तिरुमंदिर ओलई*, अधिकारी, *वइलकेत्पर* (वे अधिकारी जो राजा के निर्देशों को संकलित करते थे) आदि के विषय में जानकारी मिलती है। एम.जी.एस.

नारायणन बताते हैं कि *उडनकुट्टम* राजा के सम्मानित सहयोगियों के समान थे। इनका शायद प्रमुख होता था क्योंकि हमें *उडनकुट्टम,* के अधिकारी का उल्लेख मिलता है। साहित्य में (*पेरियापुरानम*) दरबार के उल्लेख मिलते हैं। राजा के दरबार में निम्नलिखित लोग होते थे : *ब्राह्मण* सलाहकार, पुजारी, राजगुरु, अधिकारी, *तिरुमंदिराओलाई नायगम, वायिलकेतपर,* राजा के अंगरक्षकों का प्रमुख और सामंत (सामंती प्रमुख)। इस काल में लिए जाने वाले विभिन्न कर थेः *अंतरायम इकोरू, कदामई* (उत्पादन शुल्क), *कुडीमई, मुट्टाम-अलवेट्टी* (श्रम कर) एवं *टैट्टर-पैट्टन* (नगद भुगतान)। कर उगाही अधिकतर वस्तुओं जैसे धान के रूप में की जाती थी।

चोलों ने अपने सैन्य अभियान राजराजा प्रथम के शासनकाल में श्रीलंका और राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल में श्रीविजय भेजे। इससे चोल राज्य की सैन्य शक्ति के बारे में पता चलता है। ऐसा लगता है कि घुड़सवार (*कुडिराईसीवगर*), *अनयिटक्ल* (जो हाथी पर सवार होकर लड़ते थे), धनुर्धर (*विल्लिगल, अनुक्कर*) सैन्य बल के विभिन्न घटक थे। *वलनगई* (दाहिना हाथ) *वेलईक्करर* वे सैनिक थे जो किसानों में से नियुक्त किए जाते थे। दस्तकार समूहों (*इदानगई*-बाएँ हाथ) में से भी सैनिकों की भर्ती होती थी। मूलतः ये सब किराये के सैनिक होते थे। चोल मेयकीर्ति में *कनतलुर सलई* का उल्लेख मिलता है जो चेर राज्य में सैन्य शिक्षा का संस्थान माना जाता है। इसमें *ब्राह्मणों* को शिक्षा एवं प्रशिक्षण दिया जाता था तथा मेयकीर्ति में इसको वह स्थान माना गया है जहाँ चेर नौसेना को चोल राजाओं ने ध्वस्त किया था। यह सिद्ध करता है कि चोल सैन्य व्यवस्था उत्कृष्ट एवं शक्तिशाली थी।

राज्य व्यवस्था में प्रमुख काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। पांड्या राज्य में मुखियाओं की एक ही श्रेणी थीः *अय्स*। *संगम* साहित्य में अनेक मुखियाओं के बारे में जिक्र है जैस *अय, वेल, मुव, कोडुम्बलुर* और *अडिगमन*। पल्लव काल के साक्ष्यों से मुखियाओं जैसे *गंगा* और *अदिगमन* के बारे में पता चलता है। अन्य प्रमुख जिन्होंने पल्लवों के आधिपत्य को स्वीकार किया थाः *बन, वेट्टूवा - अदिअरियन, मुट्टारियार* आदि।

चोल शासन काल के दौरान मुखिया थे : *पलुवेट्टारियार वेल, मालव, गंगा, बान*। ऐसा लगता है कि मुखियाओं को भूमि दी जाती थी तथा क्षेत्र की रक्षा के बदले वे देय वसूलते थे। *कुलोट्टुंगा* के शासनकाल के बाद *नीलामईट्टिट्टू* या कूटनीतिक समझौते का उल्लेख मिलता है जो दो या अधिक मुखियाओं के बीच होता था। इन मुखियाओं के अपने सैनिक व सेवक होते थे। चोल राजाओं द्वारा उनकी सेवाएँ ली जाती थीं।

बोध प्रश्न 3

1) *उर* और *सभा* की भूमिका और कार्यों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) *ब्रह्मदेय* बंदोबस्त को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) *नगरम्* क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

4) संक्षेप में चोलों की प्रशासनिक व्यवस्था की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 होयसाल

द्वारसमुद्र के होयसाल, जैसा कि वे आमतौर पर इतिहास में जाने जाते हैं, कन्नडिग क्षेत्र में उभरे और उन्होंने बेलूर के साथ दक्षिण भारत में 11वीं-14वीं शताब्दी सी.ई. के दौरान प्रमुखता हासिल की। बेलूर को (पहले राजधानी बाद में हेलबिंडु) गतिविधियों के केन्द्र रूप में उभरा। उस समय इस क्षेत्र में कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य और पांड्यों के साथ चोल, काकेतीय (पूर्व में), कलचूरि, देवगिरि (उत्तरी कर्नाटक) के यादव प्रमुख शक्ति थे। चोलों और पांड्यों के कमज़ोर और क्षीण राजनैतिक अधिकार ने होयसाल के वर्चस्व की राह को आसान कर दिया। राजवंश के संस्थापक नृपकाम द्वितीय थे जो पश्चिमी गंगाओं के सामंत थे। विनयदित्य ने कई मलनाड़ (कर्नाटक) के मुखियों को (कोगंलव, चेंगलव, संधार के हुमच, शिभोगा) के साथ-साथ बयालनाडू (वायनाड़) के कदंबों को भी अपने अधीन कर लिया। बल्लाल प्रथम का शिलालेख यह भी पुष्टि करता है कि बयालनाडू उनके राज्य का हिस्सा था। हालांकि, राजवंश के वास्तविक संस्थापक विष्णुवर्धन थे। अरिसकेरे शिलालेख (1197 सी.ई.) ने उसने स्वयं को ''चेरा के लिए एक खतरनाक महामारी'' के रूप में महिमामंडित किया है। चन्नाराय-पतना अभिलेख (1190 सी.ई.) ने उन्हें ''चेरा-केरल की हड्डियों को तोड़ने वाले'' (धीरज, 2016 : 638-639) के रूप में सराहा। उन्होंने एनाले (पश्चिमी घाट में छोटा राज्य), एलुमले (कन्नूर के पास आधुनिक एझिमाला-मुशका शक्ति

केन्द्र) और बयाल-नाडू (वायनाड़) पर अधिकार कर लिया। 1185 सी.ई. का बेलूर अभिलेख उसके राज्य की सीमाओं की पहचान करता है : ''इसके दक्षिण में कोगूं, पूर्व में कांची, उत्तर में कृष्ण और वेन नदियाँ, और पश्चिम में अरब सागर था'' (धीरज, 2016 : 639) शिलालेखीय साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि चोल और पांड्या शक्ति पूरी तरह से वशीभूत और अधीनस्थ थे। महोदायापुरम के अंतिम पेरूमल राम कुलशेखर (सी. 1089-1122 सी.ई.) ने होयसाल दबाव के तहत महोदायापुरम से कुराकेनी कोलम में अपना आधार स्थानांतरित कर दिया था। होयसाल साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार विष्णुवर्धन के पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के समय में विक्रमेश्वरम (रामेश्वरम्) तक हो गया था। इसके अलावा कोगूं (कोयम्बटूर), पश्चिमी घाटों को छूने वाले बयाल-नाडू भी उसके प्रभुत्व का हिस्सा थे, जिससे पुष्टि होती है कि नरसिंह प्रथम के शासनकाल के दौरान होयसाल शक्ति पूरी तरह से केरल क्षेत्र को अपने अधीन कर लेती है। नरसिंह द्वितीय के शासन काल में चोलों और होयसालों के बीच सौहार्दपूर्ण गठबंधन था। नरसिंम्ह द्वितीय ने अपनी पुत्री का विवाह चोल राजा राजराजा द्वितीय (1216-1256 सी.ई.) से किया। इस गठबन्धन ने चोलों को पांड्यों के लगातार हमलों से बचाया। इस अवधि के दौरान पांड्यों को केरल के छोटे सरदारों का समर्थन प्राप्त हुआ, जो संभवततः इस क्षेत्र में होयसालों के हमलें का कारण था, जैसा कि चन्नारायपतने के 1223 सी.ई. के अभिलेख से स्पष्ट है। होयसाल का अंतिम शक्तिशाली राजा सोमेश्वर था। अरसिरकेरे (1239 सी.ई.) और अन्य शिलालेख उन्हें ''चोल-कुल के एकमात्र रक्षक'' के रूप में उद्धरत करते हैं, (धीरज, 2016ः 643-644)। 1229 सी.ई. तक होयसाल की सीमाएँ पूर्व में कांची तक विस्तृत हुई और पश्चिम में बयाल-नाडू (वायनाड़) को स्पर्श किया। नरसिंम्ह द्वितीय ने अपने दामाद राजराजा चोल तृतीय को पूरा चेरा प्रदेश दे दिया। अरकलगुड़ तालुक (हसन जिला) 1252 सी.ई. का शिलालेख सोमेश्वर की ''कुलोथुंगा-चोल की तुलना में हरिण के सामने शेर और केरल के प्रमुख'' के रूप में प्रशंसा करता है। (धीरज, 2016ः 644)। नरसिंम्ह तृतीय के शासनकाल के दौरान आंतरिक झगड़ों के कारण सोमेश्वर को नरसिंह तृतीय (जिन्होंने हेलीबिडु से शासन किया) और उनके सौतेले भाई रामनाथ (जिन्होंने कन्नूर से शासन किया था) के बीच अपने राज्य को बाटँना पड़ा। हालाँकि, विघटन के अंतिम संकेत बल्लाय तृतीय के शासनकाल में सामने आए जब 1310-1311 सी.ई. में मलिक काफूर के नेतृत्व में अलाउद्दीन की सेनाओं ने प्रदेशों पर कब्ज़ा कर लिया और बल्लाल तृतीय को अपना आधार तिरूवन्नामलाई में स्थानांतरित करना पड़ा।

राजा और उसके अधिकारी

राजा राज्य के मामलों का नियंत्रण करता था। उनका कर्त्तव्य था ''बुराई पर लगाम लगाना और अच्छे लोगों की रक्षा करना'' (कोएलो, 1950 : 180)। वह सर्वोच्च अधिकारी और अपील अंतिम अदालत था। न्याय से संबंधित सभी मामलों को राजा द्वारा व्यक्तिगत रूप से देखा जाता था। होयसाल साम्राज्य में मुख्य रानी के पास विशेष प्रशासनिक अधिकार होते थे। सैन्य अभियानों का नेतृत्व करते हुए भी उनके पास अलग-अलग मंत्री और प्रबन्धक थे। हालाँकि वहाँ अन्य 'बेताज रानियाँ' भी होती थी जिन्होंने शायद ही कभी इस तरह की सत्ता का आनंद लिया हो। *युवराज* स्पष्ट रूप से राज्य का उत्तराधिकारी था, दूसरा आदेशकर्त्ता और जिसे अक्सर राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता था। हालाँकि उस क्षमता में वह *दाननायकों/दण्डनायकों* से श्रेष्ठ नहीं था। *मंडलेश्वर* प्रजा के राजकुमार थे, एक बिन्दू पर वो स्वतन्त्र थे या फ़िर पहले चालुक्य या राष्ट्रकूट के सामंत थे। उनकी स्थिति लगभग ''ताजपोश रानियों'' के बराबर थी। उनके नीचे *मंडलीक* (आमतौर पर छोटे शासक) थे, फ़िर *सांमत* (सीमावर्ती मुखिया, नौकरशाही में, जो वशांनुगत भूमि पर शासन करते थे)। अधिकारी वर्ग में, *दाननायक/दंडनायक* थे जो अधिकारिक पदानुक्रम में सर्वोच्च स्थान रखते थे; सेना

के सेनापतियों के रूप में और विभिन्न उच्च नियुक्तियाँ भी उनको प्राप्त होती थी। *महा-प्रधान* राजा के परामर्शदाता थे जिनकी सलाह राजा समय-समय पर लेते थे। विशेष अनुग्रह प्राप्त सलाहकारों को उच्च उपाधियों से सम्मानित किया जाता था जैसे *सर्वाधिकारी, परम्विश्वासी, बहत्रस-नियोगाधिपति* (72 के स्वामी)।

नायक पैदल सैनिको और घोड़ों (कोएल्सो, 1950 : 187-188) के कप्तान थे। राजाओं द्वारा दाननायकों पर नज़र रखने के लिए *विकारियों* और *राजध्यक्षायों* (निरीक्षकों) को नियुक्त किया गया था। विदेशी मामले के मन्त्री को *संधि-विग्रही* के नाम से जाना जाता था। उनका कर्त्तव्य गठबंधन करना, युद्ध करना, अन्य क्षेत्रों के राजाओं के बीच समझौता वार्ता करना था।

यद्यपि राजा व्यक्तिगत रूप से सैन्य अभियानों का नेतृत्व करते थे, लेकिन सेनाध्यक्ष को अक्सर अग्रणी अभियानों की कमान दी जाती थी। उन्हें *सेनापति* (सेना नायक) या *समस्त सेनाधिपति* (सेनाध्यक्ष) कहा जाता था। ये सेनापति आमतौर पर *ब्राह्मण* होते थे। सफल लड़ाइयों के बाद सेना नायकों को सम्मान के चिन्ह दिए गए। सुपारी-पत्ती देना सम्मान की एक ऐसी निशानी थी। राजस्व मुक्त अनुदान सेनापतियों की विधवाओं और युद्ध के मैदान में मरने वालों के आश्रितों और बच्चों को दिया गया था।

हम शिलालेखों में *सभाओं* (*ब्राह्मणों* की सभा) के बारें में कुछ नहीं सुनते हैं। बस्तियों की सबसे बड़ी संख्या गैर *ब्राह्मण* गांवों (*उरों*) और *कालूपल्ली* की थीं। कई गाँवों ने *अद-हेहेग्गेड़े* (शासकीय अधिकारी) और *नाड़-प्रभु* (उप-शासकीय अधिकारी) की अध्यक्षता में एक *नाड़/नाडू* (जिला) का गठन किया। पट्टन बाजार शहर थे, जहाँ सभी दिशाओं से व्यापारी आते थे। हम इन पट्टनों में *नानादेशी* की उपस्थिति के बारे में उल्लेख पाते हैं। हम *पट्टनों* के *पट्टन-स्वामी* के विषय में भी सुनते हैं। कुछ *पट्टन* राजधानी शहर *राजधानी-पट्टन* (काएलहो, 1950 : 187-190)।

अपराधियों को कड़ी सजा दी जाती थी। लोग अक्सर अपनी राजमार्गों की सुरक्षा के लिए सशस्त्र सैनिक साथ ले जाते थे। हालांकि, अगर अभियानों के दौरान सैन्य दलों की आवाज़ाही के द्वारा फसलों को नुकसान हुआ तो हर्जाने के लिए उचित मुआवजा दिया जाता था।

भू-राजस्व

भू-राजस्व राज्य की आय का मुख्य स्रोत था। भूमि कर आम तौर पर वस्तु रूप में एकत्र किया जाता था। स्थायी (भूमि) राजस्व/राजस्व बंदोबस्त को *सिद्धाया* के रूप में जाना जाता था जो कुल उपज के 1/6 वें से 1/7 वें भाग तक था, (कोएलहो, 1950: 196)। भूमि को *कम्बा* में मापा गया जो जगह-2 भिन्न था। हालाँकि भू-राजस्व के अलावा आम लोगों पर करों के बोझ की सूची अंतहीन प्रतीत होती है:

- प्रत्येक बस्ती में व्यक्तिगत आधार पर *सुन्का* लगाया गया।
- युवराज के लिए *कुमार* या *कुमार-गाणिके* लिया जाता था।
- *निबन्ध* राजा द्वारा दिये गये अधिशुल्क और निवृत्ति वेतन के भुगतान के लिए था।
- *नाड़* (जिला) कोशागार कर्मचारियों के रख-रखाव के लिए *श्री-करण* लगाया गया था।

राजाओं के सैनिकों और बौझा ढ़ोने वाले पशुओं की देख-रेख के लिए कई कर लगाए गए – युद्ध कर (*वीर-सेसे*); अभियानों के दौरान राजा के घोड़ों के लिए अलग से चारा शुल्क (*खाना-निबन्ध*) और घोड़े का योगदान (*कुडुरेया सेसे*) लिया गया। इसी तरह राजसी

हाथियों के पालन-पोषण के लिए *अनेया सेसे* लगाया गया था। किसानों को राजा की सेना के लिए धान उपलब्ध कराना था, इसके लिए *भट्टा* लगाया गया था। शिविर के लिए *कटक सेसे* योगदान था। लोगों को अभियानों के दौरान राजा को गायों और बैल की आपूर्ति (*नल्लावू-नल्लेटु*) भुगतान करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त एक बार दिये जाने वाले कर थे जैसे राज्यभिषेक के समय कर (*पट्ट-बद्धी*), और पुत्र जन्म के लिए *पुत्रोत्साह* जुर्माना भी राज्य की आय के नियमित स्रोतों में से एक था। *अन्याय* कानून तोड़ने के लिए। इनके अलावा बहुत सारे कर और जुर्माने *नाडु* सभाओं और *नाड़-हेग्गड़े* और जमींदारों द्वारा राजसी प्रतिबन्धों के साथ लगाया गया था। यह सूची अंतहीन है: विवाह कर (*मड्डुवे*), करघा कर (*तेरी ईराई*), तेल निकालने का कर (*गन-देरे*), रंगरेज कर (*बेनिजे*), उपपत्नी कर (*टोट्टू देरे*), और इसी तरह।

अग्रहार गाँव *ब्राह्मणों* को उनके पालन-पोषण के लिए दिये गये थे। हमें होयसाल शिलालेखों में *अग्रहारा* गांवों के लगभग 104 उद्धरण मिलते है। हालाँकि हमें गैर-*अग्रहारा* भूमि-जोतों को *अग्रहारों* में परिवर्तित करने के लिए प्रतिरोध के उदाहरण मिलते हैं। जब *गौड़ों* में से एक (अमीर जमींदार) की भूमि को *अग्रहार* में बदल दिया गया, जिसका उन्होंने विरोध किया और इसके परिणाम स्वरूप *गौड़ों* और *ब्राह्मणों* के बीच लड़ाई हुई, जिसमें *ब्राह्मणों* ने अपने दावों का सफलतापूर्वक बचाव किया। मंदिरों की मरम्मत और रखरखाव के लिए भूमियाँ दी गई। राजा के धार्मिक झुकाव का विचार किये बिना भूमि सभी धर्मों और सम्प्रदायों (शैव, वैष्णव, जैनों) को उदारतापूर्वक दी गई थी।

व्यापार, व्यापारी और राज्य

व्यापार और वाणिज्य भी होयसाल राज्य की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत था। व्यापारिक माल पर कर आमतौर पर नकदी में एकत्र किया जाता था। राज्य बड़े पैमाने पर हथियारों, हाथियों, घोड़ों और कीमती और विलासिता की वस्तुओं की आपूर्ति के लिए व्यापारियों पर निर्भर थे, जिसने दोनों के बीच बड़ी अर्न्तनिर्भरता विकसित की। कुछ धनी व्यापारियों को *राजश्रेष्ठिगल* (राजसी-व्यापारी) जैसे उच्च प्रतिष्ठा वाली उपाधि दी गई और उन्हें कस्बों के स्तंभ के रूप में माना गया (*पूरा मूल स्तंभ*)। कर्नाटक के व्यापारियों (जैसे अय्यवोल एन्नुरुवर) का अंग, वंग, कांलिग, कश्मीर, सिघंल और चक्र-गोट्टा से संपर्क था। व्यापारियों को *नाडुओं* में विभिन्न प्रशासनिक पदों पर भी नियुक्त किया गया था और यहाँ तक कि वे सैन्य अभियानों में भाग लेते दिखाई दिए। 1145 सी.ई. बल्लारू शिलालेख में सीगे की लड़ाई में *दाननायक* नगर सेट्टी की मृत्यु का उल्लेख है। गुजरात (लता), केरल (मलेयाला), तमिलनाडु (तिगुला) और आंध्र (तेलुगु) के कई व्यापारी होयसाल क्षेत्र में बस गए और उन्होंने प्रशासक के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कुड़ालारू शिलालेख (1177-78 सी. ई.) में अय्यावोल के एक चूड़ी व्यापारी मरीसेट्टी का उल्लेख है जो होयसाल देश में बस गए थे। उन्हें *महाप्रभु* (महान अधिकारी) के रूप में संबोधित किया गया था, और उनके प्रपौत्र पेरूमादिदेव बल्लाय द्वितीय के तहत *महा-प्रधान* (महानमन्त्री) और *तंत्रपाल* (विदेश मंत्री) बनें। शिलालेखों के प्रमाण बताते हैं कि ये व्यापारी *पट्टनस्वामी/पट्टनसेट्टी* तक की स्थिति तक पहुँचे थे। उन्हें सिक्कों की ढ़लाई में भी नियुक्त किया गया था। 1188 सी.ई. बनावार शिलालेख महावाह धवहरी को काम्मता (टकसाल) छत्ट्टीसेट्टी के रूप में दर्ज करता है। ये व्यापारी मन्दिरों को उदार संरक्षण प्रदान करते थे और मंदिरों के निर्माण और मरम्मत में शामिल होते थे। 1177 सी.ई. श्रवण बेलगोलशिलालेख में कहा गया है कि राजसी व्यापारियों पोयसालसेट्टी और नेमिसेट्टि की माताओं ने एक जैन मंदिर का निर्माण किया। इसी तरह दयमपुर के शिलालेख में कहा गया है कि 1188 सी.ई. में बाम्मेश्वर मंदिर का निर्माण बाम्मीसेट्टी के पुत्र वेंकागावुड़ ने किया था। व्यापारी भी सक्रिय रूप से जमीन के सुधार, कुओं की खुदाई, तालाब निर्माण और अन्य सिंचाई परियोजनाओं में शामिल थे।

1027 सी.ई. का मरासानाहल्ली शिलालेख सिरिवुर में अरापम्भा तालाब की खुदाई और पलामेसेट्टी के पुत्र शाक्य द्वारा एक जलद्वार के निर्माण का उल्लेख करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 11वीं शताब्दी की तुलना में, होयसाल राज्य में मंदिरों के निर्माण में 12वीं-13वीं शताब्दी में व्यापारियों की भागीदारी बढ़ी। इससे व्यापारियों की बढ़ती भागीदारी और प्रशासनिक शक्ति का आभास होता है (नायक, 2003)।

बोध प्रश्न 4

1) संक्षेप में होयसाल राज्य की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) होयसाल प्रशासनिक व्यवस्था पर पाँच पक्ति लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) होयसाल राज्य में व्यापारियों की क्या भूमिका थी?

.....

.....

.....

.....

.....

6.6 सारांश

इस इकाई ने 9वीं-13वीं शताब्दी के दौरान प्रायद्वीपीय भारत में राजनीतिक संरचनाओं से निपटा है। कोंकण क्षेत्र में कदंब फ़िर से उभरे और विशेष रूप से उनके लाभकारी समृद्ध तटीय क्षेत्र के कारण गोवा के कदंब उत्तरी कर्नाटक क्षेत्र में प्रमुख स्थान रखते थे। कावेरी डेल्टा में अपनी गतिविधियों के केन्द्रीय बिंदु के साथ तमिल वृहत क्षेत्र में सबसे शक्तिशाली राजनीति के रूप में चोल फ़िर से उभर कर सामने आए। पश्चिमी चालुक्यों के पतन, पांडयों और पल्लवों ने उत्तरी कर्नाटक में बादामी के चालुक्यों के उदय का मार्ग प्रशस्त किया, जबकि होयसालों ने पूरे चेरा देश पर कब्ज़ा कर लिया। उस समय का राजनीतिक इतिहास युद्ध और क्षेत्रीय विस्तार से चिन्हित था। इसके साथ ही, लोगों के प्रवासन के कारण कृषि विस्तार भी हुआ। राज्य के साथ-साथ स्थानीय अधिकारियों ने सिंचाई की ओर विशेष ध्यान

दिया और कई तालाबों और कुओं का निर्माण किया। कदंबों के प्रदेशों में चोल और होयसालों के कारण तेज व्यापारिक गतिविधियों को फली-फूली; विशेष रूप से पश्चिमी तटीय क्षेत्र विदेशी व्यापारियों से भर गया था। राज्य और व्यापारियों के बीच घनिष्ट संबंध था। होयसाल देश के व्यापारियों ने प्रशासनिक कार्यालयों पर कब्ज़ा कर लिया। व्यापारी निवासियों के कल्याण के लिए तालाब और कुएँ खोदने में भी शामिल थे।

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 6.2 देखें।

2) भाग 6.3 देखें।

3) भाग 6.3 देखें।

4) (i) ✓ (ii) × (iii) ✓ (iii) ✓

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 6.4.1 देखें।

2) उप-भाग 6.4.2 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 6.4.3 देखें।

2) उप-भाग 6.4.4 देखें।

3) उप-भाग 6.4.4 देखें।

4) उप-भाग 6.4.5 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 6.5 देखें।

2) उप-भाग 6.5 देखें।

3) उप-भाग 6.5 देखें।

6.8 संदर्भ ग्रन्थ

कुमारी, एस. एल. शान्ता, (2015). *द कदम्बाज़ ऑफ़ गोवा एन्ड देअर इन्सकरीप्शन,* दिल्ली : अगम कला प्रकाशन।

महालक्ष्मी, आर. (2016). *''कदम्बा किगंड्म''. इन द एन्साइम्लोपीडिया ऑफ़ एपांयर, प्रथम संस्करण, ई. डीक्रृ बाय जॉन एम. मेककेनजी.* न्यू जर्सीः जॉन विली एन्ड सन्स।

शास्त्री, के. ए. नीलकन्ठ (1958). *ए हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स टू द फाल ऑफ़ विजयनगर* / आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

शास्त्री, के. ए. नीलकन्ठ, (1975). *द कोलास.* मद्रासः यूनिवर्सिटी ऑफ़ मद्रास प्रेस।

इकाई 7 उत्तर-गुप्त काल में अर्थव्यवस्था और समाज*

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 अर्थव्यवस्था

- 7.2.1 व्यापार का ह्रास
- 7.2.2 सिक्कों की कमी
- 7.2.3 नगरों का ह्रास

7.3 कृषि संरचना

7.4 कृषि संबंध

- 7.4.1 किसानों के दायित्व
- 7.4.2 सामंतीय भू-व्यवस्था
- 7.4.3 परिबद्ध अर्थव्यवस्था का विकास

7.5 सामाजिक संरचना

- 7.5.1 ज़मींदार और किसान
- 7.5.2 जातियों की संवृद्धि
- 7.5.3 कायस्थों का विकास
- 7.5.4 अछूत
- 7.5.5 दस्तकारी और जातियां

7.6 वैश्यों का ह्रास और शूद्रों के सामाजिक स्तर में बढ़ोतरी

7.7 महिलाओं की स्थिति

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.11 संदर्भ ग्रंथ

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य है आपका परिचय उत्तर-गुप्त काल में होने वाले आर्थिक व सामाजिक परिवर्तनों से कराना। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको:

- भूमि अनुदानों की उत्पत्ति एवं आर्थिक परिणामों की जानकारी प्राप्त होगी;
- नगरों और अन्य नगरीय बस्तियों के क्रमिक पतन की प्रक्रिया एवं परिणामों के विषय में जानकारी होगी;
- ग्रामीण अर्थव्यवस्था व कृषि उत्पादन की विशेषताओं के बारे में जानकारी होगी;
- *वर्ण* पदानुक्रम में संशोधन के कारणों, नई जातियों का उदय; और समाज में महिलाओं की स्थिति के बारे में जानकारी होगी।

*इस इकाई को ई.एच.आई.-02, खंड-9 से लिया गया है।

7.1 प्रस्तावना

उत्तर-गुप्त काल में भारतीय अर्थव्यवस्था में हुए कुछ निश्चित परिवर्तन हुये थे।

1) गुप्तकाल के बाद के नगर (जैसे कि तक्षशिला, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र) प्रायः लुप्त हो गए। शहरी बस्तियों का यह ह्रास कोई अपवाद नहीं था बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि यह एक सामान्य विशेषता थी।

2) बहुत से कारणों से व्यापारिक गतिविधियों को भी धक्का लगा और उनकी गति भी मंद पड़ गई। इसकी पुष्टि शायद इस तथ्य से भी होती है कि इस समय में पहले की अपेक्षाकृत सिक्कों का निर्माण एवं जारी होना बहुत सीमित स्तर पर हो गया।

इस पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए कि ये परिवर्तन गुप्त काल में ही प्रारंभ हो चुके थे। यह मुख्य रूप से एक कृषि अर्थव्यवस्था थी। भूमि-अनुदान, व्यापार का ह्रास, वाणिज्य और नगरीय जीवन, धन की कमी, कृषि का प्रसार और समाज का बढ़ता कृषि चरित्र; उत्पादन और उपभोग की अपेक्षाकृत बंद स्थानीय इकाइयाँ इस अर्थव्यवस्था की विशेषतायें थी। इस आधार पर एक ऐसे समाज का ढांचा विकसित हुआ जिसके अंतर्गत मुख्य रूप से काफ़ी बड़ी संख्या में शासक कुलीन ज़मींदार, बिचौलिए और बहु-संख्यक किसान थे। नये सामाजिक गुटों का विकास हुआ। नई जातियों की उत्पत्ति एवं संवृद्धि, *जाति* संबंधों का कठोर होना और कबीले के द्वारा ब्राह्मणिक संस्कृति को अपनाना नये परिवर्तन थे। एक जटिल समाज का उद्‌भव हुआ जिसमें सामाजिक विभेद का प्रतिनिधित्व किसानों, दस्तकारों, व्यापारियों, शासकों आदि वैसे विभिन्न समूहों द्वारा किया जाता था।

7.2 अर्थव्यवस्था

इन परिवर्तनों की व्याख्या कौन कैसे करता है? कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि इस विकास की प्रक्रिया में भूमि-अनुदानों की प्रथा निर्णायक तत्व थी। भूमि-अनुदानों की संख्या में वृद्धि गुप्त तथा विशेषकर उत्तर-गुप्तकाल में हुई तथा सम्पूर्ण देश में इसका प्रसार हो गया। भूमि-अनुदानों को राजाओं, सरकारों, राज्य परिवार के सदस्यों और उनके सामंतों द्वारा, *ब्राह्मणों* और मंदिर जैसी धार्मिक संस्थानों एवं मठों को व्यापक स्तर पर किया जाता था। पांचवी शताब्दी सी.ई. से न केवल इन भूमि-अनुदान प्राप्तकताओं को भू-राजस्व (लगान) वसूल करने का अधिकार मिल गया अपितु इन क्षेत्रों में स्थित खानों से प्राप्त होने वाले खनिज पदार्थों को भी उनके अधीन कर दिया गया। दान की गई भूमि, गांव और गांवों को राजकीय अधिकारियों एवं सिपाहियों के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया गया। अंततः राजाओं और राजकुमारों ने इन अनुदान ग्रहीत *ब्राह्मणों* को यह अधिकार भी दिये कि वे उन सभी अपराधों के लिए दण्ड दे सकते थे जो परिवार, व्यक्तिगत सम्पति और व्यक्ति विशेष के विरूद्ध किए गए हों तथा यहां तक कि उनको आर्थिक दण्ड देने और इसको प्राप्त करने का भी विशेष अधिकार दिया गया।

समकालीन धर्मशास्त्रों के साहित्य में यह अनुमोदन किया गया है कि राज्य के अधिकारियों को वेतन के बदले भूमि-अनुदान या भू-राजस्व को एकत्रित करने का अधिकार दिया जा सकता था।

अन्य बातों के साथ-साथ, भूमि-अनुदानों की यह प्रक्रिया भूमि पर अधिकारों के प्रश्न, किसान का आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों, नगरों में दस्तकारों तथा व्यापारियों के स्वतंत्र संगठन के अधिकार और बंद अर्थव्यवस्था के उदय का एक अभिप्राय थी।

किसानों, कारीगरों और व्यापारियों को उनकी बस्तियों के साथ जोड़ देने तथा उनकी गतिविधियों पर विभिन्न प्रतिबंधों को लगा देने से एक ऐसा वातावरण बना जिसमें बंद अर्थव्यवस्था का उदय एक स्वाभाविक परिणाम था।

7.2.1 व्यापार का ह्रास

व्यापारिक ह्रास का प्रारंभ गुप्त काल में हुआ और छठी सदी ई. के मध्य में अधिक गहरा हो गया। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के बाद रोमन सिक्कों का बहाव भारत के अंदर आना बंद हो गया। व्यापार में, अरब एवं ईरानियों का प्रतियोगी के रूप में पैदा हो जाना, भारतीय सौदागरों के लिए अच्छा शगुनकारी सिद्ध नहीं हुआ। भारतीय- बाइज़न्टाईन (या यूनान का भाग) व्यापार में मुख्य वस्तुएं, रेशम एवं मसाले थे। छठी सदी सी.ई. के मध्य बाइज़न्टाईन (यूनान का एक भाग) लोगों ने कीड़ों से पैदा होने वाली रेशम को कला की सीख लिया। परिणाम स्वरूप, रेशम का व्यापार भयंकर रूप से प्रभावित हुआ। मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के साथ जो कुछ भी सम्बन्ध थे हूण आक्रमणों के बाद वे पूर्णतः समाप्त हो गए।

ऐसा कहा जाता है कि भारत में समुद्र तट के नगरों का कुछ व्यापार दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों एवं चीन के साथ चलता रहा। परन्तु इस आपसी व्यापार का कोई विशेष प्रभाव नहीं नज़र आता। व्यापार में ह्रास केवल विदेशी व्यापार तक ही सीमित न था। समुद्र तटीय नगरों तथा दूर-दराज़ के नगरों के बीच सम्पर्क कमज़ोर पड़ जाने के कारण आंतरिक व्यापार का भी पतन हुआ और इसका प्रभाव ग्रामों एवं नगरों के बीच होने वाले व्यापार पर भी पड़ा।

परन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं है कि आवश्यक वस्तुओं जैसे कि नमक, लोहे और शिल्प वस्तुओं आदि का व्यापार नहीं होता था। इसके साथ-साथ लम्बी दूरी का व्यापार सम्मानीय, मंहगी विलासिता के सामानों जैसे कि बहुमूल्य पत्थरों, हाथीदांत की चीज़ों और घोड़ों के लिए लगातार चलता रहा। इसलिये कुछ शताब्दियों के लिए विशाल तथा संगठित व्यापार का स्थान घुमक्कड़ छोटे सौदागरों, असंगठित और धीमी गति के व्यापार ने ले लिया।

7.2.2 सिक्कों की कमी

उत्तर-गुप्त काल में वाणिज्य के पतन की अभिव्यक्ति सिक्कों की कमी के रूप में भी होती है। कुषाण एवं गुप्त काल में सोने के सिक्कों की जो बहुतायत थी उनका छठी सदी सी. ई. के बाद जारी होना बंद हो गया। चांदी और तांबे के सिक्कों की अनुपस्थिति भी हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है। यह उल्लेखनीय है कि गुप्त काल के सोने के सिक्कों में सोने की मात्रा का अनुपात लगातार घट रहा था और बाद के गुप्त सोने के सिक्कों में सोने की मात्रा कुषाण सोने के सिक्कों की तुलना में आधी रह गई। हर्षवर्धन के द्वारा जारी किए गए सिक्के भी बहुत कम हैं तथा राष्ट्रकूट एवं पाल जो आठवीं सदी सी.ई. में क्रमशः दक्कन एवं बंगाल में सत्ता में आए थे, ने अपने कोई सिक्के जारी नहीं किए। उत्तरी भारत के अधिकर भागों-बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत तथा दक्कन-में धातु वाली मुद्रा का पूर्ण अभाव था। जो इन क्षेत्रों के लिए सत्य था वह पूर्णतः दक्षिण भारत के लिए भी था।

इस संदर्भ में कुछ इतिहासकार यह तर्क देते हैं कि परवर्ती सदियों में जारी किए गए सिक्कों ने बाद के समय की मुद्रा ने आपूर्ति की मांग को पूरा किया, इसलिए नए सिक्कों को जारी करना अनावश्यक था। परन्तु यहां पर हम जिस काल का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं उस समय में कृषि का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ और केवल इसकी पूर्ति के लिए काफ़ी मात्रा में धातु मुद्रा धन की आवश्यकता होगी। दूसरा, सिक्के सार्वभौमिक सत्ता की भी अभिव्यक्ति थे। जब तक गंभीर मजबूरियां न हों तब तक कोई भी शासक सिक्कों को अपने नाम से

जारी करने के विशेष अधिकार से स्वयं को वंचित नहीं करेगा। व्यापार के ह्रास तथा उच्च अधिकारियों को नकद धन का भुगतान करने के स्थान पर भूमि-अनुदान की परम्परा ने सिक्कों की आवश्यकता को खत्म कर दिया। इन सबके साथ-साथ इस बात के भी प्रमाण हैं कि नित्य-प्रतिदिन के लेन-देन के लिए अब मुद्रा का स्थान वस्तु विनिमय (barter system) एवं कौड़ियों ने ले लिया था।

7.2.3 नगरों का ह्रास

व्यापार का ह्रास, सिक्कों की कमी, सिक्के के सांचों तथा वाणिज्य मोहरों की अनुपस्थिति आर्थिक ह्रास एवं निर्मित उत्पादों की मांग में कमी की ओर इशारा करते हैं। उत्तर भारत में जो नगर परवर्ती-कुषाण एवं कुषाण काल से तथा दक्कन में जो सातवाहन शासन काल से जुड़ें हुए थे उनका ह्रास तीसरी सदी सी.ई. के मध्य या चौथी सदी सी.ई. से प्रारंभ हुआ। जो उत्तरी भारत, मालवा और दक्कन के लिए सत्य था वही दक्षिणी भारत के लिए भी समान सत्य था। नगरों जैसे कि संघोल, हस्तिनापुर, अंतरजिखेड़ा, मथुरा, सौंख, श्रावस्ती, कौशाम्बी, खैरादिह, चिरंद, तमलुक आदि के उत्खनन से स्पष्ट है कि गंगा के ऊपरी तथा मध्य मैदानों के नगरों का ह्रास होना प्रारंभ हो गया था। राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के प्रारंभिक सम्पन्न केन्द्रों जैसे कि नॉह, उज्जैन, नागर, पौणी, तेर, भौकरदन, नालिक, पैंठन आदि नगरों में भी इसी प्रकार का झुकाव देखने को मिलता है। तमिलनाडु में अरिकामेदू, आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक के सातवाहन काल के नगरीय केन्द्र भी इस विशेषता के अपवाद नहीं थे। नगरीय ह्रास का दूसरा चरण छठी सदी सी.ई. के बाद शुरू हुआ और इसके पश्चात् ये केन्द्र नगर रह ही नहीं सके।

समकालीन साहित्य एवं अभिलेखों से भी भली-भांति नगरों एवं शहरों का पतन प्रकट होता है। छठी सदी सी.ई. तक के अभिलेखों एवं मोहरों में नगरीय जीवन में कारीगरों, दस्तकारों तथा व्यापारियों के महत्व का उल्लेख किया गया है। उत्तरी भारत में बौद्ध नगरों के पतन का उल्लेख चीनी यात्री हवेन-त्सांग ने अपने यात्रा विवरणों में किया है तथा वह हर्षवर्धन के शासनकाल में भारत आया था। वात्सायन ने *कामसूत्र* में जिस नगरीय जीवन का सजीव एवं रोमांचक चित्रण किया है, उत्तर-गुप्त काल के साहित्य जैसे कि दामोदरगुप्त की रचना *कुत्तानिमतम* (सातवीं सदी सी.ई.) में इतना सजीव वर्णन नहीं है तथा वह मुख्यतः ग्रामीण जीवन का ही उल्लेख करती है।

परन्तु सभी बस्तियां ग्रामीण नहीं थीं। उत्तर-गुप्त काल में गैर-कृषि बस्तियों की अभिव्यक्ति प्रशासनिक स्थलों, सैन्य दुर्गों तथा धार्मिक या तीर्थस्थल केन्द्रों के रूप में हुई। छठी सदी से आठवीं सदी सी.ई. तक के अभिलेखों में सेना के शिविरों का *स्कन्धवरा* के नाम से उल्लेख किया गया है। इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि कुछ नगर इसलिए बचे रह सके क्योंकि उनका परिवर्तन तीर्थस्थल केन्द्रों के रूप में हो गया। इन सभी गैर-कृषि बस्तियों को *पूरा, पट्टन नगर* तथा *राजधानी* के नाम से जाना जाता था और ये उत्पादन के केन्द्र न होकर खपत के केन्द्र थे।

7.3 कृषि संरचना

राजाओं, राजकुमारों तथा सरकारों के द्वारा कृषि को प्रदान किए गए संरक्षण, सिंचाई सुविधाओं में सुधार, कृषि विज्ञान का बढ़ता ज्ञान आदि ऐसे कुछ कारक तत्व थे जिनके कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सुदृढ़ हुई। यह संभव है कि शहरों के पतन के फलस्वरूप बहुत से निपुण कारीगर ग्रामीण क्षेत्रों की ओर पलायन कर गए हों। कबिलाई सीमांत क्षेत्रों में भूमि-अनुदानों के कारण नवीन भूमि कृषि कार्यों के लिए उपलब्ध हो गई।

दक्कन तथा मध्य भारत में, पांचवीं सदी से सातवीं सदी तक लगभग पचास शासक शक्तियां अस्तित्व में रहीं। वे महाराष्ट्र, पूर्वी मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, उडीशा तथा बंगाल में फैली हुई थीं। इस क्षेत्र के बहुत से नए-नए शासक वंशों ने अपने स्वयं के भूमि-अनुदानों को जारी किया। इन राज्यों में से प्रत्येक भूमि और कृषि से प्राप्त होने वाले राजस्व को निर्भर किया। वास्तव में, उत्तर-गुप्त काल में कृषि ने राज्य के आधार पर निर्मित किया। इस प्रकार प्रारम्भ में जिन क्षेत्रों में राज्य की स्थापना नहीं हुई थी उन क्षेत्रों में राज्य की स्थापना वहाँ की ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं कृषि प्रसार के लिये अग्रदूत साबित हुई।

उपरोक्त वर्णित विकासों ने प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की ग्रामीण बस्तियों में स्थान ग्रहण किया। गांवों के लिए सामान्यतः *ग्राम* शब्द का प्रयोग किया गया। परन्तु सभी ग्रामीण बस्तियाँ एक समान नहीं थीं। हमें ऐसे दूसरे शब्दों के विषय में भी जानकारी है जो भिन्न प्रकार की ग्रामीण बस्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। *पालि* को सामान्यतः आदिवासी गांव के लिए प्रयोग किया जाता था। *पटका* से गांव के एक भाग का बोध होता है। यह एक छोटे गांव या पुरवा को इंगित करता है परन्तु वास्तव में यह एक बड़ें गांव का ही एक भाग था। चरवाहों की बस्तियों को *घोश* कहा जाता था। परन्तु यह याद रखा जाना चाहिए कि ये शब्द जो विभिन्न प्रकार की बस्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे सदैव परिवर्तित होते रहते थे। कृषि एवं ब्राह्मणिक संस्कृति के प्रसार के कारण आदिवासियों की बस्तियों के चरित्र में भी परिवर्तन हो गया था।

उत्तर-गुप्त काल की बहुत सी तांबें की प्रज्ञाओं में, जिनको भूमि-अनुदान करते हुए जारी किया गया, भूमि की विभिन्न किस्मों का उल्लेख किया गया है जिनके अंतर्गत खेती योग्य, बिना जुताई वाली, ऊंची, नीची, पानी ग्रहण करने वाली, दलदली, हरि और जंगल वाली भूमि शामिल थी। जिन ग्रामों को *ब्राह्मणों* को अनुदान में दिया गया उनको "*ब्रह्मदेय*" और "*अग्रहर*" के नाम से जाना जाता था। जिन गांवों को *ब्राह्मणों* ने दान स्वरूप प्राप्त किया था उन गांवों में *ब्राह्मणों* के साथ-साथ गैर-*ब्राह्मण* लोग भी रहते थे। परन्तु इस प्रकार के गांवों में सम्पत्ति के अधिकार केवल *ब्राह्मणों* को प्राप्त थे। दक्षिण भारत में भी इस प्रकार के गांवों को *मंगलम्* के नाम से जाना जाता था।

7.4 कृषि संबंध

अब हम कृषि संबंधों की उन मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे, जिनका विकास प्रारंभिक मध्य काल में हुआ।

7.4.1 किसानों का दायित्व

दान प्राप्तकर्ता सभी प्रकार के करों को एकत्रित करने के हकदार थे। वे स्थायी तथा अस्थायी करों को एकत्रित कर सकते थे और उनकी अदायगियों को भी निश्चित एवं अनिश्चित कर सकते थे। इन अतिरिक्त अपवादीय लाभों के साथ-साथ दान प्राप्तकर्ता अन्य स्थायी करों जैसे कि *भाग, भोग, कर, उपारिकर, हिरण्य, उदरंग, हलिकाकर* इत्यादि को वसूल करते थे। पल्लव शासकों के साक्ष्यों में करों की संख्या अठारह से बीस बताई गई है। दसवीं सदी सी.ई. के अंत तक विभिन्न प्रकार के करों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई।

7.4.2 सामंतीय भू-व्यवस्था

स्मृति ग्रंथों के लेखकों याज्ञवलक्य और बृहस्पति ने भूमि के एक ही टुकड़े पर चार क्रम में भूमि अधिकारों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अधिकारों का उपभोग करने वालों के

विभिन्न क्रम इस प्रकार थेः *महापति* (राजा), *क्षेत्रस्वामी* (खेत का मालिक), *कृषक* (खेती करने वाला) और *अर्ध-कृषक*। भूमि-अनुदानों ने भूमि पर वर्गीय अधिकारों तथा उप-भूस्वामी बनने का मार्ग प्रशस्त किया और इस परम्परा के कारण ज़मींदारों की उत्पत्ति हुई जो किसानों के द्वारा पैदा किए गए अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। दक्षिण भारत में पल्लव शासकों के शासन काल के दौरान मंदिरों को भूमि तथा गांवों का अनुदान किया गया। पल्लवों के समय से ही मंदिर के सेवकों को वेतन के लिए भूमि को दिया जाने लगा। इसके परिणाम स्पष्ट हैं। अब धार्मिक मठों की भूमि से लाभ प्राप्त करने वाले हो गए और वे अपने आश्रितों जैसे कि छोटे अधिकारी, कारीगरों, संगीतज्ञों, सेवकों आदि को जमीन के खंडों को देते। इस प्रकार की ज़मीनों को लगान पर दे देते थे। इसी प्रकार से, मंदिरों की भूमि को खेती करने के लिए किसान को किराये या लगान पर दे दिया जाता।

7.4.3 परिबद्ध अर्थव्यवस्था का विकास

प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था ने बहुत-सी ऐसी ग्रामीण बस्तियों के उदय तथा विकास का अनुभव किया जिनका विनिमय कार्य प्रणाली और दूर-दराज़ के व्यापार से संपर्क नहीं था। स्थानीय जरूरतों को स्थानीय स्तर पर ही पूरा किया जाने लगा। युद्धों के लिए सेनाओं और धार्मिक केन्द्रों के लिए तीर्थयात्रियों का आवागमन तथा *ब्राह्मणों* के द्वारा भूमि-अनुदानों को पाना एवं उल्लास मनाना ही संभवतः स्थलीय गतिशीलता के तरीके थे। इन सबके कारण स्थानीय पहचान बनाए रखने की भावना को और बल मिला। ग्रामों की स्थानीयता और आत्म-निर्भरता की बढ़ती भावना को *ग्राम धर्म, ग्रामकर* और *स्थानकर* जैसे शब्दों में व्यक्त किया गया और इन सभी शब्दों का प्रयोग समकालीन पौराणिक साहित्य में गांव या स्थानीयता का उल्लेख करने के लिए हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) संक्षिप्त में नगरों व व्यापार के ह्रास के बारे में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारंभिक मध्य काल के दौरान कृषि-संबंधों की मुख्य विशेषताओं का पांच पंक्तियों में विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

7.5 सामाजिक संरचना

भूमि-अनुदानों, उदित हुए बिचौलिए ज़मींदारों और राजनीतिक शक्ति तथा आर्थिक ताकत के गठजोड़ ने *वर्ण* के आधार पर विभाजित समाज को भी संशोधित किया। नए सामाजिक गुट चार वर्णों वाली व्यवस्था में समा न सके। असमान भूमि के बंटवारे ने ऐसे वर्गों को पैदा किया कि वे *वर्ण* पर आधारित सामाजिक स्तरों को लांघ गए। विदेशी जातीय गुटों तथा भारतीय कबिलाई सरदारों के शासक कुलीन वर्ग के क्षत्रिय *वर्ण* में और *ब्राह्मण* संस्कृति को ग्रहण करने वाले कबिलाई लोगों के शूद्र *वर्ण* में शामिल हो जाने से न केवल उनके सामाजिक स्तरों में वृद्धि हुई बल्कि *वर्ण* पर आधारित विभाजित समाज भी रूपांतरित हुआ। इससे भी अधिक, इस काल में *द्विज* (दो बार जन्मा) और शूद्रों के बीच का प्रारंभिक अंतर भी संशोधित होने लगा।

किसी भी सामाजिक स्थिति साधारणतः इस बात पर आधारित नहीं रह गई थी कि वह किस *वर्ण* से संबंधित था। उसके सामाजिक रुतबे का सम्बन्ध इस बात से हो गया था कि विभिन्न श्रेणियों के भूमि स्वामियों में उसके भू-स्वामित्व की क्या स्थिति थी। इन प्रवृत्तियों का प्रारंभ इस समय में हुआ और 9-10वीं सदियों में इनकी गति और तीव्र हो गई। 9-10वीं सदियों से, कायस्थों, व्यापारियों और धनी प्रभुत्वशाली किसानों ने *राणका, नायक* जैसी उपाधियों को धारण करना शुरू कर दिया। वे उच्च समाज और शासक कुलीन वर्ग का एक भाग बन गए।

नई जातियों का उदय एवं प्रसार था। नई जातियों की बढ़ती संख्या ने *ब्राह्मणों, क्षत्रियों,* कायस्थों एवं शूद्रों को प्रभावित किया। संकर जातियों और शूद्र जातियों की संख्या में काफ़ी वृद्धि हुई। दस्तकार संगठनों का जातियों में रूपांतरण, व्यापार और नगरीय केन्द्रों के पतन के फलस्वरूप तथा दस्तकारी की पैतृक विशेषता ने कई जातियों के निर्माण की प्रक्रिया में मद्द की।

7.5.1 ज़मींदार और किसान

यह पहले ही बताया जा चुका है कि इस समय की कृषि व्यवस्था में किसानों से भिन्नता बनाए रखने के लिए ज़मींदारों के भी कई वर्ग थे। *भोगी, भोक्ता, भोगपति, महाभोगपति, बृहद्भोगी* आदि शब्दों का प्रयोग भूमि से लाभ प्राप्तकर्ताओं के लिए किया गया। ज़मींदारों को उच्च वर्ग में *राणका, राजा, सामन्त, महासामन्त, मण्डलेश्वर* आदि को भी सम्मिलित किया गया। राजा ने भी भारी भरकम उपाधियों के द्वारा अपनी प्रभुता और भूमि के स्वामित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया।

किसान वर्ग भी स्वयं में कोई एकरूप समुदाय न था। उनको *कृषक, कृषि वाला, किसान, क्षेत्राजीवी, हलिका, अर्धाश्री, अर्धिका, कुटुम्बी भूमि कृषक* आदि अन्य नामों से पहचाना जाता था। इन सब नामों से सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि उनका भूमि पर नियंत्रण से कोई सम्बन्ध न था। उनका वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया। उनको भूमि जोतने वाला, निर्भर किसान, बटाईदार, खेत मजदूर आदि नाम दिए गए और इनमें से किसी का भी भूमि पर स्वतंत्र स्वामित्व न था।

7.5.2 जातियों की संवृद्धि

एक ही *वर्ण* के अंतर्गत बहुत-सी जातियों का संयोग हो गया परन्तु पहले के कुछ ऐसे भी उदाहरण है कि एक ही समान समुदाय कई वर्णों और जातियों में टूट गए। इस उपलक्ष्य

में सबसे अच्छा उदारहण आभीर कबीले का है, जो आभीर *ब्राह्मणों,* आभीर क्षत्रियों तथा आभीर शूद्रों में बंट गया।

ब्राह्मण

ब्राह्मणों के बीच जिन जातियों का उद्‌भव हुआ उनकी संख्या भी काफ़ी थी। जिन *ब्राह्मणों* ने अपनी धार्मिक सेवाओं का ''व्यापारीकरण'' किया, जो स्थानीय निवासियों के सम्पर्क में आए तथा उनमें जो पूर्णतः शारीरिक परिश्रम की अवहेलना न कर सके, उन *ब्राह्मणों* को क्षत्रिय अग्रहार ब्राह्मण पतित समझने लगे तथा ये *ब्राह्मण* स्वयं शारीरिक परिश्रम न करते थे। भूमि-अनुदानों का भोग करने के लिए *ब्राह्मणों* का बहुत से क्षेत्रों में विस्थापन हुआ जिसके कारण *वर्ण* के अंतर्गत जातियों और उप-जातियों के निर्माण की प्रक्रिया और तेज़ हो गई। जो ब्राह्मण राजनीतिक शक्ति के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े थे तथा राज्य में उच्च पदों पर आसीन होते थे उनका वर्ग अलग था। इस प्रकार के *ब्राह्मणों* के द्वारा विशेष पदों पर आसीन होने के कारणवश उन्होंने ब्राह्मण वर्ण के अंदर ही एक विशेष वर्ग बना लिया। यही प्रक्रिया कायस्थों के लिए भी सत्य थी।

क्षत्रिय

क्षत्रियों के बीच *जाति* संवृद्धि का कारण स्थानीय कबीलों के बीच से शासक घरानों का उदय तथा विदेशी जातीय गुटों का राजनीतिक शक्ति के साथ समाज की मुख्यधारा में मिल जाना था। विदेशी जातीय गुटों में से बैक्ट्रिया के पुजारियों, शकों, पार्थियनों, हूणों आदि को वर्ण व्यवस्था में समाहित करते हुए उसको दूसरी श्रेणी का क्षत्रिय बना दिया गया। क्षत्रिय जातियों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि पांचवीं-छठीं सदियों से उस समय से होनी प्रारम्भ हुई जबकि बहुत से कबीलों के सरदारों का उन *ब्राह्मणों* की स्वीकृति के द्वारा ''हिन्दुत्व'' रूपांतरण हुआ जिनको उन्होंने संरक्षण दिया और वैदिक बलि यज्ञों का आयोजन किया। शासक वंशों की एक समान उत्पत्तियों तथा उनकी सामाजिक स्वीकृति की इच्छा क्षत्रिय समुदाय में *जाति* संवृद्धि का स्पष्ट प्रमाण है।

शूद्र

सजातीय वैवाहिक गुटों का बहुत से समुदायों एवं क्षेत्रों से आने पर शूद्र वर्ण का आधार व्यापाक रूप से फैल गया। गुप्त और उत्तर-गुप्त काल में असमान आर्थिक शक्ति के संसाधनों के साथ-साथ छोटी-कृषक जातियों, धनी किसान, बटाईदार तथा कारीगरी जातियां भी *शूद्र* वर्ण में शामिल हो गई। कबीलों का क्रमिक रूप से किसानों में रूपांतरण होने के परिणामस्वरूप उनकी जातियां बन गई और इन किसान गुटों को ब्राह्मणिक समाज में शूद्रों के रूप में शामिल कर लिया गया। इसके परिणामस्वरूप शूद्रों की संख्या तथा उनकी जातियों में काफ़ी वृद्धि हुई।

7.5.3 *कायस्थों* का विकास

मुनीम या *कायस्थ* समुदाय उस समय की सामाजिक-आर्थिक शक्तियों की उपज थे। भूमि-अनुदानों के फलस्वरूप भूमि राजस्व तथा भूमि का हस्तांरण *ब्राह्मणों,* धार्मिक संगठनों तथा अधिकारियों को हो गया था। इस तथा अन्य जटिल प्रशासनिक कार्यों के फलस्वरूप लेखन का काम करने एवं प्रमाणों को रखने वाले लोगों की आवश्यकता हुई जिनका कार्य था भूमि-अनुदानों का लेखन करना और राजस्व के बहुत से अन्य मामलों के साथ-साथ भूमि हस्तांतरण के विवरणों को रखना। गुप्त काल में भूमि बंटवारा शुरू हो गया। भूमि के एक-एक भूखण्ड के प्रमाण को ठीक प्रकार रखना, इस प्रकार के झगड़ों को निपटाने के लिए आवश्यक था। इस कठिन कार्य को एक लिखने वाले वर्ण के द्वारा किया जाता जिसकों

बहुत नामों जैसे कि *कायस्थ, करण, करणिका, पुस्तपल, चित्रगुप्त, अक्षपतिलिका* आदि से जाना जाता था। लेखन का कार्य करने वाले का कायस्थ मात्र एक गुट था। परन्तु शनैः-शनैः मुनीम और समुदाय के रूप में प्रमाणों को रखने वालों को कायस्थ कहा जाने लगा। प्रारंभ में उच्च वर्णों के पढ़े-लिखे लोगों को कायस्थ का काम करने के लिए लगाया जाता। समय के साथ-साथ मुनीमों को कार्य करने के लिए उनकी भर्ती बहुत से वर्णों से की जाने लगी और उनके व्यवसाय के कारण उनके सामाजिक आदान-प्रदान का दायरा सिकुड़ने लगा एवं उनके बीच भी एक जातीय विवाह तथा परिवार से बाहर विवाह करने की परम्परा का अनुसरण किया जाने लगा। इस प्रकार कायस्थ *जाति* के निर्माण की प्रक्रिया पूरी हो गई।

7.5.4 अछूत

''अपवित्र'' या अछूत जातियों ने सी.ई. की प्रारंभिक सदियों में निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया था। परन्तु उस समय में उनकी संख्या बहुत कम थी। तीसरी सदी सी.ई. के आसपास से अछूत परम्परा ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया तथा इनकी संख्या में वृद्धि होने लगी। गुप्त काल में *धर्मशास्त्र* का लेखक कात्यायन ऐसा प्रथम लेखक था जिसने अछूत अर्थ के लिए *अस्पर्श* शब्द का प्रयोग किया। प्रथम सहस्राब्दी सी.ई. के आसपास से शिकारियों, मछुआरों, जानवरों का वध करने वाले (कसाइयों), जल्लादों और महत्तरों को अछूत श्रेणी में शामिल कर दिया गया। कालिदास, वराहमिहिर, फाहियान, बाण तथा अन्य लेखकों ने अपनी रचनाओं में उन पर लगाए गए सामाजिक प्रतिबंधों का रोचक चित्रण किया है। *चाण्डालों* का भी एक भाग अछूतों में अंतर्गत आता था, यद्यपि सामाजिक पदानुक्रम में उसका स्तर सबसे निम्न था।

इस काल तथा बाद के समय में अछूतों की संख्या में कितनी वास्तविक वृद्धि हुई इसको बता पाना कठिन है। ब्राह्मणिक तथा बौद्ध ग्रंथों का मत है कि अछूत जातियां मूलतः पिछड़े हुए आदिवासियों से संबंधित थीं। यह तर्क दिया जाता है कि उनके पिछड़ेपन तथा ब्राह्मणिक संस्कृति को अपनाने की प्रक्रिया और ब्राह्मणवाद के उनके विरोध के कारण उनको समाज में शामिल नहीं किया गया तथा उनको अछूतों की स्थिति की ओर धकेल दिया गया। यद्यपि यह भी हो सकता है कि उनको भूमि के अधिकार से वंचित करके गांवों के बार की ओर बसा दिया।

7.5.5 दस्तकारी और जातियां

इस काल के दौरान कारीगरों तथा दस्तकारों के बहुत से गुटों ने अपने प्रारंभिक स्तरों को खो दिया और उनमें से कई को अछूतों की श्रेणी में माना जाने लगा। संभवतः यह उन नगरीय केन्द्रों के पतन के फलस्वरूप हुआ जहां पर दस्तकारों की काफ़ी बड़ी संख्या में मांग थी। दस्तकारी के संगठन जातियों में रूपांतरित हो गए और इस रूपांतरण को दस्तकारी उत्पादन के संगठन तथा प्रकृति में हुए परिवर्तन में प्रभावकारी ढंग से समझा जा सकता है। बहुत सी जातियां जैसे कि *स्वर्णकार* (सुनार), *मालाकार* (माला बनाने वाला), *चित्रकार, मपिता* (नाई) आदि की उत्पत्ति विभिन्न दस्तकारियों (जिनका अनुसरण विभिन्न गुटों द्वारा किया जाता था) से हुई। कारीगरों के भी कुछ वर्ग अछूत बन गए। दसवीं सदी के अंत तक जुलाहे, रंगकार, दर्जी, नाई, जूतों का निर्माण करने वाले, लुहार, धोबी और अन्यों की स्थिति भी अछूतों जैसी हो गई।

7.6 वैश्यों का ह्रास और शूद्रों के सामाजिक स्तर में बढ़ोत्तरी

धर्मशास्त्रों और इसी तरह के अन्य साहित्य में उल्लेख है कि चारों वर्णों के ढांचे के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होना शुरू हुआ। शूद्रों के एक भाग का कृषि के साथ सम्बन्ध कायम होने के बाद उनके सामाजिक तथा आर्थिक स्तर में बढ़ोतरी हुई। वैश्यों के विशेषकर उस भाग का, जो अपने *वर्ण* में सबसे नीचे के स्तर पर थे, पतन शूद्रों के स्तर तक हुआ। इस प्रकार दो नीचे के वर्णों की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन हुआ। शूद्र अब केवल दास और सेवक मात्र नहीं रह गए थे। उनका उदय काश्तकारों, बटाईदारों तथा किसानों के रूप में हुआ। नगरों के पतन के कारण शूद्र कारीगरों को खेती के काम को मजबूरन स्वीकार करना पड़ा।

उत्तर-मौर्य काल में भारत के विदेश व्यापार की पराकाष्ठा के दौरान वैश्यों की पहचान व्यवसायों तथा नगरों के साथ की जाती थी। उत्तर-गुप्त काल में कृषि व्यवस्था की प्राथमिकता के कारण वैश्य व्यापारियों तथा सौदागरों को आर्थिक नुकसान एवं सामाजिक पतनशीलता का सामना करना पड़ा। उनमें से बहुतों ने अपना जीवन यापन करने के लिए कृषि कार्यों को अपना लिया।

7.7 महिलाओं की स्थिति

इस काल के दौरान समाज में महिलाओं की स्थिति में क्रमशः पतन हुआ। आचार-संहिता पुस्तकों में महिलाओं की कम आयु में या यौवन अवस्था से पूर्व विवाह करने की प्राथमिकता का उल्लेख हुआ है। महिलाओं के लिए औपचारिक शिक्षा को मना कर दिया गया। महिला और सम्पत्ति की एक ही श्रेणी में कर दिया गया जिससे उनकी सामाजिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ। सामान्यतः उनको सम्पत्ति अधिकार से वंचित कर दिया गया। परन्तु विधवाओं के मामले में सम्पत्ति अधिकारों में कुछ सुधार हुआ। *स्त्री धन* (जिसका साहित्यिक अर्थ है महिलाओं का धन) के प्रावधानों से स्पष्ट है कि इसका अधिक महत्व इसलिए नहीं था क्योंकि महिलाओं को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे ज़ेवर, आभूषण एवं उपहारों से अधिक को रखने का अधिकार नहीं था। *बृहत-संहिता* जैसे समकालीन साहित्यिक ग्रंथों में महिलाओं एवं शूद्रों के लिए संयुक्त रूप से संदर्भों का प्रयोग महिलाओं की समाज में दुर्दशा को स्पष्ट करता है। उनको बहुत से यज्ञों एवं उत्सवों में भाग लेने से वंचित कर दिया गया। इसी काल में सती प्रथा को भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो गई। विवाह के पश्चात् महिलाओं के *गोत्र* में परिवर्तन का प्रारंभ भी पांचवीं सदी सी.ई. से हो गया। यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था क्योंकि इसकी अंतिम परिणति उनके पैतृक घर में उनके अधिकारों की समाप्ति के रूप में हुई और यह पैतृक व्यवस्था या पुरुष-प्रधान समाज की विजय का प्रतीक था।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर-गुप्त काल में अछूतों की स्थिति की विशेषताओं पर पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) वैश्य समुदाय में होने वाले परिवर्तनों का विवेचन उनके आर्थिक ह्रास के संदर्भ के साथ कीजिए। आपका उत्तर पांच पंक्तियों से अधिक न हो।

.....

.....

.....

.....

.....

3) इस काल के दौरान महिलाओं की स्थिति का विवरण दीजिए। उत्तर पांच पंक्तियों में हो।

.....

.....

.....

.....

.....

4) गुप्त तथा उत्तर-गुप्त काल में जातियों की संवृद्धि मुख्य परिवर्तन था। पांच पंक्तियों में विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

7.8 सारांश

पहली सहस्राब्दी सी.ई. के मध्य से अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के विभिन्न प्रतिमानों का उल्लेख किया गया है। ये परिवर्तन इसलिये और महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा भारत के इतिहास में प्राचीन काल का अन्त और नए युग का प्रादार्भाव हुआ। जिस ढंग से पुराने युग ने नए युग में प्रवेश किया उसको महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने स्वयं स्पष्ट किया। गुप्त और उत्तर-गुप्त काल के इतिहास में कृषि अर्थव्यवस्था में एक जमींदार वर्ग तथा दूसरे परतंत्र किसान वर्ग का उद्भव और जिसमें देहातीपन तथा कृषि की प्रमुखता; प्रत्यक्ष रूप से व्यापार का ह्रास; नगरों का ह्रास; और धातु धन की कमी जैसी विशेषतायें प्रमुख थीं।

फ़िर भी यह व्यापक गतिशीलता की विशेषता का युग था। इस पृष्ठभूमि में जो परिवर्तन हुए, उनको इस प्रकार से जाना जा सकता है : नवीन फसलों का विकास, सिंचाई सुविधाओं का निर्माण, पौधों तथा पशुओं की बीमारियों के प्रति सचेतना का बढ़ना, कृषि से संबंधित दूसरे

अन्य पक्षों में सुधार, कुछ ऐसी बस्तियों के आकार में वृद्धि जो ग्रामीण समुदायों के मिलन बिन्दुओं के मध्य पैदा हुई और विनिमय व्यवस्था, मेलों तथा व्यापारिक केन्द्रों की पुनः उत्पत्ति।

उत्तर गुप्त-काल में महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हुए। जैसा कि धर्मशास्त्रों से ज्ञात होता है कि *वर्ण* पदानुक्रम की व्यवस्था एवं चरित्र में क्रांतिकारी रूपांतरण हुआ। उत्तर भारत में वैश्यों तथा शूद्रों के बीच विभेद करना कठिन हो गया परंतु पूर्वी भारत, दक्कन और दक्षिण भारत में मुख्य रूप से *ब्राह्मण* एवं *शूद्र* दो ही *वर्ण* अस्तित्व में थे।

7.9 शब्दावली

नवीन संस्कृति का ग्रहण : नई संस्कृति को अपनाना।

माल की अदल-बदल करना (वस्तु विनिमय) : एक सामान से दूसरे सामान के द्वारा विनिमय करना।

पुजारी की वृत्ति : उपहार में की गई भू-सम्पत्ति जो *ब्राह्मणों* आदि के अधीन हो।

ग्रहीत : लाभ प्राप्तकर्ता

प्रज्ञा (राजपत्र) : जिसके द्वारा अनुदान के अधिकारों की व्याख्या होती थी।

विदेश वस्तु : विदेश से आई वस्तु से परिचित होना।

घुमक्कड़ यात्री : एक जगह से दूसरी जगह की यात्रा करने वाला।

सौदागर : यात्रा पर जाकर सामान बेचने वाला।

बंद अर्थव्यवस्था : ऐसी अर्थव्यवस्था जिसके अंतर्गत विनिमय प्रणाली का कम से कम उपयोग होता हो और जिसका नगरीय केन्द्रों के साथ बहुत ही कम या नहीं के बराबर संपर्क हो।

नयी संस्कृति को अपनाना : यहां पर इसका प्रयोग ब्राह्मणिक संस्कृति को अपनाने के संदर्भ में किया गया है।

देशवासी : स्वदेशी।

सहभोजन करना : आपसी लाभ के लिए एक साथ बैठकर खाना-पीना।

किसान आधार वाली *जाति* : इसका प्रयोग प्रारंभिक कृषि समाज की बस्तियों के लिए किया गया है जिनके सदस्यों का वर्गीकरण जातियों के आधार पर किया गया।

सजातीय विवाह : एक ही *जाति* के अंदर वैवाहिक संबंध बनाना।

अंतर्जातीय विवाह : दूसरी *जाति* में विवाह करना।

पैतृक/प्रभुत्व : वे परिवार जिनका संचालन पैतृक अधिकारों के अनुरूप होता है।

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों 1

1) उप-भाग 7.2.1 और 7.2.3 देखिए।

2) भाग 7.4 देखिए।

बोध प्रश्नों 2

1) उप-भाग 7.5.4 देखिए।

2) भाग 7.6 देखिए।

3) भाग 7.7 देखिए।

4) उप-भाग 7.5.2 देखिए।

7.11 संदर्भ ग्रन्थ

शर्मा, आर. एस. (1980) *इंडियन फ्यूडलिस्म,* दूसरा संस्करण। दिल्ली : मैकमिलन

शर्मा, आर. एस. (2005) *इंडियाज़ एंशियंट पास्ट*। नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस।

थापर, रोमिला (2002) *द पैनगयुईन हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इंडिया : फ्रॉम द ओरिजिंस टू ऐ.डी. 1300*। नई दिल्ली : पेन्ग्यूइन बुक्स।

सिंह, उपिंदर (2008) *ऐ हिस्ट्री ऑफ़ एंशियंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया. फ्रॉम द स्टोन ऐज टू द ट्वेल्फ्थ सेन्चुरी*। नई दिल्ली : पियर्सन।

इकाई 8 उत्तर-गुप्त काल में राज्य व्यवस्था, धर्म और संस्कृति*

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 राजपद

8.3 राजनीतिक संगठन

- 8.3.1 सेना
- 8.3.2 प्रशासनिक विभाजन
- 8.3.3 सामंत
- 8.3.4 कर प्रणाली

8.4 न्याय व्यवस्था

8.5 उत्तर-गुप्त काल में धर्म

- 8.5.1 *भक्ति* का उद्‌भव
- 8.5.2 देवताओं का समन्वय
- 8.5.3 कबीलाई अनुष्ठानों का समावेश
- 8.5.4 मंदिरों एवं ईश्वरवाद को राजकीय संरक्षण
- 8.5.5 उत्तर भारतीय धर्मों का दक्षिण की ओर प्रसार

8.6 दक्षिण भारत में *भक्ति* आंदोलन

- 8.6.1 दक्षिण भारत के *भक्ति* आंदोलन में प्रतिरोध एवं सुधार और *भक्ति* आंदोलन का बाद में रूपातंरण

8.7 तन्त्रवाद की उत्पत्ति

- 8.7.1 तन्त्रवाद की कुछ मुख्य विशेषतायें
- 8.7.2 तन्त्रवाद तथा वाममार्गी धर्म

8.8 उत्तर-गुप्त काल में संस्कृति

8.9 सारांश

8.10 शब्दावली

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.12 संदर्भ ग्रंथ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप बता सकते हैं:

- उत्तर-गुप्त काल में राजनीतिक व्यवस्था, धर्म और संस्कृति;
- उन कारणों को जिनके आधार पर इतिहासकार इस काल के राजनीतिक संगठन का चरित्र सामंतीय मानते हैं;

*इस इकाई को ई.एच.आई.-02, खंड-09 से लिया गया है।

- बाद के *ब्राह्मण* मत, *भक्ति* एवं तंत्रवाद की मुख्य विशेषतायें; और
- उत्तर-गुप्त काल में मंदिर वास्तुकला, साहित्य और अध्ययन के नये क्षेत्र।

8.1 प्रस्तावना

जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं उस पर उत्तर में गुप्त तथा पुश्यभूतियों, दक्कन में वाकाटक, कदम्ब एवं बादामी के चालुक्य और दक्षिण के आंध्र तथा तमिलनाडु में पल्लवों का शासन रहा। इन सबके अतिरिक्त निश्चित रूप से कुछ छोटे राज्य एवं सरदारों के प्रभाव क्षेत्र देश के बहुत से भागों में विद्यमान थे। इस युग की राजनैतिक व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए अभिलेख, धर्मशास्त्र साहित्य, बाण की रचना हर्षचरित, चीनी यात्रियों फाह्यान एवं हवेन-त्सांग के यात्रा वृतांत आदि इस काल के मुख्य स्रोत हैं। इस काल की राजनीतिक व्यवस्था के लिए सामान्यतः यह कहा जाता है कि उत्तराधिकारी राजतन्त्रों का छोटे क्षेत्रों पर शासन रहा परन्तु उनमें से एक या दो राजतंत्रों ने एक व्यापक क्षेत्र पर अपने सम्प्रभु को स्थापित किया। उदाहरण के लिए, हर्ष के (सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में) नियन्त्रण में सामान्यतः एक विशाल क्षेत्र था। इस इकाई में हम 300 से 700 सी.ई. तक के काल के राजनैतिक संगठन की मुख्य विशेषताओं का विवेचन करेंगे। हम यह भी दिखाने का प्रयास करेंगे कि इन विशेषताओं ने पहले के युग के राजनैतिक संगठन में परिवर्तन को कैसे स्पष्ट किया और इसी प्रकार के परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में भी हुए जैसे कि इस समय में देश के राजनैतिक संगठन में भी अति महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। हम धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में हो रहे विकास के बारे में भी जानेंगे।

8.2 राजपद

देश के अधिकतर भाग पर राजाओं का ही शासन था। कुछ सीमान्त क्षेत्रों में गणों (कबीलाई गणतन्त्र) की सरकार कायम थी। चौथी सदी सी.ई. के प्रारम्भ में समुद्रगुप्त के द्वारा उत्तर भारत में सैनिक अभियान का संचालन करने के बाद ये सभी कबिलाई गणतन्त्र राजनैतिक दृश्य से गायब हो गये। इस प्रकार पंजाब में मद्र एवं योधेय, मध्य भारत के अभीर आदि का नाम फ़िर कभी भी सुनायी न दिया। कुछ कबिलाई सरदारों के राज्य धीरे-धीरे राजतन्त्रों में परिवर्तित हो गये। राजा अब *परममहेश्वर, राजाधिराज, परमभट्टारक* जैसी भारी भरकम उपाधियों को धारण करने लगे जिनसे अन्य छोटे शासकों पर उनकी सर्वोच्चता स्पष्ट होती है। इस काल में दैवी अधिकार सिद्धान्त का प्रचलन हो गया। इस सिद्धांत को बनाये रखने के लिये राजा *पृथ्वीबल्लभ* जैसी उपाधियों को धारण करते थे। जिसका तात्पर्य है, ''पृथ्वी देवी का प्रिय''। उसको पांचवा लोकपाल कहा जाता है क्योंकि चारों प्रधान दिशाओं के संरक्षकों पर लोकपालों के नाम से विख्यात अन्य चार थे कुबेर, वरुण, इन्द्र एवं यम। यद्यपि राजा का देवत्व का सिद्धांत प्रधानता को प्राप्त कर गया था परन्तु इसके अन्दर राज्य की एक संरक्षक तथा रक्षक की अवधारणा भी निहित थी।

राजा का पद पैतृक था। यद्यपि सिंहासन पर उत्तराधिकार ज्येष्ठत्व के सिद्धांत के अनुसार ही तय किया जाता था जिसका तात्पर्य है कि सिंहासन पर राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही बैठता है परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी थे। कभी-कभी राजा का निर्वाचन कुलीनों और मन्त्रियों के द्वारा होता था। सरकार का प्रमुख होने के कारण राजा अपने प्रदेश की सभी प्रशासनिक गतिविधियों का निरीक्षण करता था। वह सर्वोच्च न्यायाधीश था और सामान्यतः युद्ध के मैदानों में अपनी सेना का नेतृत्व करता था।

अपवाद के रूप में कुछ ऐसी रानियों के नाम भी मिलते हैं जो शासन करती थीं। जैसे बाद में कश्मीर की रानी दिद्दा थी। सामान्यतः रानियां पृष्ठभूमि में ही रहती थी।

8.3 राजनीतिक संगठन

मौर्य काल की तुलना में, इस काल में राजा को सलाह देने के लिये किसी मन्त्रीपरिषद का अस्तित्व था इसके कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं। परन्तु फ़िर भी कुछ उच्च अधिकारी इस समय में भी थे जिनको मन्त्री कहा जाता था। उच्च अधिकारियों में *संधिविग्राहिका,* यह विदेशी मामलों, युद्ध एवं शांति का मन्त्री था, *महाबालाधिकृत* एवं *महादण्डनायक,* ये दोनों सेना के उच्च अधिकारी थे। कभी-कभी एक समय में एक ही व्यक्ति एक से अधिक पदों पर पदासीन होता था। उदाहरण के लिये, हरिषेण जो समुद्रगुप्त की प्रयागराज प्रशस्ति का रचयिता था *संधिविग्राहिका* होने के साथ-साथ महादण्डनायक भी था।

अधिकारियों और उच्च अधिकारियों के अधिकांश पद उत्तर गुप्त काल के दौरान जारी रहे। अधिकारियों का एक वर्ग था जिसको *कुमारमात्य* के नाम से जाना जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश उच्च अधिकारियों की नियुक्ति इस वर्ग से ही की जाती थी और इसलिए *कुमारमात्यों* को अन्य बहुत से पदों जैसे कि *संधिविग्राहिका, दण्डनायक, महाबालाधिकृत* आदि पर भी नियुक्त किया जाता। उनमें कुछ प्रत्यक्ष रूप से राजा के नियन्त्रण में होते थे और उनमें से कुछ राजकुमारों के सेवकों तथा प्रांतीय सूबेदारों के रूप में कार्य करते थे। *उपारिका* के नाम से पुकारे जाने वाले अधिकारी के अधीन एक प्रशासनिक मण्डल *भुक्ति* होता था। *आयुक्तक* नौकरशाही का एक सदस्य था जो *विषयपति* के समान था तथा गाँव में उच्च स्तर पर कार्य करता था और वह ग्राम तथा भुक्ति के मध्य एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक सम्पर्क था। इस काल के प्रारम्भ में प्रशासनिक अधिकारियों को भुगतान नकद किया जाता था और बाद में एक निश्चित क्षेत्र का राजस्व वे प्राप्त करने लगे और इसलिए उनको *भोगिका* और *भोगपति* कहा जाने लगा। यह *हर्षचरित* से ज्ञात हुआ है जिसके अनुसार इस प्रकार के अधिकारियों के विरूद्ध गाँव वालों ने हर्ष से शिकायत की। ये पद बाद में पैतृक हो गये जिसके कारणवश राजा का प्रभुत्व कमज़ोर हो गया।

8.3.1 सेना

आंतरिक शांति रखने तथा आक्रमण से सुरक्षा के लिए लगातार या स्थायी रूप से सेना रखना इस युग की मुख्य विशेषता थी। जैसा कि ऊपर बताया गया कि उस समय में भी सेना के बहुत से उच्च अधिकारी थे और सेना इन अधिकारियों के अधीन होती थी। घुड़ सेना इस युग की सेना का मुख्य अंग होती थी। समुद्र तटीय पल्लव जैसे दक्षिण के राज्यों में नौसेना भी होती थी। इस युग की सेना में रथों का प्रचलन महत्वपूर्ण नहीं था। केन्द्रीय शाही सेना का उपभाग सामान्तों की सेना होती थी।

8.3.2 प्रशासनिक विभाजन

देश का प्रशासन सुचारू रूप से चलाने के लिए उसको कई *मण्डलों* में विभक्त किया गया। सबसे उच्च इकाई को *भुक्ति* कहा जाता था। कभी-कभी राजकुमार इस पद पर नियुक्त किये जाते थे। *भुक्ति* से आगे का प्रशासनिक *मण्डल विषय* होता था और प्रशासन की सबसे छोटी इकाई *ग्राम* होते थे। कुछ विशेष क्षेत्रों में *विषय* को राष्ट्र भी कहा जाता था। पूर्वी भारत में *विषयों* को भी विभिन्न *विधियों* में विभाजित किया गया था और जो *ग्राम* से ऊपर होता था। *विषय* के अधिकारियों को (या स्थानीय ताकतवर लोग) *विशपति* कहा जाता और वे प्रशासनिक कार्यों में अग्रिम भूमिका अदा करते थे। गाँव में एक मुखिया होता और गाँव के बड़े-बूढ़े लोग गाँव के मामलों में अग्रिम भूमिका अदा करते थे। नगरों या कस्बों में दस्तकारों तथा व्यापारियों के अपने संगठन (*श्रेणियों*) होते थे और वे अपने इन संगठनों का प्रशासन स्वयं चलाते थे।

8.3.3 सामन्त

अर्द्ध रूप से स्वतंत्र स्थानीय सरदारों को सामन्त कहा जाता और ये सामन्त युग की राजनैतिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता थे। हम पहले ही बता चुके हैं कि समुद्रगुप्त ने बहुत क्षेत्रों को विजयी किया और उनको अपने अधीन कर लिया। इन क्षेत्रों के कुछ ऐसे शासकों को जो गुप्त साम्राज्य की सीमाओं पर स्थित थे राजा का सहायक शासक बना दिया गया था। वे सामन्तीय शासक हो गये जिससे कि वे समय-समय पर राजा को नज़राना भेंट करते थे। उनमें से कुछ ने अपनी पुत्रियों का विवाह राजा के साथ उपहार के रूप में भी किया। वे स्वयं राजा के दरबार में उपस्थित होकर उसको प्रसन्न करने के लिए सम्मान व्यक्त करते। इसके बदले में राजा उनके अपने क्षेत्र में उनके शासन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान करता और इसके लिये वह उनको राजपत्र भी देता। युद्ध के समय में ये सहायक शासक राजा की सेना में लड़ने के लिये अपने सैनिकों को भेजकर उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते। इन सम्मानों तथा कृतज्ञताओं के बदले में सामन्तों को उनके अपने क्षेत्रों में उस प्रशासन को चलाने के लिए छोड़ दिया जाता।

पुजारियों और अधिकारियों को उनके निर्वाह के लिये भूमि-अनुदान दिये गये जिसके कारण विकेन्द्रीकरण विशेषताओं वाली राजनैतिक व्यवस्था का प्रचलन हुआ। सामान्यतः राजा भूमि-अनुदान ही नहीं प्रदान करता था बल्कि इसके साथ-साथ लोगों पर कर लगाने, अपराधियों को दण्ड आदि देने के अधिकारों को भी प्रदान करता। अनुदान में दिये गये क्षेत्रों को राजा की सेनाओं के प्रवेश से भी मुक्त कर दिया जाता। यह स्वाभाविक ही था कि इस प्रकार के अनुदान प्राप्त करने वाले राजा से लगभग स्वतन्त्र हो गये और वे स्वयं ही सामन्त बन गये। इसके फलस्वरूप हम देखते हैं कि सातवीं सदी सी.ई. में इस प्रकार के अधिकारीगण महासामन्त जैसी भारी भरकम उपाधियां धारण करने लगे। एक सामन्त ने पांच शब्दों की एक विशेष उपाधि को धारण किया जिसको *पंचमहाशब्द* कहा गया। यद्यपि सामन्त तथा महासामन्त के उपाधियों को धारण करने से उनकी स्वायत्तता की पुष्टि होती थी। राजनैतिक व्यवस्था में इन सब विशेषताओं के उत्पन्न हो जाने पर कुछ इतिहासकारों ने निष्कर्ष निकाला है कि गुप्त काल से जिस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था का जन्म हुआ वह सामन्तीय प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती थी।

8.3.4 कर प्रणाली

सरकार को अपना अधिकतम राजस्व कर प्रणाली के द्वारा प्राप्त होता था। *भाग, भोग* आदि के नाम से पुकारे जाने वाले भूमि कर ही मुख्य कर थे और सदी-दर-सदी भूमि कर में वृद्धि होती रही। इस काल में व्यापार तथा वाणिज्य का पतन हो रहा था जिसके कारण व्यापारिक करों की प्रमुखता नहीं पायी जाती। यह बात विचारणीय है कि जिन स्थानों पर पुजारियों और अधिकारियों को भूमि-अनुदान दिये गये उन स्थानों से सरकार को प्राप्त होने वाले राजस्व में काफ़ी कमी आयी।

8.4 न्याय व्यवस्था

पहले की तुलना में इस समय न्याय व्यवस्था काफ़ी विकसित हो गई थी। इस काल में ही विधि नियमों तथा संहिताओं का संकलन हुआ और *धर्मशास्त्रों* में स्पष्ट रूप से वैधानिक मामलों पर लिखा गया।

उस समय में *करण, अधिकरण, धर्मासन,* आदि के नाम से अलग-अलग अदालतें थीं। दीवानी तथा फौजदारी मामलों में एक दूसरे से स्पष्ट विभाजन किया गया था। सम्पत्ति तथा

उत्तराधिकार से संबंधित कानून स्पष्ट थे। परन्तु न्याय समाज के वर्ण विभाजन पर आधारित था। एक ही समान अपराध के लिये उच्च *वर्ण* से या उच्च जाति से संबंधित अपराधी को छोटे वर्ण या छोटी *जाति* से जुड़े अपराधी की अपेक्षा काफ़ी कम दण्ड दिया जाता था। धर्मशास्त्रों में भी यह व्यवस्था की गई थी कि जब भी न्याय किया जाये तो उस समय विभिन्न श्रेणियों तथा जातियों की परम्पराओं और स्थानीय परिपाटियों को ध्यान में रखा जाए।

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर गुप्त काल में राजपद की मुख्य विशेषताओं पर 5 पंक्तियाँ लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजनीतिक व्यवस्था में सामन्तों के योगदान पर पांच पंक्तियाँ लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 उत्तर-गुप्तकाल में धर्म

प्रारंभिक भारत के धार्मिक इतिहास के विभिन्न चरणों से आप भली भांति अवगत हैं। पुरातात्विक सामाग्रियों से स्पष्ट है कि भारतीय धर्मों के कुछ निश्चित तत्व पुरातात्विक संस्कृतियों में निहित थे जो वेदों के पूर्वगामी थे। ऋग्वेद के श्लोकों से स्पष्ट है कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किस प्रकार से अर्चना की जाती थी। समय के साथ-साथ ऋग्वेद की सरल प्रार्थनायें जटिल अनुष्ठानों में परिवर्तित हो गई जिन पर *ब्राह्मणों* का प्रभुत्व कायम हो गया और इस स्थिति में *ब्राह्मणों,* शासकों तथा क्षत्रियों के बीच बढ़ते घनिष्ठ सम्बन्धों को कोई भी देख सकता है। न केवल घुमक्कड़ सन्यासियों ने जो स्थापित समाज से दूर भागते थे बल्कि बौद्ध तथा जैन धर्मों के अनुयाईयों ने *ब्राह्मणों* तथा उस कठोर समाज और नैतिक व्यवस्था का विरोध किया जिसकी *ब्राह्मण* वकालत करते थे। इस प्रकार इस समय में ब्राह्मणवादी धर्म विरोधी आंदोलनों का उदय हुआ (वाममार्गी या गैर सनातनी धार्मिक आन्दोलन) जिनको न केवल शासक वर्ग ने समर्थन दिया बल्कि धनी व्यापारियों तथा जनता के अनेक वर्गों से इनको समर्थन मिला। पूर्व-गुप्त काल में बौद्ध धर्म अपनी प्रगति की चरम ऊँचाइयों पर पहुँच गया; भारत की सीमाओं से बाहर इसका प्रसार हुआ और बौद्ध धर्म के केन्द्रों का व्यापक स्तर पर निर्माण हुआ। इसी बीच ब्राह्मणवादी धर्म में भी अनेक परिवर्तन हुए और इसी के साथ-साथ वाममार्गी सम्प्रदायों में भी परिवर्तन हुए। धार्मिक दृष्टिकोण से होने वाले ये परिवर्तन इसलिए भी महत्वपूर्ण थे कि उपासक *भक्ति* के द्वारा

सर्वोच्च ईश्वर से बंधा था और इस प्रकार सर्वोच्च ईश्वर की उपासना एक आकार के रूप में होने लगी। वैश्णव मत तथा शैव मत ब्राह्मणवादी धर्म के ही भाग थे और इन्होंने काफ़ी अनुयायी आकर्षित किये। इस प्रकार मूर्ति पूजा बौद्ध धर्म में भी काफ़ी लोकप्रिय हो गई जिसके अन्तर्गत न केवल महात्मा बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्ति की पूजा होने लगी बल्कि बौद्ध धर्म के अनेक देवताओं को पूजा जाने लगा। जैन धर्म के अन्दर भी तीरथंकर की मूर्ति, बहुत छोटे देवताओं, पत्थर के आयगपट्ट और अन्य प्रतीकों की भी पूजा होने लगी।

इसी तरह से देवियां (शक्ति) ब्राह्मणवादी मत में महत्वपूर्ण हो गईं। ब्राह्मणवादी धर्म में एकरूपता नहीं थी और धर्मों की पूजा-अर्चना तथा विश्वासों में व्यापक विभिन्नतायें थीं। शैव मत के विभिन्न सम्प्रदाय जैसे पाषुपात, कौला कापालिक, कालमुख *ब्राह्मणों* के प्रभुत्व का विरोध करते थे। मठों के आस-पास उनकी अपनी धार्मिक व्यवस्था थी और उनको भी बहुत से राजवंशों से सहायता प्राप्त होती थी। इसी के साथ-साथ *ब्राह्मणों* को भी राजवंशों से सहायता प्राप्त होती थी और वे अब भी वेदों के ज्ञान के जानने वाले थे तथा वेद-यज्ञों को सम्पन्न करते। *ब्राह्मणों* की *अग्रहार* बस्तियां ब्राह्मणिक विचारों का सम्पूर्ण देश में प्रसार तथा व्यवहार करने वाली मुख्य सम्पर्क केन्द्र बन गई। इस युग में मंदिर ऐसे संस्थानों के रूप में बदल गये जहाँ पर लोग सामूहिक रूप से एकत्रित होते तथा जहाँ से ब्राह्मणिक विचारों का प्रसार भी प्रभावशाली ढंग से होने लगा।

भारत की प्रारम्भिक मध्य काल की इस जटिल धार्मिक स्थिति में यद्यपि *ब्राह्मणों* ने प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। परन्तु इस सन्दर्भ में हमें निम्नलिखित बातों का भी ध्यान चाहिये।

1) रूढ़िवादी ब्राह्मणिक व्यवस्था को शैव मत के आन्तरिक आंदोलन के साथ-साथ कवि सन्तों एवं तान्त्रिक पूजा करने वालों से चुनौतियां मिलती रहीं;

2) सभी धर्मों ने चाहे ब्राह्मणवादी धर्म हो या फ़िर बौद्ध मत एवं शैव मत मंदिरों एवं मठों के रूप में अपना संस्थानात्मक आधार विकसित किया;

3) समाज के शासक एवं सम्पन्न वर्गों ने *ब्राह्मणों,* भिक्षुओं, धार्मिक मठाधीशों, संस्थाओं और दूसरों की सहायता भूमि-अनुदानों, धन तथा अन्य साधनों से की। संरक्षण देने वाले इन कार्यों के माध्यम से समाज के शासक तथा प्रभुत्व सम्पन्न वर्गों ने अपना स्वयं का सामाजिक आधार मज़बूत किया।

इस इकाई में इन्हीं बहुत से पक्षों का विवरण किया गया है।

8.5.1 *भक्ति* का उद्भव

ब्राह्मणवादी मत को वैदिक देवताओं इन्द्र एवं वरुण के साथ-साथ नये देवताओं विष्णु एवं शिव के बढ़ते महत्व को स्वीकार करना पड़ा। इस धारा में वासुदेव, स्कन्द जैसे नये देवताओं का भी समावेश हो गया। इन सभी कारणों वश भक्ति सम्प्रदाय का उदय हुआ।

उत्तर-ब्राह्मणिक मत में अन्य धर्मों या सम्प्रदायों की परम्पराओं को अपने अन्दर ग्रहण करने की क्षमता का विकास हो गया। यह इसलिये भी आवश्यक हो गया कि ''वामगार्मी सम्प्रदायों'' ने ब्राह्मणवादी धर्म को चुनौतियां देना प्रारम्भ कर दिया था। ब्राह्मणवादी धर्म ने अन्य नये देवताओं को अपनाने के साथ-साथ वैदिक अनुष्ठान के स्थान पर भक्ति पर अपना बल देना शुरू कर दिया। भक्ति में यह अन्तर्निहित था कि उपासक ईश्वर के साथ अपना प्रत्यक्ष संबंध कायम कर सकता था। इस प्रकार ईश्वर के एकेश्वरवाद की अवधारणा विष्णु या शिव के रूप में अभिव्यक्त हुई और भक्ति शनैः-शनैः मज़बूत होने लगी। भक्ति उत्तर-ब्राह्मणवादी धर्म की एक गतिशील शक्ति बन गई जिसको हिंदूवाद के नाम से जाना गया। (आप *भक्ति* के विषय में इकाई 16 में विस्तृत रूप से पढ़ेंगे)

8.5.2 देवताओं का समन्वय

नये ब्राह्मणवादी धर्म की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अनेक स्थानीय देवताओं का सांमजस्य ब्राह्मणवादी धर्म में होने लगा और जिसके कारणवश एकेश्वरवादी या अद्वैतवादी महान ईश्वर की अवधारणा का विकास हुआ। इस सन्दर्भ में समन्वय होने का तात्पर्य यह था कि जिन विभिन्न देवताओं की पूजा विभिन्न लोगों के द्वारा की जाती थी उनकी पहचान को मान्यता प्रदान की गई और उनकी पूजा उसी सर्वोच्च देवता की अभिव्यक्ति के रूप में की गई। इस प्रकार वासुदेव को विष्णु रूप में बताया गया। विष्णु वेदों में वर्णित कम महत्व के देवता के समान थे और ब्राह्मणिक ग्रंथों के अनुसार, नारायण की उत्पत्ति किसी अन्धकारमय या मलिन वस्तु से हुई। बाद में विष्णु का नाम कृष्ण के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित हो गया। कृष्ण एक योद्धा तथा ग्वाले के रूप में बांसुरी बजाने वाले देवता के संयुक्त रूप का प्रतिनिधित्व करते थे। विष्णु के साथ अन्य सम्प्रदायों के देवताओं को भी संबंधित कर दिया गया। जैसे कि ''वराह देवता'' को जो मालवा के एक कबीले का देवता था, *ब्राह्मण* नायक परशुराम, और रामायण के महान नायक राम को भी विष्णु के साथ संबंधित कर दिया गया। इसके बाद विष्णु भगवद् गीता वाले सार्वभौमिक ईश्वर हो गये।

इसी भांति शिव को भी वैदिक रूद्र तथा भैरव के रूप में मान लिया गया। शिव एक कबीलाई ईश्वर थे और उनकी लिंग के रूप में पूजा होने लगी। बाद में शिव के साथ स्कन्द तथा हाथी-मुख वाले गणेश जैसे देवताओं को सम्बन्धित कर दिया गया। ईश्वरवादी सम्प्रदायों ने वैदिक यज्ञों की अपेक्षा पूजा पर अधिक बल दिया।

8.5.3 कबीलाई अनुष्ठानों का समावेश

उत्तर-ब्राह्मणवादी धर्म की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसने वैदिक अनुष्ठानों की सिर्फ सैधांतिक रूप में सर्वोच्चता को बनाये रखते हुए कबीलाई अनुष्ठानों को अपना लिया। समय के साथ-साथ इन कबीलाई अनुष्ठानों के गुणों की तुलना वैदिक यज्ञों से की जाने लगी। आगे चलकर कबीले के पवित्र स्थलों को नये तीर्थस्थलों के रूप में कुछ मिथकों के साथ ससम्मान स्वीकार कर लिया गया। इतिहास तथा पुराण ऐसी बहुत सी कहानियों से भरपूर हैं जिन्होंने व्यक्तिगत ईश्वर की ओर *भक्ति* को प्रेरित किया।

8.5.4 मंदिरों एवं ईश्वरवाद को राजकीय संरक्षण

पुराणों में मथुरा तथा बनारस जैसे महान धार्मिक केन्द्रों की धार्मिक यात्रा के पुण्यों पर प्रकाश डाला गया है और ये नगर महत्वपूर्ण तीर्थस्थल थे। इसके कारण मंदिर संस्था को विशेष बढ़ावा मिला। वास्तव में उस काल के *पुराणों* तथा अन्य ग्रंथों में ऐसे बहुत से तीर्थस्थानों के नाम दिये गये हैं जिनकी यात्रा भक्त लोग काफ़ी बड़ी संख्या में करते थे क्योंकि इन तीर्थों पर जाने से पुण्य की प्राप्ति होती थी। मंदिर जो देवता का घर है, पूजा के स्थल बन गये और उपासना करने वाले लोग अपने घरों का परित्याग करके ऐसे स्थल की ओर पूजा करने के लिये आते थे जो सार्वजनिक केन्द्र हो गये थे। गुप्त काल में मंदिर स्थापत्यकला की जटिल शैली की नीवं पड़ी। इसने भारतीय मंदिर वास्तुकला की विशिष्ट शैलियों की भी नींव रखी। मंदिर में उनके स्थापत्य में महाकाव्यों और *पुराणों* में राम तथा कृष्ण से संबंधित वर्णित कहानियों के अति सुन्दर नमूने पाये गये हैं। गुप्त राजाओं ने वैष्णव तथा शैव दोनों मतों को संरक्षण प्रदान किया। गुप्त शासकों का व्यक्तिगत धर्म वैष्णव धर्म था जिसके फलस्वरूप गुप्त काल में वैष्णव धर्म के अनेक केन्द्रों तथा मूर्ति कलाओं का भरपूर विकास हुआ।

छठी तथा सातवीं सदियों में वैष्णव धर्म का स्थान शैव धर्म ने ग्रहण कर लिया क्योंकि उत्तरी भारत में उसे राज्य का संरक्षण प्राप्त हुआ। शैव मत के अनुयायी उच्चतम शासकों से लेकर विदेशियों तथा भारतीयों तक के सभी वर्गों में थे। राजाओं में उसके अनुयायी मिहिरकुल, यशोधर्मन, शंशाक और हर्ष थे। पाशुपत या शैव आचार्यों को समकालीन साहित्य में पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया गया है और इस साहित्य के अन्तर्गत अभिलेख, वराहमिहिर, बाण और हवेन-त्सांग की रचनायें भी सम्मिलित है।

8.5.5 उत्तर भारतीय धर्मों का दक्षिण की ओर प्रसार

उत्तर भारत के सभी बड़े धर्मों जैसे कि बौद्ध धर्म, जैन धर्म और ब्राह्मणवादी धर्म का प्रसार दक्षिण की ओर हुआ। ब्राह्मणवादी धर्म के साथ-साथ दक्षिण के लोग वैदिक यज्ञों तथा गैर सनातनी सम्प्रदायों, विष्णु मत और शैव मत के सम्पर्क में भी आये। राजाओं ने वैदिक अनुष्ठानों का इसलिये समर्थन किया क्योंकि ये अनुष्ठान उनकी स्थिति को मान्यता प्रदान करते थे। परन्तु ये ईश्वरवादी सम्प्रदाय सामान्य जनता के मध्य लोकप्रिय हो गये। परन्तु दक्षिण भारत में अकस्मात् ही भक्ति वाले ये दोनों ईश्वरवादी सम्प्रदाय अन्य किसी धर्म से अधिक शक्तिशाली हो गये और इस तथ्य की पुष्टि इससे भी होती है कि वैष्णव मत तथा शैव मत और उनके अन्य सम्प्रदायों को राजवंशों ने संरक्षण प्रदान किया। वातापि के प्रारम्भिक चालुक्य शासकों के मध्य कुछ भागवत मत तथा कुछ ने पशुपात सम्प्रदाय को प्रचारित किया। बादामी के प्रसिद्ध पत्थर स्तम्भों पर बने चित्र, दक्कन में छठी-सातवीं सी. ई. शताब्दियों में ईश्वरवादी सम्प्रदायों की लोकप्रियता के प्रतीक हैं। इसी प्रकार कांची के पल्लव शासकों ने इन दोनों ईश्वरवादी सम्प्रदायों को संरक्षण प्रदान किया और इसकी पुष्टि महाबलिपुरम के एक ही पत्थर शिला से बने रथों तथा उन पर बने बहुत से चित्रों के द्वारा होती है।

दक्षिण भारत में कुछ विशेष देवताओं की पूजा के इर्द गिर्द भक्ति के केन्द्रीकरण का प्रसार बड़ी तीव्रता से प्रारम्भ हुआ और इसका प्रसार *ब्राह्मणों* की बस्तियों तथा उन मंदिरों के माध्यम से भी हुआ जहाँ पर भूमि अनुदानों की दानशीलता के साधनों से महाकाव्यों तथा *पुराणों* की व्याख्याओं को संस्थात्मक किया गया। इस प्रकार भक्ति की अवधारणा आम जनता के बीच लोकप्रिय हो गई। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि *ब्राह्मणों* ने जिस प्रकार से उत्तर भारत में प्रारम्भिक धार्मिक रूपों का रूपान्तरण मंदिर को केन्द्र बनाकर ईश्वरवादी संस्कृति में किया उसी प्रक्रिया को पुनः दक्षिण में भी दोहराया गया।

8.6 दक्षिण भारत में *भक्ति* आंदोलन

ईश्वरवादी *भक्ति* का अन्तिम स्वरूप मुख्यतः तमिल उपासनावाद के प्रभाव का परिणाम था। यह उपासनावाद स्थानीय कबीलाई सम्प्रदायों (वेलान वेरियादल) के परमानन्द तथा उत्तर ईश्वरवादी विचारों के संगम की उपज था। यह पारस्परिक सम्मिश्रण तिरुपति तथा कलाहस्ति में प्रारम्भ हुआ जिनसे उस समय के तमिल देश का उत्तरी द्वार बनता था। फ़िर इसका विकास कांचीपुरम के आसपास हुआ जो उस समय पल्लव शासकों की राजधानी होती थी तथा शीघ्र ही यह पांडेय राजधानी मदुरई में पहुँच गया। **मरुगुतिरू अरुप्पादई** देवता पर लिखा गया एक प्रसिद्ध उपासना वाला ग्रंथ है और इसमें स्थानीय कबीलाई देवता मुरुगन को स्कन्द का अवतार बताया गया है तथा पारस्परिक प्रजनन का सबसे पहला उदाहरण है।

शीघ्र ही तमिल उपासनावाद एक आंदोलन के रूप में उस समय विकसित हो गया जब इसने वैष्णव मत तथा शैव मत के दोनों ईश्वरवादी सम्प्रदायों को स्वीकार कर लिया। तब

भक्ति आंदोलन देवता की पूजा करके गहन परमानन्द प्राप्त करने वाला ही न होकर वह उन ईश्वरवादी सम्प्रदायों के विरूद्ध एक आक्रामक आवेग हो गया जो राजकीय समर्थन के साथ जनता में लोकप्रिय होते जा रहे थे।

इस आंदोलन का प्रसार छठी सदी सी.ई. में उन प्रतिभाशाली कवि सन्तों द्वारा किया गया जिन्होंने धर्म प्रचार के लिये कई बार देश का भ्रमण किया। वे अपने सारे रास्ते गीतों को गाते चलते, नाच करते और वाममार्गी सम्प्रदायों के साथ वाद विवाद करते। इन कवि सन्तों में शैव मत के अनुयाइयों को ''नयनार'' के नाम से तथा वैष्णव सन्तों को ''अलवार'' के नाम से जाना जाता था।

इस महान उत्साहवर्धक धार्मिक धारा का चरमोत्कर्ष प्रारम्भिक सातवीं सदी सी.ई. में हुआ और इसकी अन्तिम विजय आगामी दो सदियों में हुई। इस काल के गायक कवि सन्तों की मुख्य विशेषता यह थी कि वे बौद्ध मत तथा जैन मत के विरूद्ध घृणात्मक तरीके से बोलते थे। इसके परिणाम-स्वरूप सार्वजनिक वाद विवाद, आश्चर्यजनक कार्यों को करने की प्रतियोगिता और अपने सिद्धान्तों की सत्यता के सिद्ध करने के लिए कठिन से कठिन परीक्षा को अपनाना दिन प्रतिदिन के कार्य हो गये।

इन गायक सन्तों की सफलता का अन्य कारण भी था। इन गायक सन्तों ने जन साधारण की भाषा तमिल में सरलता से समझ में आ जाने वाले तरीकों से अपनी रचनाओं को गाया। उन *ब्राह्मणों* की भांति नहीं जो गोपनीय सिद्धांतों तथा संस्कृत भाषा के माध्यम से हिन्दू धर्म का प्रचार करते थे। *भक्ति* की अवधारणा के अनुसार श्रेष्ठतम देवता के लिये कोई विशेष सम्मान न करने अपितु उनके प्रति असीम प्रेम भाव को प्रकट करना था। *भक्ति* आंदोलन की इस शक्तिशाली धारा को राज्य का भी समर्थन मिला जिसके कारण जैन तथा बौद्ध मत इसका सामना न कर सके और दक्षिण भारत में ये दोनों धर्म मृतप्रायः हो गये।

8.6.1 दक्षिण भारत के *भक्ति* आंदोलन में प्रतिरोध एवं सुधार और *भक्ति* आंदोलन का बाद में रूपान्तरण

जहाँ एक ओर *ब्राह्मण* जातिवादी नियमों का अनुसरण करते थे वहाँ *भक्ति* सम्प्रदाय ने न केवल *जाति* की अवेहलना की बल्कि उन्होंने अपने सम्प्रदाय में सभी जातियों के पुरुषों और स्त्रियों को सम्मिलित किया। नयनारों में कराईक्कल अम्माई एक महिला तथा नंदनार एक छोटी *जाति* का सदस्य था। अलवरों में अन्दाल एक महिला थी और निरुप्पन छोटी *जाति* का था जो *भक्ति* गीतों को गाता था। इस प्रकार सम्पूर्ण भक्ति आंदोलन के अन्तर्गत विरोध एवं सुधार के तत्व मौजूद थे। परन्तु शीघ्र ही यह स्थापित व्यवस्था का एक अंग बन गया तथा इसको भी रूढ़िवादी *ब्राह्मणों* का संरक्षण प्राप्त हो गया।

भक्ति आंदोलन का विकास तथा संगठन प्रारंभिक मध्यकाल के राजतन्त्रों की भांति पहले पल्लवों एवं फ़िर चोल, पाण्डेय और चेरों के अधीन हुआ। पत्थर की चट्टानों से काटकर बनाए गए मंदिर और स्थापत्य कला के प्रतीक सुंदर मंदिरों का निर्माण विष्णु एवं शिव के लिये सम्पूर्ण तमिलनाडु में उपरोक्त राजतन्त्रों के शासन काल में हुआ।

इन मन्दिरों के लिये भूमि अनुदानों में प्राप्त हुई तथा कभी-कभी कर मुक्त विशाल भूमि भी थी। दक्षिण भारतीय मंदिरों की दीवारों पर खुदे हजारों दान अभिलेखों से स्पष्ट है कि *ब्राह्मणों* को भूमि का विशाल क्षेत्र अनुदान में प्रदान किया गया। शीघ्र ही पुरोहित और राजा की एक धुरी कायम हो गई। राजाओं ने मंदिरों पर केन्द्रित भक्ति अवधारणा का स्वागत किया क्योंकि यह राजतन्त्र की विचारधारा के अनुकूल थी। *ब्राह्मणों* ने इसका स्वागत

इसलिये किया क्योंकि ब्राह्मणवादी मत को मंदिर केन्द्रीकृत कृषि बस्तियों के रूप में संस्थात्मक आधार प्राप्त हो गया जिसके फलस्वरूप उसका दक्षिण में उत्थान एक गतिशील शक्ति के रूप में हुआ।

सभी जगहों पर मंदिर धार्मिक जीवन तथा नये सामाजिक निर्माण के मुख्य केन्द्र थे। ये मंदिर ब्राह्मणिक व्यवस्था की दो भुजाओं अर्थात् वैदिक अनुष्ठानिक सम्प्रदाय तथा ईश्वरवादी सम्प्रदायों के मिलन बिन्दु के केन्द्र बन गये। मंदिर केन्द्रित *भक्ति* सम्प्रदाय की अवधारणा के कारण दक्षिण भारत के पुराने कबीले *जाति* व्यवस्था को स्वीकार करने की ओर आकर्षित हुए और जिससे उन्होंने पदानुक्रम *जाति* व्यवस्था को श्रेणीबद्ध कर लिया। इस व्यवस्था ने कबीलों के लिये अनुष्ठानों तथा सामाजिक स्तरों को *ब्राह्मणों* के द्वारा निश्चित किये गये नियमों के अनुरूप ही निश्चित कर दिया। *भक्ति* की विचारधारा के माध्यम से राजाओं, पुरोहितों तथा आम जनता को अपनी सौहार्दपूर्ण सामाजिक संबंधों के ढांचे के अन्तर्गत एक साथ लाया जा सका।

राजाओं तथा जमींदारों के बढ़ते संरक्षण के कारण शीघ्र ही *भक्ति* आंदोलन व्यवस्था का एक अंग बन गया। दसवीं सदी सी.ई. में सभी प्रकार के धार्मिक मतभेदों, विरोध तथा सुधार को समाप्त कर दिया गया। अलवार तथा नयनार अब कहीं दिखायी नहीं पड़ते थे। उनका स्थान वैष्णव आचार्यों ने ले लिया जो सभी *ब्राह्मण* थे या फ़िर शैववादी सनातनाचार्य जो धनी भूस्वामी वेल्लला *जाति* से आये थे।

बोध प्रश्न 2

1) मंदिरों को दी जाने वाली राजकीय सहायता के विषय में पांच पंक्तियों में विवरण दीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) किस प्रकार से दक्षिण में *भक्ति* आंदोलन ब्राह्मणवादी धर्म से भिन्न हैं? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.7 तंत्रवाद की उत्पत्ति

ऐसी धार्मिक क्रियायें जिनकी उत्पत्ति गैर आर्य कबीलाई लोगों के अति प्राचीन प्रजनन संस्कारों से हुई थी उनको बाद में चलकर तन्त्रवाद के नाम से जाना गया। इसने न केवल अन्य ''साम्य'' सम्प्रदायों (जैन मत, बौद्ध मत, शैव मत, वैष्णव मत आदि) को प्रभावित किया बल्कि इसका उद्‌भव उन सम्प्रदायों के लिये चुनौती एवं प्रतिक्रिया के रूप में हुआ जिनके अन्तर्गत निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गये थे और जो प्रारम्भिक मध्यकाल के आते आते व्यवस्था का एक अंग बन गये।

8.7.1 तंत्रवाद की कुछ मुख्य विशेषतायें

सभी कबीलाई क्षेत्रों में महिलाओं को उच्च स्थान प्राप्त था। जिस समय से उनको संस्कृत के ग्रंथों में शूद्रों की श्रेणी में रखा जाने लगा तब से अपना परम्परागत अनुष्ठानिक स्तर बनाये रखने के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे तांत्रिक क्रियाओं के साधनों को अपनायें।

तन्त्रवाद में देवियों या देवी माता का महत्व इस कारण से था कि सभी कबीलाई क्षेत्रों में देवी शक्ति या देवी माता के सम्प्रदाय का लोकप्रिय प्रचलन था। इन कबीलाई देवियों का प्रवेश ब्राह्मणवादी धर्म में शक्ति के रूप में, बौद्ध धर्म में तारा तथा जैन धर्म में बहु संख्यक यक्षिणियों के रूप में हुआ। प्रारंभिक मध्यकाल का प्राकृत भाषा का ग्रंथ गौडवाह काली एवं पार्वती देवियों को कोल और सबर कबीलों से संबंधित करता है। शक्ति मतंगी (मतंग कबीले की देवी) और चंडाली (चंडालों की देवी) ने नामों से भी जानी जाती है। गुप्त काल के अंत तक विभिन्न कबिले की देवियों का उच्च सम्प्रदायों में मिलन हो गया। इसी के साथ-साथ जादू वाले संस्कारों और पशु बलि की एक नई रीति भी सम्मिलित हुई। तन्त्रवाद का एक धर्म के रूप में उदय छठी सदी सी.ई. में हुआ और नौवीं सदी में एक शक्तिशाली मत बन गया (तंत्रवाद के बारे में विस्तृत रूप से आप इकाई 16 में पढ़ेंगे)।

इस वास्तविकता के बावजूद प्रारंभिक मध्यकाल में तन्त्रवाद अपने मूल चरित्र को खो चुका था और इसे भी राजाओं, अधिकारियों और उन उच्च वर्गों के द्वारा जिन्होंने इसका संस्कृतिकरण किया, ने संरक्षण प्रदान किया परन्तु फ़िर भी तन्त्रवाद संगठित एवं औपचारिक संरक्षण प्राप्त, ब्राह्मणवादी धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के लिये एक चुनौती बना रहा।

तन्त्रवाद के पुरोहितों ने ब्राह्मणवादी धर्म के दीक्षा वाले संस्कारों को भी चुनौती दी। अगर *ब्राह्मणों* ने अपनी सर्वोच्चता का दावा वैदिक अनुष्ठानों के आधार पर किया तो कबिलाई पुरोहितों ने अपनी जादुई शक्तियों का दावा अपने रहस्यवादी अनुष्ठानों तथा यौवन योग क्रियाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। इस प्रकार तन्त्रवाद ने उन छोटी जातियों और महिलाओं को दीक्षा प्रदान करके जिनको ब्राह्मणिक व्यवस्था ने समाज में निम्न स्थान प्रदान किया था, महत्वपूर्ण सामाजिक लक्ष्य की सेवा की।

तांत्रिक पुरोहितों ने अनेक अनुष्ठानों पर अपने स्वामित्व का दावा किया, जैसे कि वे गूढ़ क्रियाओं और जड़ी बूटियों से न केवल सांप के काटने, कीड़ों मकोंड़ों के काटने और अन्य बीमारियों का इलाज करते थे बल्कि उन्होंने भूत प्रेतों एवं ग्रहों के बुरे प्रभावों को भी दूर करने वाले अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का काम किया। इस प्रकार प्रारंभिक मध्यकाल के तान्त्रिक पुरोहितों ने एक पुरोहित, चिकित्सक, ज्योतिषि एवं पशमन (ओझा) का कार्य किया।

8.7.2 तन्त्रवाद तथा वाममार्गी धर्म

तन्त्रवाद ने बौद्ध मत, जैन मत एवं ब्राह्मणिक विचारधारा में भी प्रवेश किया। प्रारंभिक बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने इन तान्त्रिक क्रियाओं के प्रभाव को अपने सम्प्रदायों पर पड़ने से रोकने

के लिए भरसक प्रयास किया। बौद्ध मत तथा जैन मत ने अपने इतिहास के प्रारंभिक दौर में मूर्ति पूजा, नैतिक मूल्यों को नष्ट करने वाले अनुष्ठानों तथा बलि यज्ञों के विरूद्ध व्यवस्थित ढंग से अभियान चलाया। उन्होंने आत्मा की पवित्रता पर बल दिया क्योंकि इसी से निर्वाण या मुक्ति प्राप्त की जा सकती थी।

महायान मत ने स्वयं को मन्त्रवाले मत या आंध्र प्रदेश के क्षेत्रों में तान्त्रिक प्रक्रियाओं को धारण करते हुए वजयान मत के रूप में विकसित कर लिया। आन्ध्र तथा कलिंग प्रदेशों में तीसरी सदी सी.ई. में लिखे जाने वाले अनेक तांत्रिक ग्रंथों ने वंगा तथा मगध में तन्त्रवाद का प्रसार किया और पाल शासकों के शासन काल में मगध क्षेत्र नालन्दा तान्त्रिक अध्ययन के केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। वजयान तान्त्रिक साहित्य इतना विशाल है कि तिब्बत भाषा में जो साहित्य पाया गया है उसकी नाममात्र की सारिणी तीन खण्डों में संकलित हो गई है।

कॉमन एरा की प्रारंभिक सदियों में जैन धर्म में भी मूर्ति पूजा एवं अनुष्ठानों की रीति प्रकट होने लगी। *पुराणों* और अन्य साहित्य में इस पर बल दिया गया कि आदिनाथ के उपासक शत्रुओं, बीमारियों एवं बुरी आत्माओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। प्रारम्भिक मध्यकाल में तन्त्रवाद ने अन्य धर्मों की भांति जैन धर्म पर भी अपना प्रभाव डाला। फलस्वरूप, जैन धर्म ने यक्षों तथा यक्षियों (तीर्थंकरों के देव एवं देवियां) के लिए देवालयों का निर्माण किया और इसी के साथ कुछ मन्त्रों (जादुई मन्त्र) को विकसित किया जिससे कि उनको तुष्ट किया जा सके। जैन तान्त्रिक ग्रंथों में जिनमें जादूई तथा आश्चर्यचकित तत्वों को शामिल किया गया, तथा उनके पद्मावति, अम्बिका, सिद्धायिका और ज्वालामालिनी जैसी यक्षियों के सम्प्रदाय की भी महिमा की गई। ऐसा विश्वास किया जाता था कि ये यक्षियां अपने भक्तों को दिव्य शक्तियां प्रदान करती थी। जैन धर्म के *यपनिया* सम्प्रदाय ने प्रारम्भिक मध्य काल के कर्नाटक में तान्त्रिक रीति की पूजा का काफ़ी प्रचार किया।

8.8 उत्तर-गुप्तकाल में संस्कृति*

उत्तर-गुप्त काल में भी कला, वास्तुकला, साहित्य और कविता के क्षेत्रों में महान उपलब्धियों को देखा गया। मंदिर-निर्माण की शुरुआत गुप्त काल में हुई, जैसा कि इकाई 2 में संक्षेप में उल्लेख किया गया है। गुप्तोत्तर काल से उत्तर और दक्षिण भारत, दोनों में, मंदिर निर्माण की दक्षता के प्रमाण हमारे समक्ष उपलब्ध हैं। मंदिरों का स्तर, परिणाम और भव्यता भी कई गुना बढ़ गए। वास्तुकला की कई विशेषताएं, जैसे कि भू-चित्र/भू-योजना, पहले की शैलियों से विकसित हुईं। मंदिर की सपाट छत का स्थान अब ऊँची केन्द्रीय मीनार ने ले लिया जिसे *शिखर* के रूप में जाना जाता है। साथ-साथ, अब मुख्य तीर्थ स्थल के साथ सहायक तीर्थ स्थलों पर भी छोटे *शिखर* दृष्टिगोचर होने लगे। *पुराण* साहित्य में परिलक्षित होते पौराणिक हिन्दू धर्म में अक्सर एक मुख्य देवता जैसे कि विष्णु अथवा देवी को परिचारक देवियों या देवों की संगत और मेज़बानी के साथ दर्शाया गया है और यह उनको समर्पित मंदिर परिसरों में प्रतिबिंबित होता है। अतिरिक्त विशेषता के रूप में *शिखर* ने अलंकरण के संदर्भ में प्रयोग के लिए पर्याप्त गुंजाइश प्रदान की। *शिखर* समृद्ध एवं उत्कृष्ट रूप से नक्काशीदार थे तथा मूर्तियों के माध्यम से सुशोभित थे। गुप्त काल से एक और प्रस्थान अथवा बदलाव यह था कि पूजा-उपासना के छोटे स्थलों का स्थान विशालकाय भवनों ने ले लिया और इस प्रकार गुप्तोत्तर काल से हमें मंदिरों के बढ़ते आकार का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

ये मंदिर परिसर कई प्रकार के कार्यों के लिए प्रयुक्त होने लगे। उदारहण स्वरूप, ये राजाओं के राज्याभिषेक तथा जुलूस समारोहों के लिए प्रयुक्त होने लगे, जैसा कि इन

*इस खंड को डॉ. अभिषेक आनन्द ने लिखा है।

मंदिरों की कई मूर्तिकला की पट्टिकाओं के द्वारा दर्शाया गया है। मंदिर शाही सत्ता का प्रतीक भी बन गया, इसलिए राजाओं ने अपनी शक्ति, साम्राज्य और शासन को अभिव्यक्त करने के लिए भव्य एवं बृहत्काय मंदिरों का निर्माण करवाया। दूसरा, अब संपूर्ण *मठों* को मंदिरों के प्रांगन में स्थापित किया जाने लगा, ठीक उस तरह जैसे बौद्ध *संघ* को *स्तूप* के समीप स्थापित किया जाता था। ये *मठ* धार्मिक शिक्षा के केन्द्र बन गए जहाँ *पुराणों, रामायण* और *महाभारत* तथा अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं का पेशेवर आख्यानों द्वारा कथन और वादन किया जाता था।

साहित्य के क्षेत्र में, संस्कृत को प्रदान किया गया संरक्षण जारी रहा। वास्तव में, गुप्तोत्तर काल में शास्त्रीय (Classical) संस्कृत की उत्तमता तथा परिपक्वता को देखा गया। भरवी, कुमारदास एवं दंडित जैसे बड़े पैमाने पर विख्यात कवि और विशाखदत्त जैसे महान नाटककार इस युग में रहते थे। गणित, खगोल विज्ञान और चिकित्सा जैसी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में एक नए सिरे से रुचि के साथ-साथ *मीमांसा* और *न्याय* जैसे दर्शन के अध्ययन के विभिन्न नए विषय इस अवधि में विकसित हुए। सम्राट हर्ष विदवता के उत्कट गुणज्ञ और संरक्षक थे। वे स्वयं एक कवि, नाटककार तथा तीन नाटकों के रचयिता थे। उनके दरबारी-कवि बाणभट्ट ने *हर्षचरित* (हर्ष की जीवनी) एवं *कादम्बरी* की रचना की। उनके दरबार में दूर-दूर से कवि, नाटककार, दार्शनिक व चित्रकार आते थे। उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने प्रसिद्ध कन्नौज सभा का गठन किया था जिसमें अनेक प्रकांड विद्वानों ने भाग लिया था।

समकालीन पौराणिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण योगदान *वंशानुवलियों* अर्थात राजाओं तथा राजवंशों का सूचीबद्ध लेखन है जिसे *इतिहास-पुराण* परंपरा के व्यापक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यह उन लोगों की आलोचना का उत्तर है जो तर्क देते हैं और आरोप लगाते हैं कि प्राचीन भारतीयों में इतिहास की भावना का अभाव था। गुप्तोत्तर राज्यों ने अपना इतिहास स्वयं लिखना आरंभ किया, जिसका प्रमाण राजाओं द्वारा जारी किए गए शिलालेखों, उनकी जीवनीयों (*चरित*-साहित्य) व उनके कालक्रम-संबंधी कृतियों आदि से मिलता है। उदाहरण के लिए, *हर्षचरित* हर्ष के सिंहासन पर विराजमान होने का वर्णन करता है, संध्याकार-नंदिन के *रामचरित* में पाल शासक रामपाल द्वारा कैवर्तों के विद्रोह को कुचलने तथा अपनी सत्ता के पुनःस्थापना का विवरण दिया गया है। इस समय में लोगों की ऐतिहासिक चेतना का एक और प्रमाण उन ग्रंथों से मिलता है जिनका दिनांकन अब युगों/कालचक्रों के आधार पर होने लगा, जैसे कि 606 का हर्ष-युग (Harsh Era of 606)। इन युगों की शुरुआत एक राजा या राजवंश के प्रारंभ से मानी जाती थी, परन्तु इनकी गणना पंचांग-आधारित परंपराओं अथवा खगोलीय पर्यवेक्षणों के आधार पर की जाती थी, जिससे इस युग के लोगों द्वारा समझे गए समय के ऐतिहासिक महत्व का संकेत मिलता है।

8.9 सारांश

इस काल में नये तत्व उभर रहे थे जिन्होंने बाद की शताब्दियों में अधिक निश्चित आकार लिया।

उत्तर गुप्त काल में संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुआ। विस्तृत मंदिर निर्माण कार्य शुरू हुआ और विभिन्न मंदिर निर्माण की शैलियों का निश्चित रूप से गढ़ना शुरू हुआ। इस काल में मंदिरों को बड़ी संख्या में भूमि अनुदान में दी गई जिससे इन परिवर्तनों को सम्पन्न किया गया। इस अवधि में साहित्य का विकास हुआ। वंशावाली और चरित साहित्य उभरा और ये विभिन्न राजवंशों और उनके राजाओं के बारे में जानकारी के स्रोत हैं। अध्ययन के नये क्षेत्र इस अवधि का एक महत्वपूर्ण विकास है।

इस इकाई में आप देख चुके हैं कि *ब्राह्मण* धर्म ने किस प्रकार से अन्य देवताओं के बढ़ते महत्व को स्वीकार किया और किस भांति से लोकप्रिय देवताओं को अपने में मिला लिया। *भक्ति* सम्प्रदाय का उद्भव विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से हुआ और दक्षिण भारत में वह ताकतवर सम्प्रदाय बन गया। इसने *जाति* नियमों की अनदेखी की और *भक्ति* आन्दोलन के अन्तर्गत *ब्राह्मण* धर्म की तुलना में महिलाओं का दर्जा ऊंचा था। इसी काल में देवियों की संख्या में भी विशेषकर तान्त्रिक सम्प्रदाय में वृद्धि हुई। तन्त्रवाद की अनेक क्रियायें अन्य धर्मों में भी प्रवेश कर गई। मध्यकालीन युग में तंत्रवाद एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरा। उपर्युक्त विवरण से उत्तर गुप्त काल की राजनैतिक व्यवस्था के बारे में स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त की जा सकती है। इस काल की कुछ समान विशेषतायें थी। राज-तंत्र उपमहाद्वीप में एक नियमित विशेषता बन गई थी। प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए राज्य के क्षेत्र का एक स्थायी स्तर पर विभाजन किया जाना, एक स्थायी सेना, एक राजस्व व्यवस्था या कर प्रणाली हर राज्य में पाई जाती थी विशेषकर राज्य के केन्द्रीय भाग में लागू थी। परन्तु जब इसकी तुलना मौर्य राजनैतिक व्यवस्था के साथ की जाती है तो हम देखते हैं कि इस काल में राजा की सरकार अपने संपूर्ण क्षेत्र पर उस प्रकार की प्रभावशाली शक्तियाँ तथा नियंत्रण नहीं रखती थी।

8.10 शब्दावली

गण : एक कबीलाई गणतंत्र को गण कहा जाता था जिसका शासन कबीले के उच्च सदस्यों के द्वारा चलाया जाता था न कि राजा के द्वारा।

कुमारमात्य : उच्च अधिकारियों के सामान्य वर्ग को *कुमारमात्य* कहा जाता था।

संधिविग्रहिका : विदेशी मामलों, शांति एवं युद्ध का मंत्री।

दैव्य अधिकार का सिद्धांत : यह वह सिद्धांत है जिसके अनुसार राजा को शासन करने के लिये ईश्वर से शक्ति प्राप्त हुई है।

भुक्ति : उच्चतम प्रशासनिक विभाजन।

सामन्त : सरदार।

भाग : भूमि कर।

सामन्तवाद : एक ऐसी सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था जिसके अन्तर्गत जमींदार तथा किसानों के संबंध भूमि पर आधारित होते हैं और जिसमें जमींदार का यह कर्तव्य है कि उसके भूमि क्षेत्र में रहने वाले लोगों की वह सुरक्षा के दायित्व का निर्वाह करे और इसके बदले में ये निवासी गण अपने जमींदार की आवश्यक समयों पर सैन्य सेवाओं की पूर्ति करते हैं।

अलवार : प्रारम्भिक मध्यकाल के तमिल देश के वैष्णव सन्तों को कहा जाता था तथा उनकी पारम्परिक संख्या 12 थी (छठी सदी से नौंवीं सदी सी.ई. तक)।

भागवत : वासुदेव-कृष्ण का भक्त।

ब्राह्मणवादी धर्म : *ब्राह्मणों* के नेतृत्व में यह एक संहिताबद्ध धर्म है। सिद्धांत रूप से यह सदैव वैदिक अनुष्ठानों की सर्वोच्चता को बनाये रखता है, इसने भक्ति, कबीलाई देवताओं एवं कबीलाई अनुष्ठानों को अपना लिया।

वाममार्गी सम्प्रदाय : वे सभी धर्म जिन्होंने ब्राह्मणवादी धर्म को चुनौती दी, जैसे जैन मत, आजीविका मत आदि।

मुरूगन : प्रारम्भिक तमिलों का यह एक कबिलाई देवता था। तीसरी-चौथी सदियों सी.ई. के आस पास *ब्राह्मणों* ने इसको स्कन्द कार्तिकेय का अवतार बना दिया।

नयनार : तमिल देश के प्रारम्भिक मध्य काल में शैव *भक्ति* सम्प्रदाय के संत थे। इनकी संख्या 63 थी और उनमें से कुछ *भक्ति* गीतों के महान् कवि भी थे।

निर्वाण : वाममागी धर्मों के अनुसार आत्मा की मुक्ति।

पशुपात : शिव या पशुपति के भक्त। इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति उत्तर में हुई और इसकी कुछ विशेषतायें थीं।

शैव मत : ऐसा कोई भी सम्प्रदाय जिसके अनुसार शिव को सर्वोच्च देवता माना जाता हो।

तन्त्रवाद : एक ऐसा धर्म जिसकी उत्पत्ति अनार्य कबीलाई क्षेत्रों में आदिम जनन (प्रजनन) संस्कारों से हुई।

वैष्णव मत : एक ऐसा धर्म जिसमें सर्वोच्च देवता विष्णु हो।

वेलान बेरियावल : यह सम्प्रदाय आदिम तमिल कबीलों के मुरुगन देवता पर केन्द्रित अति प्राचीन आवेगपूर्ण रहस्यवादी सम्प्रदाय था।

यज्ञ : जटिल अनुष्ठान जिनके अन्तर्गत अति खर्चीले पशुओं की बलि देना शामिल था और उत्तर वैदिक काल में प्रचलित था।

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए भाग 8.2।

2) देखिये उपभाग 8.3.3।

बोध प्रश्न 2

1) देखिये उपभाग 8.6.4 ।

2) देखिये उपभाग 8.6.5 और भाग 8.7।

8.12 संदर्भ ग्रंथ

शर्मा, आर. एस. (1980). *इंडियन फ्यूडलिज़्म.* दूसरा ऐडिशन। दिल्ली : मैकमिलन।

शर्मा, आर. एस. (2005). *इंडियाज़ ऐंशियंट पास्ट.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सिंह, उपिंदर (2008). *ए हिस्ट्री ऑफ़ ऐशिंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया : फ्रॉम द स्टोन ऐज़ टू द 12वीं सेन्चुरि.* नई दिल्लीः पियर्सन।

थापर, रोमिला (2002). *पेन्गुईन हिस्टी ऑफ़ अर्ली इंडिया. फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ऐ. डी. 1300.* नई दिल्ली : पेन्गुईन।

इकाई 9 राजपूतों का आविर्भाव*

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 ''राजपूत'' शब्द का अर्थ और महत्त्व

9.2.1 *राजपुत्र* एक सैन्य प्रमुख के रूप में

9.2.2 *राजपुत्र* राजाओं और अधिकारियों के पुत्रों के रूप में

9.2.3 छत्तीस राजपुत्र वंश

9.3 राजपूतों की उत्पत्ति : वाद-विवाद

9.4 राजपूत राज्यों का उदय : त्रिपक्षीय संघर्ष – गुर्जर-प्रतिहारों का उद्भव

9.5 गुर्जर-प्रतिहारों के बाद प्रमुख राजपूत राज्य

9.6 बाद के पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी राजस्थान के राजपूत राज्य

9.7 राजपूत वंशों का प्रसार

9.8 राजपूतों की राजनीतिक और सैन्य प्रणाली

9.9 राजपूती किले/गढ़

9.10 सारांश

9.11 शब्दावली

9.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.13 संदर्भ-ग्रंथ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे –

- राजपूत वंशों और आरंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में उनके उद्भव के बारे में;
- राजपूतों की उत्पत्ति से संबंधित बहस को समझने में और समकालीन स्रोतों के साक्ष्य पर आधारित सच्चाई को जानने में;
- राजपूत कुलों के राजनीतिक और सैन्य चरित्र के बारे में; और
- राजपूत कुलों के सैन्य चरित्र तथा उनके उद्भव और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया के आधार के बारे में।

9.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में राजनीतिक बदलावों को वंशागत बदलावों द्वारा चिह्नित किया गया है। प्रत्येक राजवंश की अपनी वंशावली और कालक्रम है, जो भारत में इसके शासन का प्रतिनिधित्व करता है। प्राचीन भारत में राजनीति की संरचनाओं की पहचान आमतौर पर विद्वानों द्वारा केंद्रीकरण या विकेंद्रीकरण के संदर्भ में की गई है। केंद्रीकृत राजनीति में विकेंद्रीकरण के विपरीत एक राजनीतिक शासन के तहत एक विशाल क्षेत्र पर एकीकृत

* डॉ. रश्मि उपाध्याय, सह-प्राध्यापक, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय।

शासन को निरूपित किया, इसके विपरीत विकेंद्रीकरण केंद्र से दूर क्षेत्रीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता था। राज्य निर्माण, राजनीतिक व्यवस्था, सत्ता की प्रकृति और राजनीतिक नियंत्रण आदि जैसे विषय ऐतिहासिक अध्ययन का विषय रहे हैं। इस इकाई का उद्देश्य क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों के रूप में भारत में राजपूतों के उद्‌भव को पेश करना है, खासकर राजस्थान, गुजरात और मध्य-प्रदेश में।

9.2 ''राजपूत'' शब्द का अर्थ और महत्त्व

''राजपूत'' शब्द संस्कृत मूल (राजा का पुत्र) से लिया गया है। राजपूत शब्द के प्राकृत रूपों को विभिन्न रूप से *रावत, रौता, रॅल, रावल* के नाम से जाना जाता है। 7वीं शताब्दी सी. ई. के बाद से इस शब्द के अर्थ में परिवर्तन ध्यान देने योग्य है क्योंकि ''राजा के बेटे'' के बजाय एक जमींदार के अर्थ में साहित्यिक ग्रंथों में यह इस्तेमाल किया जाने लगा। बाणभट्ट (7वीं शताब्दी सी.ई.) के *हर्षचरित* में इस शब्द का उपयोग एक कुलीन या जमींदार प्रमुख के अर्थ में किया गया है। *कादंबरी* में भी इसका उपयोग कुलीनवंश के व्यक्तियों के लिए किया गया है जिन्हें राजा द्वारा स्थानीय शासकों के रूप में नियुक्त किया जाता था। स्थानीय शासकों की क्षमता में वे स्थानीय रूप से उनके अधीन भूमि के एक बड़े हिस्से पर स्वाभाविक रूप से शासन कर सकते थे और इस प्रकार, उन्होंने राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में सक्रिय भूमिका निभाई। *राजतरंगिणी* में *राजपुत्र* शब्द का प्रयोग केवल एक जमींदार के रूप में किया गया है, जो राजपूतों के 36 कुलों से जन्म लेता है। 36 कुलों का संदर्भ स्पष्ट रूप से 12वीं शताब्दी सी.ई. द्वारा उनके अस्तित्व को दर्शाता है।

यह शब्द 12वीं शताब्दी के बाद से अधिक इस्तेमाल होने लगा। भट्ट भुवनदेव की 12वीं शताब्दी के *अपराजितप्रच्छ* जो एक विशिष्ट सामंती व्यवस्था की रचना का वर्णन करता है, *राजपुत्रों* को संदर्भित करता है, जो सम्पदा रखने वाले छोटे ओहदे के प्रमुखों के एक बड़े हिस्से का गठन करते हैं, उनमें से प्रत्येक एक या एक से अधिक गाँवों का गठन करता है। सत्तारूढ़ अभिजात्यों के बीच, राजपूतों ने एक विस्तृत शृंखला को अंतर्निहित किया जिसमें एक राजा के वास्तविक बेटे से लेकर निचले स्तर के ज़मींदार तक शामिल थे।

9.2.1 *राजपुत्र* एक सैन्य प्रमुख के रूप में

उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती प्रांत में पाई जाने वाली बक्शली पांडुलिपी और इसके बाद 8वीं शताब्दी में सिंध में *चंचनामा* से प्राप्त संदर्भ से भाड़े के सैनिकों के रूप में राजपूतों की उपस्थिति 7वीं शताब्दी सी.ई. से साबित होती है। इस अवधि की सभी पारंपरिक भाट परंपराओं में राजपूतों को घुड़सवारों के रूप में दर्शाया गया है। यह फ़िर से नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के राजपूतों के वंशजों में से एक – प्रतिहारों – ने *हयापति* (''घोड़ों के स्वामी'') की उपाधि धारण करने में गर्व महसूस किया। राजपूतों का सैन्य चरित्र भी *लेखपद्धति* (गुजरात और पश्चिमी मारवाड़ क्षेत्र से दस्तावेजों के नमूनों का एक संग्रह) से परिलक्षित होता है, जो राज्य या अधिपति को सैन्य सेवाओं के बदले में उन्हें भूमि अनुदान प्रदान करने का उल्लेख करता है। सैन्य दायित्व के बारे में उपुर्यक्त ग्रंथ में एक घोषणापत्र में हमें यह विवरण मिलता है कि जब एक राजपूत एक *राणाका* (एक सामंती प्रमुख जो राज्य का प्रतिनिधित्व करता है) से एक जागीर के लिए आवेदन करता है और जब उसे एक गाँव दिया जाता है, तो उसके लिए ना केवल आवश्यक है कि वहाँ कानून और व्यवस्था बनाए रखे बल्कि पुरानी प्रथाओं के अनुसार राजस्व इकट्ठा करना और अपने मुख्यालय में अपने *राणाका* अधिपति की सेवा के लिए

सैनिक (100 पैदल चलने वाले) और 20 घुड़सवारों को प्रस्तुत करना भी आवश्यक था। अपने तत्काल अधिपति *राणाका* को प्रदान की गई सैन्य-सेवा के अलावा, राजपूतों को खेती के लिए उन्हें सौंपी गई भूमि पर नकद और भूमि की फसल, दोनों में राजस्व का भुगतान करने के लिए कहा गया था। निर्दिष्ट समय-सीमा के भीतर राजस्व की राशि का भुगतान किया जाना था। यदि राजपूत ऐसा करने में असफल रहा, तो उसे देर से भुगतान के रूप में लगाए गए ब्याज़ की एक निश्चित राशि के बिना भुगतान नहीं करना था।

9.2.2 *राजपुत्र* राजाओं और अधिकारियों के पुत्रों के रूप में

हालांकि, राजपूतों की स्थिति गहडवालों और चहामानों के तहत विशिष्ट थी, क्योंकि आमतौर पर राजाओं के वास्तविक बेटों को ही यह उपाधि दी जाती थी। वे प्रशासन में विशेष शक्तियों का प्रयोग करते थे जो राजाओं द्वारा उन्हें सौंपे गए जागीर के प्रशासक के रूप में कार्य करते थे। गहडवालों के तहत, उन्हें अलग-अलग प्रतीक चिन्ह के साथ अपने स्वयं के मुहरों का उपयोग करने का एक विशेषाधिकार प्रदान किया गया था, जो गहडवाल शाही मुहर से अलग थी। प्रशासन के मामलों में उनकी गहरी रुचि के कारण चहामानों के तहत कुछ राजपूतों को शाही विशेषाधिकार के साथ संपन्न किया गया था और उन्हें सभी शाही और प्रशासनिक गतिविधियों का प्रभार दिया गया था। वे राज्य करने वाले राजा की सहमति से भूमि और गाँव भी अनुदान दे सकते थे।

चहामान राजकुमारों को उनके व्यक्तिगत भोग के लिए जागीर (*सेज़*) भी दी जाती थी। हालाँकि इन जागीरों को उनकी निजी संपत्ति नहीं माना जाता था, क्योंकि कभी-कभी केंद्र सरकार ने इन जागीरों से राजस्व आवंटित करने की अपनी शक्ति का प्रयोग किया था। भूमि के छोटे हिस्से को आवंटित करने का अधिकार या अपनी आय को राजा की अनुमति के बिना एक धर्मार्थ उद्देश्य के रूप में प्रदान करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था।

हालाँकि, चहमानों के तहत *राजपुत्र* जो राजा के वास्तविक पुत्र नहीं थे, लेकिन केवल शीर्षकधारी थे, राजा और उसके सहायक के सख़्त नियंत्रण और पर्यवेक्षण के तहत जागीर के कार्यों को संचालित करने के लिए सामंती प्रमुख या अधिकारियों के रूप में भी काम करते थे।

9.2.3 छत्तीस राजपूत वंश

लगभग सभी समकालीन ग्रंथों ने 36 वंशों के रूप में राजपूत वंशों की संख्या का उल्लेख किया है। पूरी सूची *पृथ्वीराज रासो, कुमारपालचरित, वर्णरत्नाकर* और *मारवाड़* के एक जैन मंदिर से एक प्राचीन कृति द्वारा प्रदान की गई है।

कर्नल जेम्स टॉड ने उपर्युक्त स्रोतों से वंशों के नामों का अध्ययन किया और भाषायी त्रुटियों को दूर करते हुए अपनी सूची तैयार की।

हालाँकि, मूल साहित्यिक ग्रंथों के साथ उपरोक्त सूची की तुलना से पता चलता है कि टॉड ने विदेशी मूल के जनजातीय समूहों और यहाँ तक कि उन राजपूत वंशों में भी शामिल किया था जो उपु-कुलों के रूप में काफ़ी बाद में उत्पन्न हुए थे।

9.3 राजपूतों की उत्पत्ति : वाद-विवाद

राजपूतों की उत्पत्ति एक रहस्य है। विद्वान शायद ही उनके मूल पर एकमत हों और उनके उद्भव से संबंधित कई प्रकार के विचार चलन में हैं –

1) *अग्निकुल,* राजपूतों की उत्पत्ति : मिथक

चंद्रबरदाई ने अपने *पृथ्वीराज रासो* (12वीं शताब्दी) में उल्लेख किया है कि चालुक्यों, प्रतिहारों, परमारों और चहामानों की उत्पत्ति वशिष्ट के अग्निकुंड से हुई है। रासों के अनुसार, विश्वामित्र, अगस्त्य, वशिष्ठ और अन्य ऋषियों ने माउंट आबू पर एक महान बलिदान शुरू किया। जब दैत्यों ने इसे बाधित किया तो वशिष्ठ ने यज्ञ वेदी में से तीन योद्धाओं, पड़िहारा (प्रतिहारा), सोलंकी और परमार, को अनुक्रम से पैदा किया। भाटवृतांतों में यह भी उल्लेख किया गया है कि निर्मित योद्धाओं में से कोई भी पूरी तरह से राक्षसों को हराने में सफल नहीं हुआ।

राजपूतों के *अग्निकुल* मूल को मानने वाले आधुनिक विद्वान वॉटसन, फोर्ब्स, कैफेल और डी.आर. भंडारकार आदि हैं। प्रतिपाल भाटिया द्वारा राजपूतों के गुर्जर मूल की आलोचना की गई और उनके अनुसार, गुर्जर केवल लोगों का ही नहीं, बल्कि एक देश और सभी लोगों का भी नाम है, जो एक *जाति* या कबीले में रहते थे (भाटिया 1970 : 14)।

हम केवल प्राचीन ग्रंथों में सौर और चंद्र क्षत्रियों के बारे में जानते थे। राजपूतों के सूर्य और चंद्र मूल का उल्लेख *महाभारत* और *पुराणों* में मिलता है। चंदेल परिवार की सबसे प्राचीन परंपरा जो उनके शिलालेखों में उल्लिखित है, चंदेलों की उत्पत्ति चंद्रमा से बताती है, जो उनकी क्षत्रियों की चंद्र *जाति* के रूप में पहचान स्थापित करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत साहित्यिक ग्रंथों के सूर्य और चंद्र क्षत्रियों की अवधारणा को रासों के भाट वर्णन में प्रतिस्थापित किया गया था और प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के दौरान शिलालेखों में *अग्निकुल* मूल के द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था।

2) अन्य मत

बी.एन.एस. यादव ने राजस्थान और गुजरात में राजनीतिक और सामाजिक अव्यवस्था और अराजकता की अवधि के दौरान राजपूत वंशों के उभरने का पता लगाया है, जो विदेशियों के आक्रमणों और बसने की प्रक्रिया से गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद पतनशील अर्थव्यवस्था की विशेषता हो सकती है। उनके अनुसार, बढ़ती सामंती प्रवृत्तियों ने भूमि के साथ अंतरंग रूप से जुड़े सत्तारूढ़ कुलीन वंश के उद्भव के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया। इस पष्ठभूमि से जुड़े हुए उन्होंने 650-750 सी.ई. के दौरान उत्तरी भारत में गुर्जर गुहिलोत, चहामानों, चापस आदि के सैन्य कुलों के उदय का पता लगाया। हालाँकि, स्वतंत्र शासक वंशों के रूप में उनके उदय का पता 8वीं शताब्दी में लगाया जा सकता है, जब पहले राजपूत शासक वंश के रूप में गुर्जर-प्रतिहारों ने उत्तर भारत में कन्नौज और अन्य क्षेत्रों पर अपनी पकड़ स्थापित की।

डी.सी. सरकार आगे कहते हैं कि कल्हाण के राजतरिंगिनी में *राजपुत्र* शब्द का प्रयोग महज जमींदार के अर्थ में किया जाता है। जिन्होंने राजपूतों के 36 कुलों से जन्म का दावा किया। यह इंगित करता है कि 12वीं शताब्दी सी.ई. की शुरुआत तक, ये वंश पहले ही अस्तित्व में आ चुके थे। इस अवधि के दौरान राजपुत्रों ने खुद को एक वर्ग बना लिया है।

3) नवीनतम विचार : प्रक्रियात्मक सिद्धांत

बी.डी. चट्टोपाध्याय एक प्रक्रिया के रूप में राजपूतों के उद्भव की जाँच करते हैं, जो विभिन्न अवधियों और विभिन्न क्षेत्रों में लगभग समान नहीं थी, लेकिन समय और स्थान के संदर्भ में भिन्न थी। उनके अनुसार, उनके उद्भव को वंशवाद के संदर्भ में

नहीं देखा जाना चाहिए। प्रारंभिक मध्ययुगीन साहित्यिक ग्रंथों में राजपुत्र शब्द और वास्तविकता में शिलालेख एक मिश्रित *जाति* का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अल्प भूमि धारक करने वाले प्रमुखों के एक बड़े हिस्से का गठन करती है। कबीले की स्थिति को आमतौर पर प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के दौरान बहुत अधिक माना जाता था, जो वंशानुगत अधिकार-क्षेत्र और प्रशासन की रूढ़िवादी प्रणाली के लिए महत्त्वपूर्ण था। इस प्रकार, कबीले की समकालीन स्थिति *राजतंरिगनी, कुमारपालचरित* और *वर्णरत्नाकर* में वर्णित राजपूत वंशों में शामिल करने की कसौटी थी। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि सभी साहित्यिक ग्रंथों में वर्णित 36 वंशों की सूची भिन्न है। राजनीतिक प्रभुत्व पूरी तरह से प्रमुख कसौटी हो सकता है जो एक कबीले की स्थिति में वृद्धि कर सकती थी। इस प्रकार, यह शायद प्रतिहारों और चहामानों के राजनीतिक प्रमुख के कारण था कि उनका नाम नियमित रूप से सूचियों में बरकरार रखा गया था। उनका सुझाव है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन अभिलेखों में राजपूतों के उद्‌भव की प्रक्रिया को राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास से जोड़ा जा सकता है। स्रोतों के अध्ययन के आधार पर चट्‌टोपाध्याय ने निम्नलिखित घटनाक्रमों का पता लगाया है जो राजपूतों के उद्‌य की प्रक्रिया से सीधे जुड़े थे।

क) **कृषि और प्रादेशिक बस्तियाँ :** नए क्षेत्रों के उपनिवेशीकरण के परिणामस्वरूप कई बस्तियों का विस्तार हुआ और कृषि अर्थव्यवस्था का भी। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के साथ प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थलों की सूची की तुलना और समकालीन शिलालेखों में नए स्थान के नामों की उपस्थिति स्पष्ट रूप से कई बस्तियों में वृद्धि का सुझाव देती है। पश्चिमी और मध्य भारत के शिलालेख भील, पुलिन्दा और सबरा आदिवासी बस्तियों का दमन कर राजपूत शक्ति के प्रादेशिक विस्तार का वे उल्लेख करते हैं। परंपरा के अनुसार, गुहिला साम्राज्य की स्थापना 7वीं शताब्दी में भील बस्तियों पर की गई थी। विस्तार की इसी तरह के गतिविधि को नाड़ोल के चाहमानों के मामलों में पाया जाता है। चाहमानों की मुख्य शाखा की राजधानी शाकंभरी भी उपनिवेशीकरण से पनपी, जो पहले एक वन-भूमि (जंगल देश) थी। चट्‌टोपाध्याय के अनुसार, उस समय में जब राजपूत राजनीतिक व्यवस्था का उदय होने लगा था, तो राजस्थान अपने विभिन्न क्षेत्रों में जनजातीय संगठन के परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़र रहा था।

ख) **क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति में गतिशीलता :** सभी राजपूत वंश उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया से बाहर नहीं निकले। एक आदिवासी पृष्ठभूमि से मेड़ राजपूत स्थिति में पहुँच गए और दूसरे समूह अर्थात् हूणों को भारतीय समाज में आत्मसात् किया और उन्होंने क्षत्रियों का दर्ज़ा हासिल किया। इस प्रकार मेड़ और हूणों को समाहित करने की एक कसौटी क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति में गतिशीलता थी, जो आमतौर पर अधिक प्रचलित थी। अन्य नई उभरते राजसी वंशों के लिए ब्रह्म-क्षात्र एक परिवर्तनकालीन स्थिति थी। चट्‌टोपाध्याय ने कहा कि प्रारंभिक मध्यकाल में ब्रह्म-क्षात्र एक अनिर्णित स्थिति हो सकती थी।

ग) **राजनीतिक श्रेश्ठता :** गुर्जर-प्रतिहार अपने आपको श्रेष्ठों की तरह एकीकृत करने और पश्चिमी भारत में राजनीतिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के बाद गुर्जर के विभिन्न समूहों से उभर कर आये। हालांकि अपने शिलालेखों में, उन्होंने ब्राह्मण, सूर्य, इंद्र में से अपनी उत्पत्ति का दावा किया है ताकि पैतृक सम्मान बरकरार रखा जा सके। एक वंश के मुखिया या शासक परिवारों में वंशावली को सम्मानजनक वंश के साथ जोड़ने की सामान्य प्रवृत्ति थी। ऐसा लगता है कि राजनीतिक प्रतिष्ठा और इसी सामाजिक स्थिति के लिए गतिविधियों के बीच एक निश्चित सह-संबंध मौजूद था।

घ) **सामंती स्थिति से स्वतंत्रता की ओर गतिशीलता** : राजपूत वंशों में से कुछ सामंतों से स्वतंत्र स्थिति में उभरे, जैसा कि वंशावली के दावों से स्पष्ट है। गुजरात के गुर्जर, किश्किंधा और धवगर्त के गुहिला, मेवाड़ के गुहिला, गुजरात और राजस्थान के चहमान सामंतों से स्वतंत्र स्थिति में गतिशीलता के उदाहरण पेश करते हैं। यह परिवर्तन और आरोही गतिशीलता सैन्य शक्ति की वृद्धि का परिणाम थी। राजपूतों का उभरना इस प्रकार मौजूदा पदानुक्रमित राजनीतिक संरचना में अचानक नहीं बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया थी।

ङ) **भूमि वितरण की प्रणाली** : प्रारंभिक राजपूतों के उद्भव की प्रक्रिया अर्थव्यवस्था के स्तर पर भूमि वितरण और प्रादेशिक प्रणाली की कुछ नई विशेषताओं से जुड़ी है। भूमि वितरण की एक विशेषता, जिसका चलन राजस्थान में अधिक प्रतीत होता है। वह राजसी रिश्तेदारों के बीच भूमि का वितरण। यह प्रथा प्रतिहार, चहमानों और गुहिला कुलों के बीच आम थी। ख़ास बात यह थी कि जबकि अन्य सम्पत्ति-भागी स्वतंत्र रूप से अपनी ओर से भूमि नहीं दे सकते थे, वे राजा की स्वीकृति पर निर्भर थे। परिजनों को इस तरह की कोई मंजूरी की आवश्यकता नहीं थी और वे राजा की स्वीकृति के बिना स्वतंत्र रूप से अनुदान दे सकते थे।

च) **किलेबंदी** : राजपूत वंशों ने सैन्य शक्ति को बनाए रखते हुए खुद को मज़बूत किया, जिसमें से एक मुख्य विशेषता किलों/गढ़ों का निर्माण और रखरखाव था। प्रारंभिक मध्यकाल के शिलालेखों में राजस्थान के कई किलों के बारे में उल्लेख है। रक्षा उद्देश्य की सेवा के अलावा किलों ने व्यापक कार्यों को निभाया जैसे की बड़ी भू-संपत्ति और मौजूदा जनसंख्या संरचना के साथ जुड़ाव बनाए रखना। राजस्थान ऐसे दुर्गों का एक उद्गम स्थल था। इस प्रकार किलों ने सत्तारूढ़ वंशों को सुदृढ़ करने की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व किया।

छ) **अंतर-वंशीय संबंध** : सामाजिक संबंधों के स्तर पर, राजपूत वंशों का सुदृढ़ीकरण और राजपूतीकरण की प्रक्रिया वृद्धि का संबंध कबिलों अंतर-कबीले संबंध के बीच विवाहों के तंत्र जाल से था। विवाह तंत्र के माध्यम से बनाए गए अंतर-कबीलाई संबंधों ने कुछ समूहों को सामाजिक वैधता प्रदान की, जिन्होंने पश्चिमी भारत में पर्याप्त राजनीतिक शक्ति हासिल कर ली थी। इन विवाहों से सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों के व्यापक क्षेत्रों में सहयोग हो सकता था। नए कुलों और पहले के कुलों के मान्यता प्राप्त उप-विभाजनों को राजपूती तंत्री में लाया गया था, जिनके विवाह के कुछ मामले स्रोत के रूप में उपलब्ध हैं। राजपूत वंश का, राजपूतों के प्रभुत्व का सुदृढ़ीकरण विभिन्न राज्यों और दरबारों में कबीले के सदस्यों के संचालन और विभिन्न स्तरों पर उनकी राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी के कारण था।

9.4 राजपूत राज्यों का उदय : त्रिपक्षीय संघर्ष– गुर्जर-प्रतिहारों का उद्भव

उत्तर भारत में हर्ष का काल महान राजनीतिक उथल-पुथल का काल था। कन्नौज पर नियंत्रण जो हर्ष की गद्दी थी, विवाद का विषय था। प्रत्येक राजनीतिक शक्ति इस पर कब्ज़े के लिए नज़र रखे हुए थी। प्रमुख राजनीतिक शक्तियाँ जो इस संघर्ष में प्रवेश करती हैं, जिसे आमतौर पर, 'त्रिपक्षीय-संघर्ष' के रूप में जाना जाता है, वे थी गुर्जर-प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट। इस संघर्ष के परिणाम निर्णायक नहीं थे। अस्थायी रूप से प्रतिहार राजा नागभट्ट ने साहसपूर्वक 8वीं शताब्दी सी.ई. में कन्नौज पर कब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार,

प्रतिहारों ने, कन्नौज की विजय के बाद उत्तर में सर्वोच्च शक्ति प्राप्त की। जिन परिस्थितियों ने, प्रतिहार राजा को सत्ता पर ऐसे अनाधिकार नियंत्रण के लिए प्रेरित किया, वे राष्ट्रकूट परिवार में घरेलू आंतरिक विद्रोह थे। यह त्रिपक्षीय संघर्ष गुर्जर-प्रतिहारों की अस्थाई सफलता के साथ समाप्त नहीं हुआ, बल्कि यह नागभट्ट के उत्तराधिकारियों के अंतर्गत जारी रहा। भोज-I की अवधि (लगभग 836-885 सी.ई.), जो कि नागभट्ट का पौत्र था, प्रतिहारों की सत्ता के सुदृढ़ होने का समय था। यह त्रिपक्षीय संघर्ष गुर्जर-प्रतिहारों की अस्थाई सफलता के साथ समाप्त नहीं हुआ, यह प्रतिहारों शक्ति को एकत्र करने का काल था। भोज ने गुर्जर भूमि (जोधपुर या मारवाड़) पर अपना अधिकार बहाल करके अपने परिवार के वर्चस्व को फ़िर से स्थापित किया। 8वीं शताब्दी सी.ई. की शुरुआत में गुर्जर-प्रतिहारों ने उज्जैन में अपनी सत्ता की स्थापना की, जो पश्चिमी मालवा का एक प्रमुख शहरी और राजनीतिक केंद्र था। 10वीं शताब्दी सी.ई. में प्रतिहार वंश के पतन ने उनके स्वयं के सामंती प्रमुखों के लिए स्वतंत्र शक्तियों के रूप में घोषित करने का रास्ता खोल दिया। चालुक्य चंदेल, चहामान, गहडवाल, परमार, कलचूरि और गुहिल में सभी अलग-अलग गुर्जर-प्रतिहारों के सामंत थे, इस प्रकार अलग-अलग राजपूत वंश अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र हो गये।

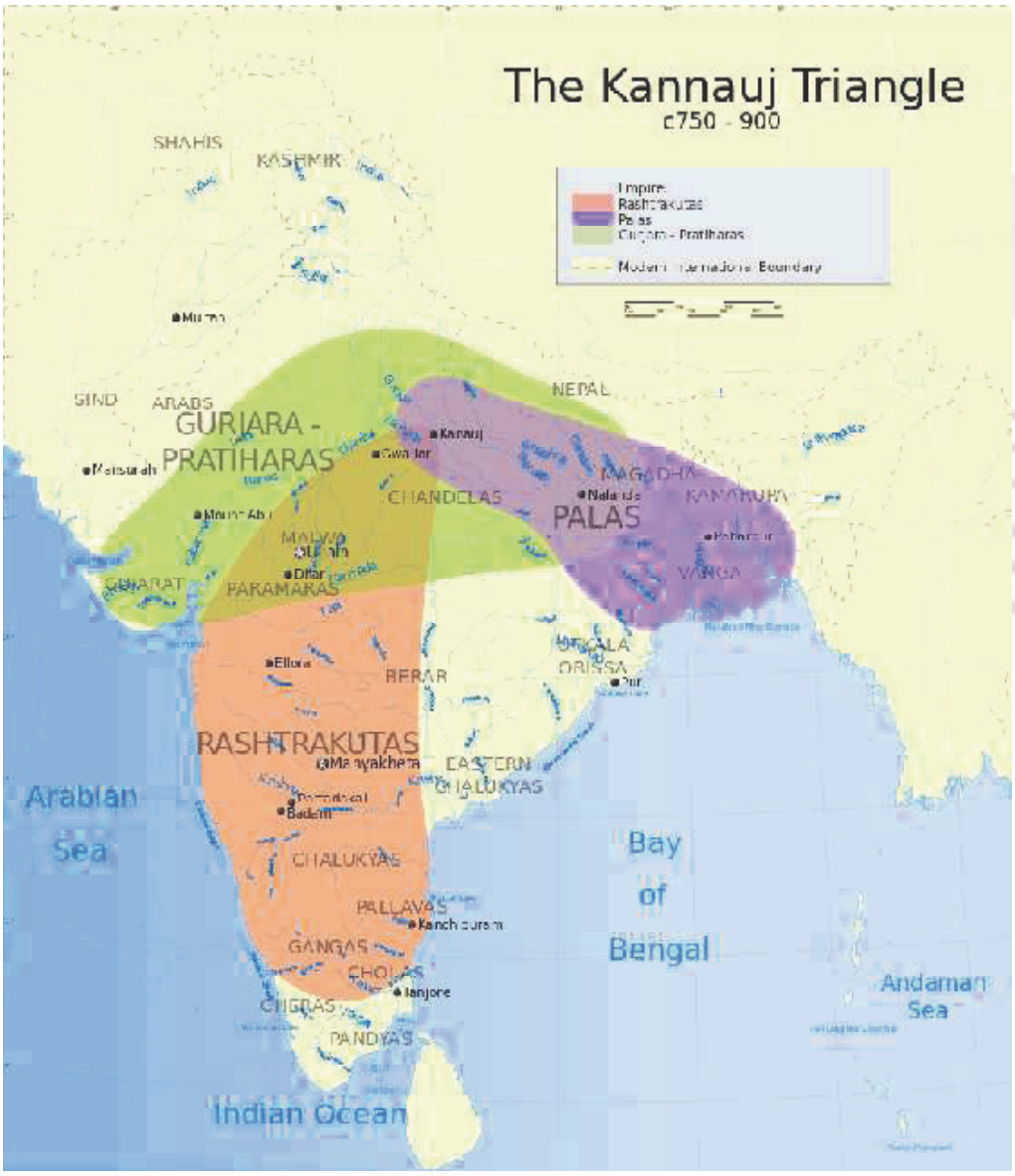

त्रिपक्षीय संघर्ष। श्रेय : w:user:Planemad। स्रोत : विकिमीडिया कॉमन्स (https://upload. wikimedia. org/wikipedia/commons/4/45/Indian_Kanauj_triangle_map.svg)।

बोध प्रश्न 1

1) भारत में प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के दौरान *राजपुत्र* शब्द के अर्थ पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) गुर्जर-प्रतिहार कौन थे? वे स्वतंत्र राजपूत वंश के रूप में कैसे उभरे?

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन-सा कथन गलत है?

i) भाड़े के सैनिक के रूप में राजपुत्रों का पहला संदर्भ बाण के हर्षचरित से आता है। ( )

ii) लेखपद्धति गुजरात और पश्चिमी मारवाड़ के राजपूतों से संबंधित एक स्रोत है। ( )

iii) विभिन्न स्रोतों में छत्तीस कुलों की सूची में वर्णित राजपूत वंशों की नामावलि एक ही है। ( )

iv) पहला स्वतंत्र राजपूत वंश कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों का था। ( )

9.5 गुर्जर-प्रतिहारों के बाद मुख्य राजपूत राज्य

गहड़वाल

गहड़वालों ने 11वीं शताब्दी में कन्नौज पर कब्ज़ा कर लिया। कन्नौज से उन्होंने 1090-1193 के दौरान गांमेय दोआब के प्रमुख हिस्सों पर शासन किया। गहड़वाद राजा जयचंद को, मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा बनारस के राजा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह बनारस शहर के साथ अपने अंतरंग संबंध के कारण, संभवतः भारत में अपने केंद्रीय स्थान के भौगोलिक रूप से इसकी स्थिति और धार्मिक दृष्टि से इसके महत्त्व के कारण है। गहड़वाल की चहमानों के साथ कटु संघर्ष और दुश्मनी थी।

चहमान

गुर्जर-प्रतिहारों के पतन के बाद चहमान प्रमुखता में आए। चहमानों की कई शाखाएँ थी, लेकिन उनमें से कुछ निर्विवाद रूप में अवंती और कन्नौज के प्रतिहारों के सामंत थे। यह एक तथ्य है कि 750-950 सी.ई. के दौरान चहमानों द्वारा शासित अधिकांश क्षेत्र प्रतिहार प्रभुत्व का हिस्सा थे। 973 सी.ई. में वे व्यवहारिक रूप से स्वतंत्र हो गए।

चहमानों की मुख्य शाखा संपादलक्ष या जंगलादेश के चौहानों के रूप में प्रसिद्ध थी। राजा अजयराज द्वारा स्थापित अजयमेरू (आधुनिक अजमेर) शहर उनका राजनीतिक केंद्र और शक्ति का केंद्र था। चहमान राजवंश, जिसके शासक अपने पड़ोसियों के साथ, स्वज़नों के साथ युद्धों में लिप्त थे, तराइन की दूसरी लड़ाई (1192) के साथ ही समाप्त हो गए, जो सबसे बड़े राजा, पृथ्वीराज तृतीय का विनाश लेकर आई। गहड़वालों के अलावा चहमानों के सबसे बड़े शत्रु उनके समकालीन चालुक्य और चंदेल थे।

चंदेल

एक अन्य समकालीन राजनीतिक शक्ति चंदेलों की थी, जो गुर्जर-प्रतिहारों के सामंतों में से एक थे। 10वीं-13वीं शताब्दी सी.ई. के बीच चंदेलों ने मध्य भारत पर शासन किया। उनके क्षेत्र को *जेजाकाभूक्ति* (आधुनिक बुंदेलखंड) के रूप में जाना जाता था। उनका क्षेत्रीय विस्तार समय-समय पर भिन्न होता है। लेकिन महत्त्वपूर्ण स्थान, जो उनके क्षेत्र में शामिल थे, कालाजंद, खजुराहो, महोबा और अजयगढ़ थे।

परमार

एक अन्य समकालीन राजपूत राजनीतिक शक्ति, परमार गुजरात, मालवा और दक्षिणी राजपूताना क्षेत्र में गुर्जर-प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच कटु संघर्ष से उभर कर सामने आए। मालवा के परमारों द्वारा शासित क्षेत्र में समुचित मालवा और आस-पास के जिले शामिल थे। परमार के अधीन प्रभाव के प्रमुख क्षेत्र आधुनिक शहरों उज्जैन, धार, भिलसा, भोजपुर, शेरगढ़, उदयपुर मांडू, देपालपुर में फैले हुए थे।

चालुक्य

गुजरात और काठियावाड़ के क्षेत्र में लगभग 950 सी.ई. में चालुक्य गुर्जर-प्रतिहारों के सामंत थे। इन्द्र तृतीय के आक्रमण के बाद प्रतिहार अशांति और अराजकता का लाभ उठाते हुए और राष्ट्रकूटों के 956-974 सी.ई. के दौरान तेज़ी से पतन का लाभ उठाते हुए कृष्ण तृतीय की मृत्यु के बाद, वे सरस्वती घाटी में, वे अपनी स्वयं की एक रियासत स्थापित करने में सफल हुए। उन्होंने 940-1244 सी.ई. के बीच गुजरात और राजस्थान के कुछ हिस्सों पर शासन किया। उनकी राजधानी अहिलावाड़ा या आधुनिक पाटन थी (बादामी के चालुक्यों पर एक विस्तृत चर्चा इस पाठ्यक्रम की इकाई 6 में की गई है)।

वघेल

वघेलों ने 13वीं शताब्दी के दौरान अन्हिलवाड़ा सहित गुजरात पर शासन किया। उनकी राजधानी ढोलका थी। माउंट आबू के दिलवाड़ा मंदिरों का निर्माण दो वघेला मंत्रियों वास्तुपाल और तेजपाल द्वारा किया गया था।

कलचुरि

कलचुरि, जो गुर्जर-प्रतिहारों की सेवा में सामंतों के रूप में थे, वे अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने में भी नहीं हिचकिचाते थे। उन्हें चेदि या त्रिपुरी के कलचुरि के रूप में भी जाना जाता था। उन्होंने अपनी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर, मध्य-प्रदेश के निकट आधुनिक तेवर) से चेदि क्षेत्र पर शासन किया। पूर्व में कलचुरी शक्ति का केंद्र गोरखपुर था। हालांकि, उन्होंने पूर्व में गहडवालों के उदय के कारण अपनी कुछ शक्ति खो दी थी। बाद में कलचुरियों के अपना मध्य भारतीय प्रभुत्व प्रयाग (प्रयागराज) और वाराणसी (बनारस) के जिलों तक फैला दिया था। विस्तार के अपने प्रयासों में वे, परमारों और पालों के संघर्ष में आ गये।

पार्श्वनाथ मन्दिर, दिलवाड़ा। श्रेय : प्रतीक 321 । स्रोत : विकीपीडिया कॉमन्स (https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/6/65/Dilwara_Prashvantha_Temple_%282%29.jpg)।

गुहिल

गुहिलों ने पहले प्रतिहारों के सामंतों के रूप में कार्य किया। वे 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान मेवाड़ में खुद को स्वतंत्र शासक घोषित करने में सफल रहे। गुहिला शक्ति का अंतिम शासन महाराणा हम्मीर था, जिसने 1303 सी.ई. में रावल रत्नसिंह द्वारा गंवाने के बाद मुसलमानों से चित्तौड़ को वापस ले लिया और इस प्रकार कुछ समय के लिए मेवाड़ के राजवंश के खोए हुए गौरस को फ़िर से जीवित किया। हम्मीर ने चित्तौड़ पर कब्ज़ा कर लिया, चौहानों को बेदखल कर दिया और वहाँ सिसौदिया शासन की नींव रखी। उसके प्रभाव को ग्वालियर, रायसेन, चंदेरी और कालपी, मेवाड़, अंबर और अन्य शासकों ने माना।

कच्छपगात

कच्छपगात पहले गुर्जर-प्रतिहारों के सामंत थे। कन्नौज के शासक को हराने के बाद वे ग्वालियर के किले के स्वामी बन गये। 10वीं और 11वीं शताब्दियों के दौरान, पूर्वी राजपूताना और ग्वालियर निवास का क्षेत्र कच्छपगात की तीन स्वतंत्र शाखाओं द्वारा अधिगृहित किया गया था।

डबकुंड के कच्छवाहा

डबकुंड के कच्छवाहा भी चंदेलों के अधीन थे, क्योंकि इस श्रेणी के शासकों के लिए हम शाही उपाधि नहीं पाते थे।

9.6 बाद के पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी राजस्थान के राजपूत राज्य

मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा पराजित होने के कारण राजपूत वंशों ने राजस्थान की संरक्षित भूमि में शरण पाई। पहाड़ी क्षेत्रों और रेगिस्तानी क्षेत्रों से भरा यह अपने प्रवासियों को प्रचुर मात्रा में सुरक्षा प्रदान कर सकता था। इस प्रकार इस क्षेत्र के भौगोलिक महत्त्व को देखते हुए, पश्चिमी राजस्थान में रवेड़, बाड़मेर, सोजन, मंडोर, जालोर भीनमाल, महेवा, सिरोही और आबू जैसे कई स्थानों पर गुहिला, पंवार, चौहान, सोनीगारा, सोलंकी, परमार और देवड़ा वंशों के राजकुमारों ने अपनी छोटी रिसायतों को बनाया। इस क्षेत्र के कुछ प्रमुख राजपूत वंश इस प्रकार हैं –

राठौड़

उस क्षेत्र के कई गाँवों पर कब्ज़ा करके और अंततः गुहिला वंश के राजा प्रतापसी (1308-1423 सी.ई.) से रवेड़ को हराकर राठौड़ एक राजनीतिक शक्ति बनकर उभरे। बाद में पाली, रवेड़, भद्राजन, कोड़ाना, महेवा (मल्लानी), बाड़मेर, पोखरण, जैतारण, सिवाना और नागपुर जिले के एक बड़े हिस्से और बीकानेर के कुछ हिस्से पर उनका शासन रहा। राव गंगा की मृत्यु की तिथि 1529 सी.ई. तक इन क्षेत्रों पर राठौड शासन जारी रहा।

भट्टी

उत्तर पूर्वी राजस्थान में भट्टियों के राजपूत जनजाति का शाासन था। 12वीं शताब्दी के दौरान, उनकी गतिविधियों का केंद्र जैसलमेर था।

देवड़ा चौहान

भट्टियों की तरह, सिरोही का क्षेत्र चौहान वंश के देवड़ा घराने द्वारा शासित था।

कच्छपगात

कच्छपगातों की एक शाखा ने धूंधर (अम्बेर और बाद में जयपर या सवाईजपुर सहित शेखापटी पर) में अपना शासन स्थापित किया। उन्होंने उस क्षेत्र में स्वतंत्र होने के लिए मीनाओं को खदेड़ा।

9.7 राजपूती वंशों का प्रसार

यह प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के साहित्यिक और शिलालेखीय साक्ष्य से स्पष्ट है, जिसमें एक राजपूत वंश या वंश से संबंधित कुछ सदस्यों का उल्लेख है। प्रसार के संदर्भ में राजपूत राजनीतिक व्यवस्था की संरचना को परिभाषित किया जा सकता है। बाद के चरण में शक्ति के वितरण को नियंत्रित करने वाले कबीलों के साथ आंतरिक संबंधों ने राजपूत राजनीतिक व्यवस्था की संरचना को भी सुदृढ़ किया। छोटे कुलों और प्रमुख वंशों के उपभागों का उद्भव प्रसार का परिणाम था। नये क्षेत्र में एक कबीले के कुछ सदस्यों की गति से उप-कुलों का उदय हुआ। विभिन्न क्षेत्रों में अपनी स्थापना के साथ राजपूत वंशों के प्रसार ने राजपूत शक्ति के विस्तार को आगे बढ़ाया। इस प्रकार इसने राजपूतों के उद्भव की प्रक्रिया को बढ़ाया, जिसे निष्शंक रूप से राजपूतीकरण कहा जा सकता है।

उपकुलों में स्थानीय तत्वों का समावेश भी एक सामान्य घटना थी। आमतौर पर पहले से स्थापित कुल नये स्थापित कुलों के सामाजिक संपर्क में आए और उन्हें एक सामाजिक तंत्र प्रदान किया, जिसने स्वाभाविक रूप से बाद में आने वाले लोगों को मज़बूत किया।

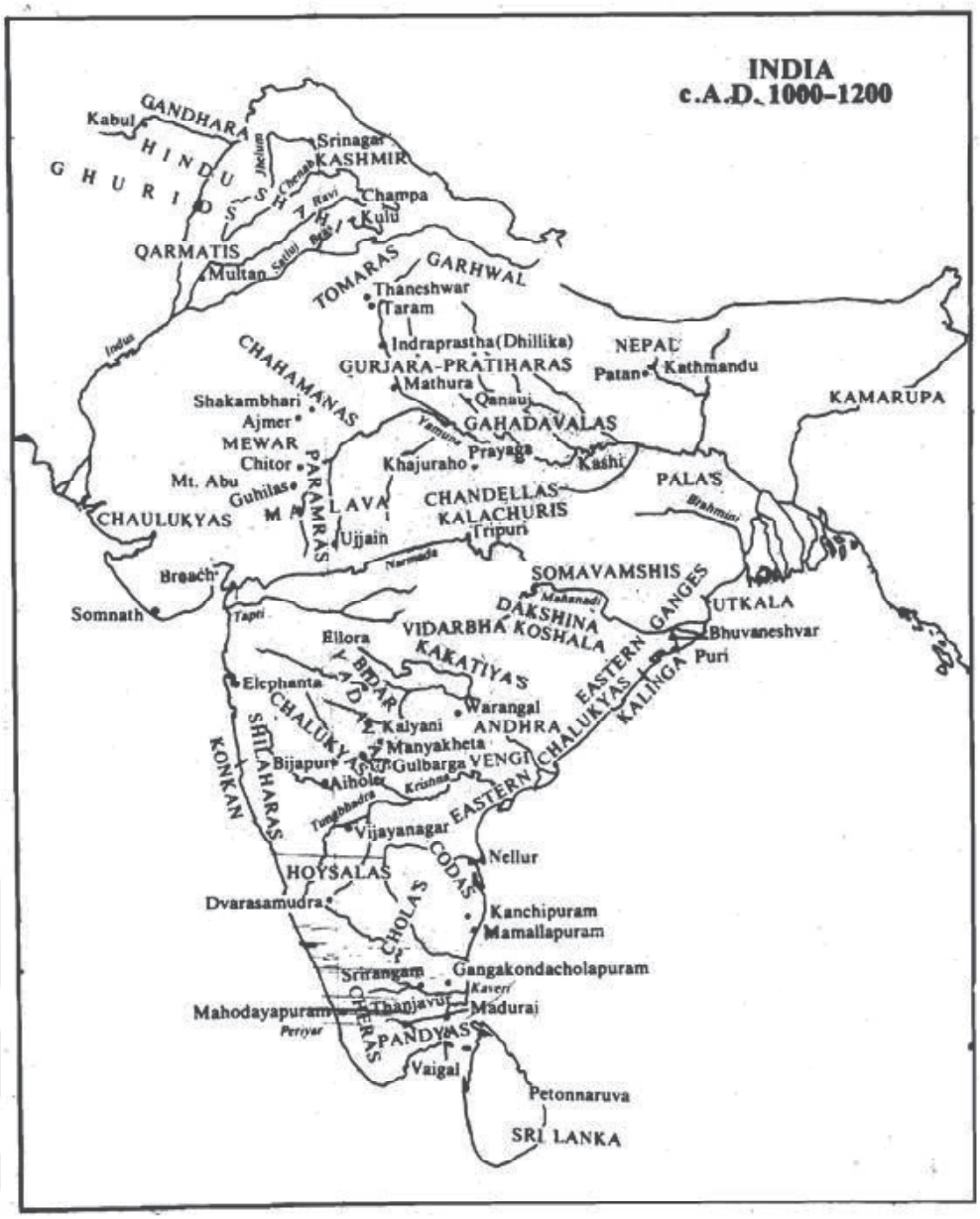

भारत : लगभग 1000-1200 सी.ई.। स्रोत : ई.एच.आई.-03 : भारत 12वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी, खंड-3, इकाई 8: क्षेत्रीय राजनीति का प्रारूप; मानचित्र-1, पृष्ठ 10।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तरी भारत और उनके राज्यों में प्रमुख राजपूत वंशों का पता लगाएं।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजपूतों के प्रसार से आपका क्या अभिप्राय है? चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही या गलत है?

i) सपदालक्ष चहमानों का क्षेत्र था। ( )

ii) भट्टियों ने जैसलमेर के क्षेत्र पर शासन किया। ( )

iii) राजपूतों के उपसमूह प्रसार के माध्यम से अस्तित्व में आए। ( )

iv) परमारों के प्रभाव का प्रमुख क्षेत्र गुजरात का क्षेत्र था। ( )

9.8 राजपूतों की राजनीतिक और सैन्य प्रणाली

वर्चस्व के लिए संघर्ष अंतर-राज्य प्रतिद्वंद्विता का प्रतिनिधित्व करता है। राजा राज्य के सर्वोच्च प्रमुख और समग्र न्यायपालिका, कार्यपालिका और सैन्य प्रशासन का परिचालक था। कुछ हद तक, उन्हें प्रशासनिक मामलों में रानियों द्वारा सहायता प्रदान की गई, जिनका उल्लेख हमारे काल के विभिन्न राजवंशों के अभिलेखों में शामिल है। हालाँकि उनमें से कोई भी किसी प्रशासनिक पद के साथ संलग्न नहीं पायी गई। प्रशासन में उनकी भागीदारी कुछ भूमि-अनुदानों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। वे कभी-कभी राजा की औपचारिक अनुमति के बाद भूमि-अनुदान देते हुए पायी जाती है। मंत्री-परिषद ने राज्य व्यवस्था के सभी महत्त्वपूर्ण मामलों पर एक परामर्शदात्री संस्था के रूप में कार्य किया। मंत्रियों का कार्यकाल आमतौर पर वंशानुगत होता था। अधिकारियों ने अक्सर प्रशासनिक पदों के अलावा सामंती ख़िताबों को भी अपनाया जैसे – *राजपुत्र, ठाकुर, सामंत, महासामंत, रावत* इत्यादि, इसके अलावा प्रशासनिक पद जैसे *महासंधीविग्रहिका दूत, महा-अक्षपातालिका* व अन्य को भी प्राप्त किया। वंशानुगत स्थिति और सामंती ओहदे के संयोजन ने इन अधिकारियों को और अधिक शक्तिशाली बना दिया। प्रादेशिक प्रशासन में *विषय, भुक्ति* और अन्य उपभाग शामिल थे, जो आमतौर पर *मंडलेश्वर, मंडलिका, सामंत, ठाकुर, राणाका, राजपुत्र* आदि के रूप में सत्ता के सामंतों के एक वर्ग द्वारा पूरी तरह शासित होते थे जो ग्राम प्रधानों के अलावा गांवों में प्रशासनिक प्रमुख *पंचकुल* (पंचायत, गाँव में पाँच सदस्यों का एक समूह), *महाजन* और *महात्तार* (गाँव के बुजुर्ग) होते थे। विभिन्न राजपूत वंशों के अंतर्गत विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक अधिकारियों के पद और पदनाम अलग-अलग थे।

किसी भी राजवंश की सैन्य प्रणाली हमेशा अपने राजनीतिक संगठन का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब होती है। राजपूतों की राजनीतिक संरचना का सामंतीकरण उनके सैन्य संगठन में भी हुआ था। सैन्य कार्यों को मुख्य रूप में लगभग सभी राजपूत वंशों द्वारा ही चलाया जाता था। ऐसे प्रमुखों का मुख्य दायित्व युद्ध के समय राजा या संबंधित अधिपति की सेवा करना था। लेखापद्धति, पृथ्वीराज विजय महाकाव्य और समकालीन शिलालेख जैसे साहित्यिक स्रोत राज्य और अधिपति के प्रति सामंतों के ऐसे दायित्वों और कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं। सामंती अधिपतियों जैसे *राजपुत्रों, राणाकों, राउतों, सामंतों,* आदि की व्यक्तिगत परेशानियों

ने पूरी प्रशासनिक व्यवस्था में व्याकुलता पैदा की। शक्तिशाली सामंतों ने राजा की कमज़ोर स्थिति के समय में खुद को स्वतंत्र घोषित करने में कभी संकोच नहीं किया।

राजपूतों की राजनीतिक प्रणाली का चरित्र में नौकरशाही-सह-सामंती के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। रणनीति अपनाने और सामान्य रूप से सैनिकों के संगठन में एकरूपता का अभाव था। विभिन्न वंशीय कुलों में संभवतः अपनी सुविधा के अनुसार युद्ध में अपनी सेना के विभिन्न घटकों को संगठित करने की प्रवृत्ति थी। राजपूत सेना की मुख्य कमज़ोरी तुर्कों के विपरीत सैन्य प्रौद्योगिक के क्षेत्र में उनका पिछड़ापन था, जो घुड़सवार तीरांदाजी और युद्ध में इसका रणनीतिक उपयोग कर रहे थे। हालाँकि, उन्होंने प्रमुख घेराबंदी कार्यों में *मुजनीक* और *अरदास* (घेराबंदी उपकरणों के फ़ारसी नाम) के रूप में जानने वाले यांत्रिक उपकरणों का इस्तेमाल किया, जो दुश्मनों पर अरबों और तुर्कों की भाँति दुर्गों पर भारी पत्थर और प्रक्षेप्य हथियारों द्वारा नुकसान पहुँचाने के लिए चलाए जाते थे। राजपूत शासकों द्वारा किलों की प्राचीर से दुश्मन की सेना पर बमबारी करने के लिए इन उपकरणों का इस्तेमाल किया गया। हिंदुओं को इन उपकरणों के बारे में अरबों और तुर्कों से पता चला था, जो इन उपकरणों का उपयोग करने में ग्रीक और रोमन की नकल करते थे। ग्रीक और रोमन घेराबंदी उपकरण जो कि हिंदुओं और उनके मुस्लिम सलाहकारों जिनमें अरब और तुर्क शामिल थे, द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले उपकरणों के प्रकार थे। उनको *मैंगोनल* और *कैटापुल्ट* का नाम दिया गया था।

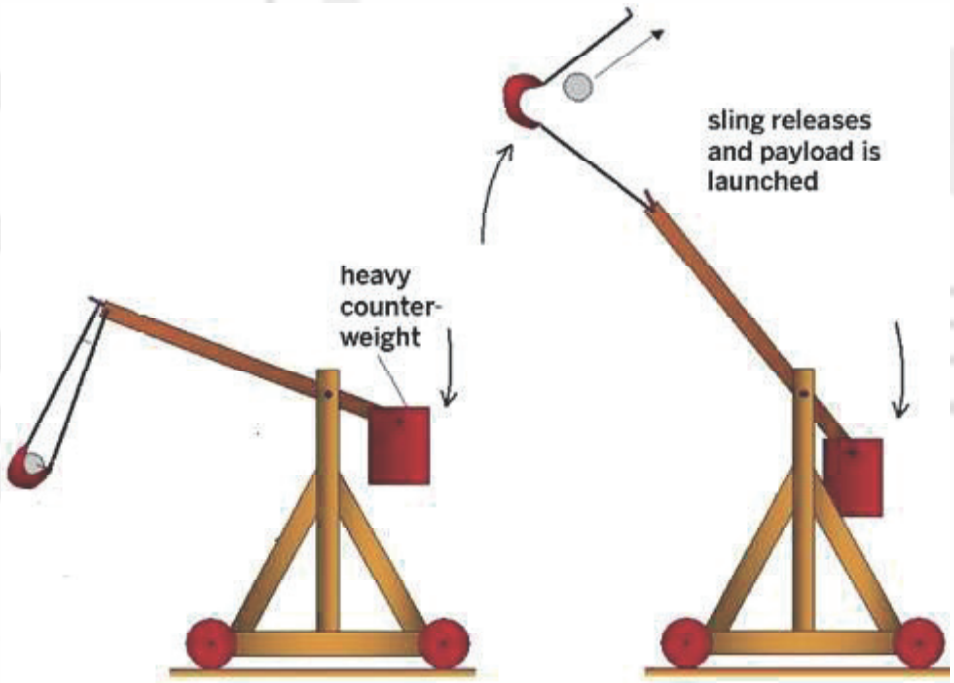

मैनगोनल : पत्थर फेंकने वाला एक प्रकार का ग्रीक उपकरण जिसे राजपूतों और मुसलमानों के साथ-साथ अरबों और तुर्कों ने इस्तेमाल किया।

9.9 राजपूती किले/गढ़

राजपूत शासकों के काल में किलों को एक अपरिहार्य महत्त्व प्राप्त हुआ। इन किलों की भव्यता और अभेद्यता ने मुसलमानों को इन्हें घेरने के लिए आकर्षित किया। इन किलों ने राजपूतों की रक्षा के एक महान् साधन के रूप में सेवा की, क्योंकि वे इन किलों की दीवारों से अपने विरोधियों के साथ लड़े थे। किलों के सामरिक और सैन्य महत्त्व को समझते हुए राजपूत शासकों ने अपनी सैन्य शक्ति को मज़बूत करने के लिए, कई नये किलों का निर्माण

किया। मंडोर के किले का निर्माण मूल रूप से 7वीं शताब्दी सी.ई. के आस-पास प्रतिहारों द्वारा किया गया माना जाता है। राजपूतों के बीच चंदेल कई मज़बूत किलों और गढ़ों के निर्माता थे। चौहान और परमार, दोनों राजस्थान में किलों के उत्कृष्ठ निर्माता थे। उनके द्वारा लगभग सभी बड़े किलों का निर्माण या जीर्णोंद्वार किया गया था। माना जाता है कि मंडालगढ़ के किले का निर्माण अजमेर के चौहान राजा ने संभवतः 13वीं शताब्दी सी.ई. के आस-पास किया था। जोधपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित नागौर का किले का निर्माण पृथ्वीराज तृतीय के पिता चौहान राजा सोमेश्वर के सामंतों में एक ने किया था। परमारों द्वारा निर्मित किले बड़ी संख्या में थे। इसी तरह अचलगढ़ का किला 900 सी.ई. में परमार प्रमुखों द्वारा बनवाया था और 1442 सी.ई. में महाराणा कुंभा ने इसे फ़िर से बनाया था।

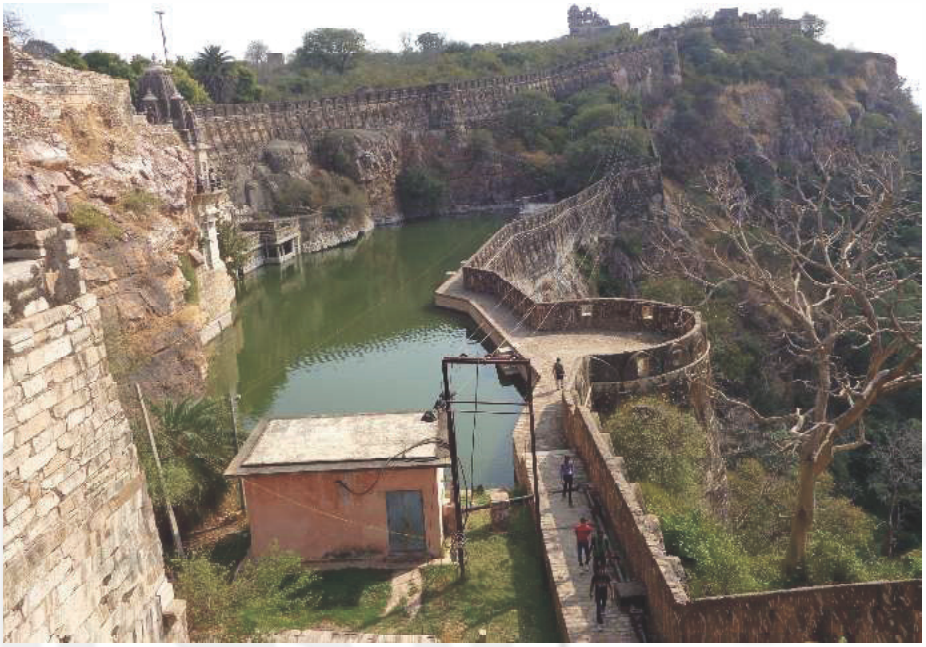

चित्तौड़गढ़ किले का बाहरी दृश्य– सुरक्षा दीवार के रूप में खाई। श्रेय : डॉ. रश्मि उपाध्याय।

रणथम्भौर किला। श्रेय : अमित जे.एल.एस.। स्रोत : विकीमीडिया कॉमन्स (https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/1/1f/Naulakha_gate%2Cranthambor_fort.jpg)।

बोध प्रश्न 3

1) राजपूतों की राजनीतिक और सैन्य प्रणाली की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजपूतों के उद्‌भव के बारे में विभिन्न विचारों पर चर्चा करें। क्या राजपूतों का एक उदय एक प्रक्रिया का परिणाम था?

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही या गलत है

i) विभिन्न क्षेत्रों में राजपूतों का उदय एक आम बात थी। ( )

ii) राजपूतों की राजनीतिक प्रणाली नौकरशाही और सामंतवादी थी ( )

iii) राजपूतों की उत्पत्ति एक ही *जाति* या *वर्ण* से हुई। ( )

iv) आदिवासी पृष्ठभूमि से मेड, राजपूत स्थिति में पहुँच गए। ( )

9.10 सारांश

7-12वीं सदी की राजपूत राजनीतिक व्यवस्था हर्ष की मृत्यु के बाद विभाजित भारत की तस्वीर प्रस्तुत करती है। गुर्जर-प्रतिहारों के पहले राजपूत कबीले, जो पहले उज्जैन में हर्ष के सामंत थे, कन्नौज और उत्तरी भारत में आस-पास के क्षेत्रों पर शासन करने के लिए एक स्वतंत्र राजनीतिक और सैन्य शक्ति के रूप में उभरे। इस प्रकार राजपूतों के उदय में राजनीतिक और सैन्य शक्ति को इस स्तर पर एक प्रमुख सूचक माना गया। दूसरे चरण में मध्य और पश्चिमी भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में गुर्जर-प्रतिहारों के सामंतों के उभरने के साथ-साथ स्वतंत्र कबीले भी सर्वोच्च सैन्य शक्ति के कब्ज़े की उसी प्रवृत्ति को दर्शाते थे, जिसके कारण राजनीतिक और सैन्य रूप से उच्चतर कबीलों की स्वतंत्रता या प्रभुत्व का जन्म हुआ और उन्होंने कम शक्तिशाली कबीलों पर अपना प्रभुत्व जमाया। सामंतों और अधिकारियों के अलग-अलग वर्गों के बीच भूमि का आवंटन या वितरण ज़रूरी तौर पर सामंतों की अलग-अलग श्रेणी के निर्माण में एक कदम था, जो बाद में कुलों या उपकुलों के रूप में सामने आए।

भारत के मध्य और पश्चिमी प्रांतों के विभिन्न हिस्सों में राजपूत वंशों का सुदृढ़ीकरण भी असंख्य अभेद्य किलों की उपस्थिति से परिलक्षित होता है, जो स्पष्ट रूप से उन कुलों की सैन्य ताकत का प्रतिनिधित्व करते थे। विभिन्न कुलों के सदस्यों के बीच विवाह के गठजोड़ द्वारा बनाए गए सामाजिक संबंधों ने कुछ नए उभरे कुलों को एक वैधता प्रदान की।

राजपूतों का उद्‌भव इस प्रकार से हुआ न कि, अग्निकुल और सूर्य और चंद्र वंशीय उत्पत्ति की पौराणिक परंपराओं के अनुसार। इसे प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के संदर्भ में एक प्रक्रिया के रूप में माना जाना चाहिए। बी.डी.चट्‌टोपाध्याय समकालीन साक्ष्यों के प्रकाश में प्रतिविरोध का राजपूतों के उद्‌भव का यह नज़रिया पेश करते हैं। *क्षत्रियों, बाह्मणों* और आदिवासियों सहित कुछ जनजातियों के देशी आबादी के आत्मसात् करने से विभिन्न क्षेत्रों में राजपूतों की उत्पत्ति होती है।

9.11 शब्दावली

राजपुत्र : शाब्दिक रूप से राजा का पुत्र लेकिन सामंतवाद के विकास के साथ इस शब्द का इस्तेमाल जागीर रखने वाले सामंती प्रमुखों के एक वर्ग के लिए किया जाने लगा।

पंचकुल : कस्बों और गाँवों को नियंत्रित करने वाले पाँच सदस्यों की एक समिति।

राणाका : उत्तरी भारत में सामंती प्रमुख का एक शीर्षक।

ठाकुर : उत्तरी भारत में सामंती प्रमुख का एक और शीर्षक।

महाजन : ग्रामीण स्तर पर एक स्थानीय शासकीय निकाय जिसमें उसके प्रमुख सदस्य होते हैं।

अधिपति : सामंती पदानुक्रम में ऊपरवाला सामंती प्रमुख, जिसने सामंती प्रमुखों के निचले स्तर की कमान और नियंत्रण किया।

9.12 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 9.3 और 9.4 देखें।

2) भाग 9.6 देखें।

3) (i) × (ii) √ (iii) × (iv) √

बोध प्रश्न 2

1) भाग 9.7 देखें।

2) भाग 9.9 देखें।

3) (i) √ (ii) √ (iii) √ (iv) ×

बोध प्रश्न 3

1) भाग 9.10 देखें।

2) भाग 9.3 देखें।

3) (i) × (ii) √ (iii) × (iv) √

9.13 संदर्भ ग्रंथ

भाटिया, प्रतिपाल (1970) *द परमारस्* / नई दिल्ली : मुंशी राम मनोहरलाल।

चट्टोपाध्याय, बी. डी. (1998), *''ओरिज़न ऑफ़ द राजपूत्स : द पॉलिटिकल, इकोनोमिक एंड सोशल प्रोसेसेज़ इन अरली मेडिविल राजस्थान''* / मेकिंग ऑफ़ अरली मेडिविल इंडिया, द्वितीय संस्करण। ओ.यू.पी.।

टॉड, जेम्स (1920) *एनल्स एंड एंटीक्वीटीस् ऑफ़ राजस्थान* / विलियम गूक द्वारा संपादित (लंदन : ओ.यू.पी)।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 10 राष्ट्रकूटों का आविर्भाव*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 साम्राज्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

10.3 राष्ट्रकूट साम्राज्य

10.4 साम्राज्य का विघटन

10.5 प्रशासन

10.6 राजनीति, समाज, धर्म और साहित्य

10.7 सारांश

10.8 शब्दावली

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.10 संदर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में, हम राष्ट्रकूट के उत्पत्ति और राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन के बारे में चर्चा करेंगे। तत्पश्चात हम राष्ट्रकूटों के सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक उपलब्धियों के साथ राष्ट्रकूट राज्य के संगठन और प्रकृति का भी पता लगाएंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप इसके बारे में जान पाएंगे :

- 8वीं और 11वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर शासन करने वाले प्रमुख बड़े तथा छोटे राज्य;
- दक्कन में एक प्रमुख शक्ति के रूप में राष्ट्रकूट का उदय;
- राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन की प्रक्रिया और विभिन्न राजाओं का योगदान;
- दक्कन में प्रारंभिक मध्ययुगीन राजनीति और प्रशासन की प्रकृति;
- सामंती राजनीतिक संरचना के महत्वपूर्ण घटक जैसे वैचारिक आधार, नौकरशाही, सेना, नियंत्रण प्रणाली, गाँव आदि; और
- राष्ट्रकूट साम्राज्य में सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, स्थापत्य और सांस्कृतिक विकास।

10.1 प्रस्तावना

भारत में 750 और 1000 सी. ई. के बीच पाल, प्रतिहार और दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट साम्राज्य जैसे तीन शक्तिशाली राज्य दिखाई देते हैं। इन राज्यों ने आधिपत्य स्थापित करने के लिए एक-दूसरे से लड़ाई की। यह प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत की विशेषता थी। इतिहासकार नोबोरू कराशिमा साम्राज्य को एक नए प्रकार के सामंती राज्य के रूप में देखते हैं। ऐसे राज्यों में उन राज्यों के साथ अलगाव और निरंतरता दोनों दिखाई देते हैं जो इन क्षेत्रों में तीसरी शताब्दी में उभरें। राष्ट्रकूट साम्राज्य ने 10वीं शताब्दी के अंत तक

*डॉ. पिन्टू कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सायंकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय।

लगभग 200 वर्षों तक दक्कन पर राज्य किया। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के क्षेत्रों पर भी नियंत्रण किया। तत्कालीन तीनों साम्राज्यों में राष्ट्रकूटों ने सबसे लंबे समय तक राज्य किया। यह न केवल उस समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था, बल्कि आर्थिक और सांस्कृतिक मामलों में भी उत्तर और दक्षिण भारत के बीच एक सेतू की भाँति काम करता था। इसने दक्षिण भारत में उत्तर भारतीय परंपराओं और नीतियों का भी प्रचार और प्रसार किया। गौरतलब है कि भारत ने इस दौर में राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में स्थिरता और उपलब्धियों की नई ऊँचाइयों को छुआ था।

10.2 साम्राज्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

'राष्ट्रकूट' शब्द का अर्थ है राष्ट्र का प्रमुख (विभाग या राज्य)। यह संभव है कि राजाओं की शाखा प्रांतीय अधिकारियों के इस वर्ग से संबंधित थी। क्योंकि कई राजवंशों के शिलालेखों में पदनाम दिखाई देते हैं। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राष्ट्रकूट उच्च अधिकारी, प्रांतीय प्रमुख या दूसरे प्रकार के प्रशासक थे। उदाहरण के लिए, शिवराज के पुत्र राष्ट्रकूट गोविंदराज, जो विग्नपति (याचिकाकर्ता) के रूप में कार्य करते थे। उनका उल्लेख बादामी के चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय के नरवाना शिलालेख में मिलता है। रोमिला थापर भी बताती हैं कि राष्ट्रकूट की मुख्य शाखा के संस्थापक दंतिदुर्ग चालुक्यों के अधीनस्थों में से एक थे और प्रशासन में एक उच्च अधिकारी थे। राष्ट्रकूट और उसकी शाखाओं की उत्पत्ति के बारे में इतिहासकार अभी भी स्पष्ट नहीं हैं। पुराणिक वंशावली की तरह, राष्ट्रकूटों ने भी अपने शिलालेखों में दावा किया कि वे यदुवंश की सात्यकि शाखा (उदाहरण शिलालेख संख्या. IX, X और XXI) और तुंग शाखा (शिलालेख संख्या XXIV, XXV और XXVI) के थे। इतिहासकार नीलकंठ शास्त्री शिलालेखों के अध्ययन के आधार पर बताते हैं कि राष्ट्रकूट कन्नड़ मूल के थे, और उनकी शिलालेखों से पता चलता है कि संस्कृत के व्यापक प्रयोग के बाद भी कन्नड़ उनकी मातृभाषा थी। इसके अलावा, मानक शीर्षक लट्टलूर-पुरवारेश्वर (लट्टलूर शहर के प्रख्यात स्वामी) को मुख्य शाखा और गौण शाखाओं के राष्ट्रकूट राजकुमारों द्वारा ग्रहण किया गया था, जो उनके मूल गृह-स्थान को दर्शाता है। लटालुरा की पहचान हैदराबाद के बीदर जिले के लातूर से की गई है। इस तरह, हम कह सकते हैं कि दक्कन राष्ट्रकूटों का मूल गृह-स्थान था। इसका सामान्य अर्थ है कि महाराष्ट्र और उत्तरी कर्नाटक (कन्नड़ भाषी) के कुछ हिस्सों के साथ वह पूरा क्षेत्र जहाँ तेलुगु लोग रहते थे, राष्ट्रकूटों के अधीन था। राष्ट्रकूट वंश बहादुर योद्धाओं और समर्थ प्रशासकों की लंबी शाखा के लिए प्रसिद्ध थे, जिसने उन्हें एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सहायता की थी। वे प्रतिहार, वेंगी (आधुनिक आंध्र प्रदेश में) के पूर्वी चालुक्य, चोल, कांची के पल्लव और मदुरै के पांड्यों के साथ लगातार लड़ते रहे। पल्लवों का पतन हो रहा था और उनके उत्तराधिकारी चोल राजाओं का उदय हो रहा था। इन राज्यों की दुर्बलताएँ राष्ट्रकूट साम्राज्य की विजय और स्थापना में सहायक बनीं। उत्तर भारत के राजाओं में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह दक्कन के मामलों में हस्तक्षेप कर सके। इससे राष्ट्रकूटों को उभरने का अवसर मिला। रोमिला थापर का तर्क है कि राष्ट्रकूटों की भौगोलिक स्थिति, अर्थात् भारत के मध्य में होने से उनकी उत्तरी और दक्षिणी राजाओं के साथ युद्ध और गठबंधन दोनों में उनकी भागीदारी थी। उसने सभी दिशाओं में साम्राज्य का विस्तार किया। इतिहासकार काराशिमा का तर्क है कि राष्ट्रकूट शक्ति के गठन हेतु महत्वपूर्ण कारकों में से एक कृषि के विकास के लिये अनुकूल मौजूद वातावरण रहा होगा। रोमिला थापर ने भी अनुकूल आर्थिक कारकों की खोज की। उन्होंने उल्लेख किया कि राष्ट्रकूट को पश्चिमी समुद्री तट के एक बड़े हिस्से को नियंत्रित करने का लाभ था। इसलिए, पश्चिम एशिया, विशेष रूप से अरबों के साथ हुए व्यापार के द्वारा अर्जित धन ने राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बल दिया।

10.3 राष्ट्रकूट साम्राज्य

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में भारत के विभिन्न भागों में राष्ट्रकूटों की अनेक शाखाएँ थीं। राष्ट्रकूटों के सबसे पहले ज्ञात शासक-परिवार की स्थापना मन्नक द्वारा मालखेड़ में की गई थी। इसके पास पालिध्वज और गरुड़-लांछन था। एक दूसरा राष्ट्रकूट परिवार मध्य प्रदेश के बैतूल जिले में शासन कर रहा था। गरुड़ मुहर वाले 757 सी.ई. के एंट्रोली-छारोली शिलालेख में चार पीढ़ियों, कर्क प्रथम, उनके बेटे ध्रुव, उनके बेटे गोविंद और उनके बेटे कर्क द्वितीय का उल्लेख है। ये गुजरात के लता देश पर राज्य करने वाली मालखेड़ शाखा की एक सहायक शाखा थी। दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट साम्राज्य के संस्थापक थे। ऐसा लगता है कि वह कर्क II का समकालीन था। मालखेड शाखा के साथ इन राजाओं का सटीक संबंध निश्चितता के साथ तय नहीं किया जा सकता, हालांकि यह संभव है कि 757 सी. ई. के घोषणापत्र का कर्क-I दंतिदुर्ग के दादा का एक समान था राज्य की स्थापना दंतिदुर्ग ने की थी। उसने अपनी राजधानी मान्यखेट अथवा मालखेड़ को बनाया, जो आधुनिक शोलापुर के पास है। राष्ट्रकूटों की मान्यखेट शाखा जल्द ही दूसरी शाखाओं को अपने साथ मिलाकर एक प्रमुख व शाही शाखा बन गयी। हम राष्ट्रकूट राजाओं की एक वंशावली तैयार कर सकते हैं:

दंति-वर्मन
↓
इंद्र प्रथम
↓
गोविन्दराज
↓
कक्क प्रथम
↓
इंद्र द्वितीय
↓
दन्तिदुर्ग (*पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक*)
↓
कृष्णराज प्रथम (*शुभातुंग, अकालवर्ष, राजाधिराज, परमेश्वर*)
↓
गोविंद द्वितीय (*प्रभुत्व* और *विक्रमावलोक*)
↓
ध्रुव (*निरुपम, काली-वल्लभ, धारावर्ष, श्रीवल्लभ*)
गोविंद तृतीय (*जगत्तुंग, कीर्ति-नारायण, जनवल्लभ, त्रिभुवनधवल, प्रभुत्ववर्ष, श्रीवल्लभ*)
↓
अमोघवर्ष प्रथम (सर्व) (*नृपतुंग, अतिशयधवल, महाराज-शंड, वीर-नारायण*)
↓
कृष्ण द्वितीय (*अकालवर्ष* और *शुभातुंग*)
↓
इंद्र तृतीय (*नित्यवर्ष, रट्टकंदर्प, कीर्ति-नारायण, राजमार्तंड*)
↓
अमोघवर्ष द्वितीय
↓
गोविंद चतुर्थ (*सुवर्णवर्ष, प्रभुत्ववर्ष, चाणक्यचतुर्मुख, नृपतित्रिनेत्र, विक्रान्तनारायण*)

↓
अमोघवर्ष तृतीय
↓
कृष्ण तृतीय (*अकालवर्ष*)
↓
खोट्टिग
↓
कर्क द्वितीय

अब हम राष्ट्रकूट की मुख्य शाखा के बारे में जानेंगे। दंतिदुर्ग, एक मज़बूत और सक्षम शासक तथा एक स्थायी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। उनके शासनकाल का सबसे पहला साक्ष्य 742 सी.ई. के एलोरा शिलालेख में *पृथ्वीवल्लभ* और *खड़गावलोक* (वे जिसकी नज़र तलवार की धार की तरह दिखती है) का उल्लेख है। लता और मालव अरब आक्रमण के बाद एक विक्षुब्ध स्थिति में थे और उसका लाभ लेकर दंतिदुर्ग ने प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। दंतिदुर्ग ने पल्लवों की राजधानी कांची पर भी हमला किया और नंदिवर्मन पल्लवमल्ल के साथ गठबंधन किया, जिस पर उन्होंने अपनी बेटी रेवा को शादी में दिया। युद्धप्रिय सम्राट दंतिदुर्ग ने व्यापक चालुक्य साम्राज्य के बाहरी क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया और फ़िर साम्राज्य के मुख्य भाग पर हमला किया और कीर्तिवर्मन को आसानी से हराया। 754 सी.ई. के समनगढ़ शिलालेख में कहा गया है कि दंतिदुर्ग ने बादामी के अंतिम चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन द्वितीय को उखाड़ फेंका और पूर्ण साम्राज्य ग्रहण किया और स्वयं को *पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक* के रूप में वर्णित किया।

दंतिदुर्ग के शासनकाल तक कीर्तिवर्मन ने शासन किया, लेकिन उसका गौरव घटता रहा। दंतिदुर्ग ने अपने राज्य में चार लाख गांवों को शामिल किया, जिसमें संभवतः बादामी के चालुक्य साम्राज्य के आधे से अधिक हिस्से पर उसका आधिपत्य था।

दंतिदुर्ग निः संतान मर गया। इससे कृष्णराज प्रथम, उसके चाचा और परिवार के अन्य सदस्यों के बीच विवाद हो गया। कुछ समय तक सिंहासन पर उसके चाचा का अधिकार था। लेकिन उसकी अलोकप्रियता के कारण कृष्णराज प्रथम ने 756 सी. ई. में आसानी से उसे उखाड़ फेंका। कृष्ण प्रथम के *शुभातुंग* (समृद्धि में उच्च) और *अकालवर्ष* (सदा के लिए) की उपाधि का उल्लेख 772 सी. ई. के कृष्णराज प्रथम के भांडक शिलालेख में मिलता है। नव स्थापित राष्ट्रकूट राज्य का विस्तार कृष्णराज प्रथम के समय सभी दिशाओं में हुआ।

कृष्ण ने इसकी शुरुआत बादामी के चालुक्यों पर आधिपत्य करके की। 772 सी.ई. की भांडक शिलालेख बताते हैं कि कृष्ण के शासनकाल में पूरे मध्यप्रदेश पर अधिकार हो गया था। अन्य शिलालेखों में, कृष्णराज के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने रहप्पा को हराया और *पालिध्वज* और *राजाधिराजपरमेश्वर* की शाही उपाधि प्राप्त की। इतिहासकार शास्त्री रहप्पाओं को लता देश के कक्क द्वितीय बताते हैं, जो राष्ट्रकूट की पहली लता शाखा के अंत का सूचक है। कृष्णराज द्वारा दक्षिणी कोंकण पर भी विजय प्राप्त की गई। कृष्णराज ने गंग साम्राज्य पर आधिपत्य स्थापित करके दक्षिणी दिशा में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। साथ ही उनके पुत्र और युवराज गोविंद ने औपचारिक रूप से उसका आधिपत्य स्वीकार करने के लिए चालुक्य की वेंगी शाखा के विजयादित्य प्रथम को मजबूर किया। इस प्रकार कृष्णराज के शासनकाल में राष्ट्रकूट साम्राज्य को पूरे आधुनिक महाराष्ट्र राज्य, कर्नाटक का एक हिस्सा, व्यावहारिक रूप से पूरे पूर्व हैदराबाद राज्य के पूरे हिस्से में लिया जा सकता है, पूर्व में वेंगी व मध्य प्रदेश के एक बड़े भाग पर उसका वर्चस्व था।

कृष्णराज की मृत्यु 772 सी.ई. और 775 सी.ई. के बीच हुई। उसके बाद उनके पुत्र युवराज गोविंद द्वितीय ने गद्दी संभाली। गोविंद ने अलस शिलालेख में *प्रभुतावर्ष* (विपुल/वर्षा करने वाला) और *विक्रमावलोक* (एक वीरतापूर्ण नज़र वाला व्यक्ति) उपाधि धारण का उल्लेख है। बाद के कुछ अनुदानों में गोविंद का नाम छोड़ दिया गया। यह उनके और उनके छोटे भाई ध्रुव के बीच सिंहासन के लिए गृह युद्ध के कारण हुआ। ध्रुव नासिक और खानदेश के राज्यपाल के रूप में शासन कर रहा था। भाइयों के बीच पहला युद्ध गोविंद के लिए विना*शक*ारी था। तब गोविंद ने कांची के पल्लव शासक, गंग राजा, वेंगी के राजा और मालवा के शासक, जो राष्ट्रकूट के पारंपरिक शत्रु थे, उनके साथ गठबंधन किया। लेकिन एक लड़ाई में वह हार गया और ध्रुव ने संप्रभुता हासिल कर ली। ध्रुव ने *निरुपम* (अप्रतिम), *काली-वल्लभ* (युद्ध के शौकीन), *धारावर्ष* (भारी वर्षा) और *श्रीवल्लभ* (भाग्य का पसंदीदा) की उपाधि धारण की। ध्रुव ने सिंहासन हासिल करने के बाद गृह युद्ध में गोविंद द्वितीय की सहायता करने वाले सभी राजाओं को कड़ी सजा दी। उसने अपने जीवनकाल में अपने छोटे लेकिन योग्य बेटे गोविंद तृतीय को सम्राट बनाया।

गोविंद तृतीय (793-814) सबसे महान राष्ट्रकूट शासकों में से एक थे, जिनके पास *जगत्तुंग* (विश्व में प्रमुख), *कीर्ति-नारायण* (प्रसिद्धि के क्षेत्र में नारायण), *जनवल्लभ* (लोगों का पसंदीदा), *त्रिभुवनदत्त* (तीनों लोकों में शुद्ध), *प्रभुत्व* (प्रचुर वर्षा) और *श्रीवल्लभ* की उपाधियाँ धारण की थीं। उसने सबसे पहले दक्षिण में अपने बड़े भाइयों के विद्रोह को शांत किया। उत्तर में, कन्नौज के नागभट्ट के खिलाफ एक सफल अभियान तथा कोसल, कलिंग वेंगी, दहला और ओड्रका के साथ मालवा पर आधिपत्य किया। गोविंदा तृतीय ने फ़िर से दक्षिण की ओर रूख किया। हमें संजन शिलालेख में पता चलता है कि गोविंद ने केरल को भयभीत कर दिया और पांड्य, चोल राजाओं और पल्लवों को पीछे छोड़ दिया। कर्नाटक के गंगा, जो आधारहीन गए थे, उन्हें जकड़ लिया गया और मौत के घाट उतार दिया गया''। गोविंद का दक्षिण अभियान *दिग्विजय* लगता हैः पड़ोसी शासकों के क्षेत्र में घुसकर, उन्हें अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य करना उसकी उत्कृष्ट शक्ति की पारंपरिक घोषणा के समान थी। अपने पिता की अपेक्षाओं से बेहतर प्रदर्शन करते हुए, कूटनीति और युद्ध के मैदान में अपने कौशल के माध्यम से उसने हिमालय से लेकर केप कोमोरिन तक राष्ट्रकूट साम्राज्य की ख्याति फैलाई। राष्ट्रकूट उसी तरह से अपराजेय हो गए, जैसे श्रीकृष्ण के जन्म के बाद यादव हो गए थे।

गोविंद के उत्तराधिकारी उनके इकलौते पुत्र महाराजा सर्व थे जिन्हें अमोघवर्ष प्रथम (814-878) के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने पिता की तरह ही स्वयं को राष्ट्रकूट सम्राट के रूप में स्थापित किया। अमोघवर्ष ने 68 वर्षों तक शासन किया, लेकिन स्वभाव से, उन्होंने युद्ध से बढ़कर धर्म, साहित्य और वास्तुकला के क्षेत्र में दिग्विजय को प्राथमिकता दी। उन्हें *नृपतातुंग* (राजाओं के बीच अतिशयोक्ति), *अतिशयधवला* (आचरण में अद्भुत रूप से शुद्ध), *महाराजा-शंडा* (महान राजाओं में से सबसे अच्छा), और *वीर-नारायण* (वीर नारायण) जैसी उपाधियाँ दी गईं। वे समकालीन भारत की धार्मिक परंपराओं में रुचि रखते थे और अपना समय जैन भिक्षुओं की संगति और आध्यात्मिक ध्यान में बिताते थे। शिलालेखों में अमोघवर्ष के जैन धर्म के सबसे प्रमुख अनुयायियों में गिना गया। अमोघवर्ष प्रथम केवल एक लेखक ही नहीं था, बल्कि लेखकों का संरक्षक भी था। *आदिपुराण* के लेखक जिनसेन, अमोघवर्ष के जैन उपदे*शक*ों में से एक थे। उन्होंने न केवल जैन धर्म बल्कि *ब्राह्मण* धर्म को भी बढ़ावा दिया और अपनी प्रजा के कल्याण के लिए कई अनुष्ठान भी किए। वह एक महान निर्माता भी थे। शिलालेख संख्या XXIV, XXV, और XXVI में राजधानी शहर मान्यखेट को इन्द्र के शहर जैसा उत्कृष्ट निर्माण करने का उल्लेख मिलता है।

अमोघवर्ष के लंबे शासनकाल में राष्ट्रकूट साम्राज्य के दूर-दराज क्षेत्रों में कई विद्रोह हुए। अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद उनके पुत्र कृष्ण द्वितीय का राज्याभिषेक लगभग 879 सी. ई. में हुई। कृष्ण ने *अकालवर्ष* और *शुभतुंग* की उपाधि धारण की थी। विद्रोहियों पर अंकुश लगाने में वह पूरी तरह सफल नहीं था। उसके शासनकाल की एकमात्र उपलब्धि लता की राजसत्ता की समाप्ति थी। कृष्ण ने वेंगी और चोलों के खिलाफ युद्ध किया। इसमें उसे कुछ नहीं मिला, बल्कि कुछ समय तक आपदा, अपमान और निर्वासन भी झेलना पड़ा। कृष्ण का पुत्र इंद्र तृतीय 915 सी. ई. की शुरुआत में राजा बना। इंद्र के पास *नित्यवर्ष* (निरंतर वर्षा करने वाला), *रत्ताकंदर्प* (रत्त के बीच रहने वाला), *कीर्तिनारायण* और *राजामार्तण्ड* (राजाओं का पुत्र) की उपाधियाँ थीं। अमोघवर्ष के पौत्र इंद्र तृतीय ने साम्राज्य को फ़िर से स्थापित किया। राष्ट्रकूट सेना ने लता और मालवा से लेकर कलपी और कन्नौज तक चढ़ाई की और महिपाल को राजगद्दी से हटाना इंद्र की महत्वपूर्ण सैन्य उपलब्धि थीं। 915 सी. ई. में महिपाल की हार और कन्नौज को हथियाने के बाद, इंद्र तृतीय अपने समय का सबसे शक्तिशाली शासक था। उस समय भारत का दौरा करने वाले अल-मसूदी के अनुसार, राष्ट्रकूट राजा बलहार अथवा वल्लभराज भारत के सबसे महान राजा थे और अधिकांश भारतीय शासकों ने उनकी आधिपत्य को स्वीकार किया और उसके दूतों का सम्मान किया।

इंद्र तृतीय का शासनकाल 927 सी.ई. के उत्तरार्ध से माना जाता है। उसके बाद उसके बेटे अमोघवर्ष द्वितीय ने सिंहासन संभाला। उन्होंने सिलाहार अपराजिता (997 सी. ई.) के भंडाना अनुदान के अनुसार एक वर्ष तक शासन किया। उनके छोटे भाई, महत्वाकांक्षी गोविंद चतुर्थ ने अपना राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम से कराया। गोविंद चतुर्थ के पास *सुवर्णवर्षा* (सोने की वर्षा), *प्रभातवृक्ष, चाणक्यचतुर्मुख, विक्रान्तनारायण* और *नृपति त्रिनेत्र* जैसी उपाधियाँ थीं। वह एक अच्छा राजा नहीं था, उसका जीवन, शासन, और सिंहासन पर अधिग्रहण सामंतों के आक्रोश का कारण बना। सामंत एक क्रांति के लिए एकजुट हो गए, जो गोविंद चतुर्थ की हार और उसे सिंहासन से हटाने के साथ समाप्त हो गया। उसके बाद शाही परिवार के नाम को बचाने के लिए 934-35 सी.ई. में अमोघवर्ष तृतीय को सिंहासन मिला। अमोघवर्ष तृतीय का शासनकाल चार से पाँच वर्षों का था। वे एक सौम्य, शांत और बुद्धिमान राजा थे। वह दृढ़ और धार्मिक थे। उन्होंने *ब्राह्मणों* को कई गाँव देकर और शिव के कई मंदिरों का निर्माण करवा कर राजपरिवार का प्रचार करवाया। उनके पुत्र और युवराज कृष्ण तृतीय ने राज्य के अन्य सभी मामलों को संभाला। एक सैनिक के रूप में उनकी महानता उनके द्वारा किए गए प्रारंभिक युद्धों द्वारा प्रमाणित है जो उन्होंने अपने बहनोई बटुग्गा की ओर से किए। उन्हें वेंगी राज्य में अस्पष्ट संघर्षों में विजय हासिल हुयी। देओली और करहद की शिलालेख (XXIV और XXV) बताती हैं कि कृष्ण तृतीय अपने पिता की मृत्यु के बाद 939 सी. ई. में राजा बने और उन्हें *अकालवर्ष* जैसी विशेष शाही उपाधि दी गई।

कृष्ण तृतीय प्रतिभाशाली शासकों की शाखा में अंतिम थे। वे मालवा के परमारों और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के खिलाफ संघर्ष में लगे हुए थे। उत्तरी अरकॉट जिले के मेलपड़ी में राजा के शिविर से जारी करहद शिलालेख (संख्या XXV) उल्लेख करता हैं कि उन्होंने तंजौर के चोल शासक के खिलाफ सबसे प्रारंभिक लेकिन व्यापक सैन्य विजय हासिल की। उसने कांची के पल्लवों को दबा दिया था। कृष्ण तृतीय ने चोल राजा, परांटक प्रथम को (949) हराया और चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग को नष्ट कर दिया और चोल साम्राज्य को अपने नौकरों के बीच बाँट दिया। फ़िर उन्होंने रामेश्वरम को हराया और वहां विजय का एक स्तंभ स्थापित किया और एक मंदिर बनाया। उनकी मृत्यु के बाद, 966 सी.ई. के उत्तरार्ध तथा 967 सी.ई. के पूर्वार्ध में उनके उत्तराधिकारी सौतेले भाई खोट्टिग के खिलाफ उनके विरोधी एकजुट हो गए। राष्ट्रकूट राजधानी मान्याखेत को 972 सी. ई. में परमार

राजाओं ने बर्खास्त किया, लूटा और जला दिया। सम्राट को मान्यखेट छोड़ने पर मजबूर किया। कर्क द्वितीय खोट्टिग के बाद राजगद्दी पर बैठा परंतु उसे चालुक्य राजा तैल द्वितीय ने उखाड़ फेंका। अपराजित का बंधन अभिलेख (977 सी.ई.) व 1008 सी.ई. का खैरपटन प्लेट बताती है कि तैल द्वितीय, चालुक्य नरेश, ने कर्क को युद्ध में परास्त किया। रट्टराज्य का खात्मा हुआ और राष्ट्रकूट साम्राज्य का अंत हो गया।

10.4 साम्राज्य का विघटन

अहवामल्ला तैलपरासा, राष्ट्रकूट साम्राज्य के सबसे शक्तिशाली सामंतों में से एक था। कृष्ण की मृत्यु के कुछ वर्षों में वह काफ़ी मज़बूत हो गया था। उसने कर्क द्वितीय को उखाड़ फेंका। उसने कल्याणी में पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य की नींव रखी और स्वयं को स्वतंत्र सम्राट के रूप में स्थापित किया। राष्ट्रकूट साम्राज्य के अचानक विघटन के पीछे कई कारण थे। राष्ट्रकूट लगातार प्रतिहारों, चालुक्यों, पल्लवों और पाल राजाओं से संघर्ष करते रहे। ये सभी साम्राज्य एक समान और लगभग एक ही समय के थे। इनके बीच हुए युद्धों के कारण न केवल प्रतिद्वंद्वी शक्तियों का लगभग एक साथ ही पतन हुआ, बल्कि राष्ट्रकूटों के लिये ये संघर्षण का युद्ध साबित हुआ। राष्ट्रकूट साम्राज्य बड़ी संख्या में छोटे और बड़े सामंतों पर आधारित था। इन सामंतों ने इसका फायदा उठाया और छोटे-छोटे राज्यों को स्थापित किया। ये सामंत हमेशा स्वतंत्र होने की आकांक्षा रखते थे। इस कारण उनके और अधिपतियों के बीच अकसर स्थानीय युद्ध होते थे, जो साम्राज्य की शांति को भंग करते थे। अमोघवर्ष ने अपने शासन में अधीनस्थ शासकों द्वारा विद्रोह के खतरे को कभी समाप्त नहीं किया। कृष्ण ने राष्ट्रकूट साम्राज्य को बचाने की प्रक्रिया में इसे जड़ से ही कमजोर बना दिया। उन्होंने बुटुगा और तैल जैसे योद्धाओं, रिश्तेदारों और दोस्तों को उनकी सेवाओं, निष्ठा और बहादुरी के लिए खुले दिल से पुरस्कृत किया और वे साम्राज्य की महान शक्ति बन गए। उदाहरण के लिए, कृष्ण तृतीय ने सामंती विकास को साम्राज्य की स्थिरता के लिए खतरा नहीं माना। उन्होंने साम्राज्य का मुख्य भाग तर्दावाड़ी 1000 अनुंगजीविता (सैन्य जागीर) के रूप में तैल को दे दिया। इनका बोलबाला सीधे साम्राज्य के मुख्य क्षेत्र और सम्राट पर हो गया था। इस तरह कृष्ण एक अच्छे दोस्त थे लेकिन एक बुद्धिमान सम्राट नहीं थे। उनके क्षणिक व्यक्तिगत भावनाओं के कारण उन्हें धोखा मिला। राजनीतिक रूप से यह साम्राज्य के लिए विनाशकारी साबित हुई। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सांमतवाद राष्ट्रकूट राजाओं की शक्ति थी। लेकिन राजाओं के कमजोर होने और सामंतों के प्रभुत्व को रोकने में असमर्थ होने के कारण राष्ट्रकूटों की शक्ति ही उनके पतन का कारण बनी।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़ें और उनके सामने सही या गलत लिखें।

   क) राष्ट्रकूट राज्य प्रतिहारों और पालो से अधिक समय तक जीवित रहा, उसने दो शताब्दियों से अधिक समय तक दक्कन पर शासन किया। ( )

   ख) सभी राष्ट्रकूट राजकुमारों ने *लट्टलूरा-पुरावरेश्वर* की उपाधि धारण की।

   ग) दक्कन राष्ट्रकूटों का मुख्य क्षेत्र था। ( )

   घ) राष्ट्रकूट उच्च अधिकारी या तो प्रांतीय प्रमुख थे या दूसरे प्रकार के प्रशासक थे। ( )

   ङ) राष्ट्रकूट राजाओं ने कृषि के विकास, पश्चिमी समुद्र तट पर नियंत्रण और अरबों के साथ व्यापार द्वारा अपने साम्राज्य की स्थापना और विस्तार किया।

   ( )

2) रिक्त स्थान भरें।

क) राष्ट्रकूट अक्सर अपने समकालीन राज्यों के साथ संघर्ष करते थे जैसेः

.....,.....,.....

3) राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन और विस्तार में पांच अनुकूल कारकों के बारे में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

4) कृष्णराज प्रथम और गोविंद तृतीय ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के विस्तार में कैसे योगदान दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 प्रशासन

राष्ट्रकूट के योद्धा राजाओं ने दक्षिण भारत में एक विशाल साम्राज्य बनाया, जो भारत के उत्तरी भागों को छूता था, जिसमें लगभग साढ़े सात लाख गाँव शामिल थे। राष्ट्रकूटों ने न केवल जीत हासिल की और एक विशाल राज्य का निर्माण किया, पर इसे बनाए भी रखा। यह शक्तिशाली राजतंत्र मूलतः सामंतों द्वारा सहायता प्राप्त साम्राज्य था। दिलचस्प बात यह है कि प्रत्येक राष्ट्रकूट राजा के शासनकाल की परिपक्वता के साथ यह क्षेत्र अधिक सामंती होता गया। इसकी प्रशासन व्यवस्था गुप्त साम्राज्य, उत्तर में हर्ष के राज्य और दक्कन में चालुक्यों के विचारों और प्रथाओं पर आधारित थी। पहले की तरह ही सम्राट प्रशासन का प्रमुख होता था। उसके पास सशस्त्र बलों के प्रधान सेनापति सहित सभी शक्तियाँ थीं। राजा राज्य के कानून और व्यवस्था के रखरखाव के लिए ज़िम्मेदार था। वह अपने परिवार, मंत्रियों, जागीरदारों, सामंतों, अधिकारियों और न्यायकर्ताओं से निष्ठा और आज्ञाकारिता की पूरी उम्मीद करता था। राजा की स्थिति आमतौर पर वंशानुगत थी, लेकिन उत्तराधिकार के बारे में नियम कठोर नहीं थे। अधिकतर बड़ा बेटा उत्तराधिकारी होता था। लेकिन कई उदाहरण ऐसे हैं, जब बड़े बेटे को अपने छोटे भाइयों से लड़ना पड़ता था, और कभी-कभी उनसे हार जाता था। इस प्रकार, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव और गोविंद चतुर्थ ने अपने बड़े भाइयों को पदच्युत कर दिया। राजाओं को आमतौर पर उनके द्वारा चुने गए अग्रणी परिवारों के कई वंशानुगत मंत्रियों से सलाह और मदद मिलती थी। हम नहीं जानते कि उनमें कितने लोग थे और उन्होंने कैसे काम किया। पुरालेखों और साहित्यिक स्रोतों से पता चलता है कि लगभग हर राज्य में एक मुख्यमंत्री, विदेशी मामलों के मंत्री, राजस्व मंत्री, और कोषाध्यक्ष, सशस्त्र बलों के प्रमुख, मुख्य न्यायाधीश और पुरोहित होते थे।

राष्ट्रकूट साम्राज्य में, प्रशासित क्षेत्रों को *राष्ट्र* (प्रांत), *विषय* और *भुक्ति* में विभाजित किया गया था। एक राष्ट्र के प्रमुख को *राष्ट्रपति* या *राज्यपाल* कहा जाता था, जिन्हें कभी-कभी एक जागीरदार राजा का दर्जा और उपाधि मिलती थी। *विषयपति* के अंतर्गत *विषय* अर्थात आधुनिक जिला होता था और *भुक्ति* एक छोटी इकाई थी। राष्ट्रकूट प्रशासन में प्रांतीय राज्यपालों और जिला स्तर के राज्यपालों को क्रमशः *राष्ट्रमहट्टारास,* और *विषयमहट्टारास* कहा जाता है। इन छोटी इकाइयों और उनके प्रशासकों की भूमिका और शक्तियां स्पष्ट नहीं हैं। ऐसा लगता है कि उनका प्राथमिक उद्देश्य भू-राजस्व की प्राप्ति और कुछ ध्यान कानून और व्यवस्था पर देना था। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी अधिकारियों को किराए से मुक्त भूमि का अनुदान दिया जाता था।

सामंतों ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन और प्रशासन में एक आवश्यक भूमिका निभाई। हम जानते हैं कि राष्ट्रकूटों ने कई युद्ध जीते और साम्राज्य का विस्तार किया। यह सामंतों की मदद के बिना संभव नहीं था। गंगा साम्राज्य के सामंत मुख्य रूप से राष्ट्रकूट के अभियानों में अपनी वीरता के लिए जाने जाते थे। राजाओं ने नियमित रूप से अपनी निष्ठा और बहादुरी के लिए इन प्रमुखों को भूमि अनुदान से पुरस्कृत किया। जिसके परिणामस्वरूप सामंतों का शक्तिशाली राजाओं के रूप में उदय हुआ, उदाहरण के लिए, कृष्ण तृतीय के शासनकाल में तैल और गंगा बुटुगा की स्थिति को देखा जा सकता है। शास्त्री ने शिलालेखों के अध्ययन से उल्लेख किया है कि बुटुगा बेल्वोला 300, पुरीगेरे 300, गंगावाड़ी 96000, किसुकद 70, बगनाद 70 और बनवासी 12000 पर शासन कर रहा था। साम्राज्य में प्रशासन क्षेत्र और जागीरदार प्रमुखों द्वारा शासित क्षेत्र शामिल थे। जागीरदारों द्वारा शासित क्षेत्र स्वायत्त थे। लेकिन आंतरिक मामलों के संबंध में उन पर राजा के प्रति वफादारी का दायित्व था। इसमें अधिपति को निश्चित तौर पर सम्मान और सैनिक आपूर्ति देना होता था। जागीरदार या उनके पुत्र विशेष अवसरों पर अधिपति के दरबार में जा सकते थे। कभी-कभी वह अपनी एक पुत्री का विवाह अधिपति या उसके एक पुत्र से कर सकता था।

राष्ट्रकूट राजाओं के पास बड़ी और अच्छी तरह से संगठित पैदल सेना, घुड़सवार सेना और बड़ी संख्या में युद्ध-हाथी थे, जिनका वर्णन अरब यात्रियों के विवरणों में मिलता है। बड़े सशस्त्र बल राजा के दिखावे और शक्ति से संबंधित थे। वे युद्धों के समय में साम्राज्य के रखरखाव और विस्तार के लिए भी आवश्यक थे। राष्ट्रकूट अपनी सेना में अरब, पश्चिम एशिया और मध्य एशिया से बड़ी संख्या में आयात किए गए घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। राष्ट्रकूटों की वास्तविक शक्ति उनके कई किलों से पता चलती है जो विशेष सैनिकों और स्वतंत्र कमांडरों द्वारा बनाए जाते हैं। पैदल सेना में नियमित व अनियमित सैनिक होते थे तथा जागीरदार सरदारों के द्वारा सैनिकों की पूर्ति की जाती थी नियमित सेनाएं अक्सर वंशानुगत होती थीं और कभी-कभी पूरे भारत के विभिन्न क्षेत्रों से लाई जाती थीं। युद्ध के रथों के उपयोग कोई संदर्भ नहीं मिलता।

इन क्षेत्रीय विभाजनों के नीचे गाँव था। गाँव प्रशासन की मूल इकाई थी। ग्राम का प्रशासन ग्राम प्रधान और ग्राम लेखाकार द्वारा किया जाता था। इनके पद सामान्यतः वंशानुगत होते थे। उन्हें किराया-मुक्त भूमि का अनुदान दिया जाता था। महाजन या *ग्राम-महाट्टार* नामक गाँव के बुजुर्ग ग्राम प्रधान की मदद करते थे। राष्ट्रकूट साम्राज्य में, विशेष रूप से कर्नाटक में स्थानीय विद्यालयों, जलाशयों, मंदिरों और सड़कों के प्रबंधन के लिए ग्राम समितियां होती थी जो मुखिया के साथ सहयोग करती थी और इसके लिये उन्हें राजस्व संग्रह का एक विशेष प्रतिशत प्राप्त था। कस्बों में भी ऐसी ही समितियाँ थीं, जिनमें व्यापार संघ के प्रमुख भी जुड़े हुए थे। शहरों और उनके आसपास के क्षेत्रों में कानून और व्यवस्था की ज़िम्मेदारी

कोश्त-पाल अथवा *कोतवाल* की थी। छोटे सरदारों और वंशानुगत तत्वों ने ग्राम समितियों की शक्ति को कमजोर कर दिया। केंद्रीय शासन का उन पर अधिकार और उन्हें नियंत्रित करना मुश्किल हो गया था। इसका मतलब है कि सरकार सामंती हो गई थी।

10.6 राजनीति, समाज, धर्म और साहित्य

राष्ट्रकूट राजाओं ने उपाधि ग्रहण की प्रथा उत्तर भारतीय राजाओं से ली गयी थी। विभिन्न राजाओं द्वारा ली गई उपाधियों *पृथ्वीवल्लभ, खडगावलोक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक, शुभातुंग, जगत्तुंग, अकालवर्ष, राजाधिराजपरमेश्वर, नित्यवर्ष, सुवर्णवर्ष, विक्रमावलोक, निरुपम, श्रीवल्लभ, जनवल्लभ, राजामार्तंड* के माध्यम से राष्ट्रकूट संस्कृति की एक झलक देख सकते हैं। ये *ब्राह्मण*वादी उपाधियाँ और वैदिक यज्ञों का संपन्न करना उत्तर भारतीय प्रथाओं पर आधारित था और अपने शासन को वैध बनाने का एक साधन बन गया था। यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि राष्ट्रकूट राजाओं की शक्ति के अनुरूप उपाधियाँ ग्रहण की जाती थी और पुरानी उपाधियाँ भी प्रयोग में आती थी। राजनीतिक रूप से, उच्च उपाधियां जैसे कि *महाराजाधिराजा, परमेश्वर, परमभाश्कर* आदि को ग्रहण करने में लगे थे। राज्य में उत्कृष्ट सेवा देने के लिए सांमतों को किराया मुक्त भूमि और गांव दिए जाते थे। वे उस राज्य के एकमात्र मालिक होते थे। सामंती आधिपत्य और पराजित शासकों की अधीनता की घोषणा करने का एक दिलचस्प तरीका यह था कि राजधानी शहर के मंदिरों में *द्वारपालका* के रूप में उनकी छवियाँ स्थापित की जाती थीं। उदाहरण स्वरूप गोविंद तृतीय ने लंका के सरदार की दो मूर्तियों को मान्यखेट में स्थित शिव मंदिर के द्वार पर विजयस्तंभ के रूप में स्थापित करवाया। राष्ट्रकूट राजाओं ने भी *ब्राह्मणों* को गाँव दान दिया था, जो *अग्रहार* गाँवों के रूप में जाने जाते थे। गोविंद चतुर्थ ने अपने राज्याभिषेक के समय 400 अग्रहार गाँव बनाए थे। कृष्ण ने अपनी उच्च शाही स्थिति को बनाए रखने के लिये कलाकृतियों के जरिये महान कार्यों में कला का जिसका उत्कृष्ट उदाहरण एलोरा में कैलाश का प्रसिद्ध मंदिर है, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाई। कैलाशनाथ मंदिर एक विशाल चट्टान को काटकर बनाए गए सबसे बड़े मंदिरों में से एक है। यह सार्वभौमिक रूप से पल्लवों से जुड़ी आरंभिक वास्तुकला और मूर्तिकला की शैली उत्कृष्ट उदाहरण है।

राष्ट्रकूटों के समय का समाज *जाति* व्यवस्था के आधार पर अधिक स्तरीकृत हो गया था। सामान्य चार *जाति*यों, यानी *ब्राह्मणों*, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के अलावा, कुछ भेदभाव वाले और अछूत सामाजिक समूह जैसे कि चर्मकार, बढ़ई, बांस-श्रमिक, मछुआरे, धोबी, झाड़ूवाले, चांडाल आदि मौजूद थे। प्रमुख *जाति*यों ने अपने पारंपरिक कर्तव्यों का पालन किया जैसे कि *ब्राह्मण* धार्मिक अनुष्ठानों और शिक्षण के लिए थे, क्षत्रिय प्रशासन और युद्ध में भाग लेने लगे। कृषि गतिविधियों और वाणिज्य में आई गिरावट के कारण वैश्य शूद्रों के समान हो गये थे। इसके साथ ही, कृषि में विस्तार और सेना में भर्ती होने के कारण शूद्रों की स्थिति में काफ़ी सुधार हुआ। महिलाओं की स्थिति तत्कालीन समाज में निम्न नहीं लगती। पुरुषों के साथ महिलाओं ने धार्मिक और प्रशासनिक गतिविधियों में भाग लिया। उत्सव के अवसर पर राजा के घर की महिलाएँ भी दरबार में उपस्थित होती थीं। राजकुमारियों को सरकारी पदों पर भी नियुक्त किया गया था। अमोघवर्ष प्रथम की एक बेटी राष्ट्रकूट राजकुमारी चन्द्रोबल्लभ ने कुछ समय के लिए रायचूर दोआब का संचालन किया। अरब लेखकों के अनुसार, राष्ट्रकूट साम्राज्य में परदा प्रथा नहीं थी। अल्तेकर का कहना है कि विधवा विवाह समाज के उच्च वर्गों में नहीं था, लेकिन पति की संपत्ति में विधवाओं को अधिकार धीरे-धीरे दिया जा रहा था। पुरातत्वविद पंडित विश्वेश्वर नाथ ने शिलालेखों के अध्ययन के माध्यम से निष्कर्ष निकाला है कि समय-समय पर राष्ट्रकूट वंश के राजा शैव, वैष्णव और शक्ति धर्म का पालन करते थे। राष्ट्रकूट राजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता का एक उत्कृष्ट उदाहरण

प्रस्तुत किया। उन्होंने हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम जैसे सभी धर्मों को संरक्षण दिया। उन्होंने किसी को भी उसके धार्मिक विश्वास के लिए नहीं मारा। विभिन्न संप्रदायों के सदस्यों के बीच भी सहिष्णुता दिखाई देती है। ऐसा माना जा सकता है कि दान के द्वारा दैवीय अनुग्रह की प्राप्ति होती है और यह धार्मिक और सामाजिक-धार्मिक गतिविधियों के लिए धन का स्रोत बन गया। भारतीय इतिहास के इस चरण में, दक्षिण के राज्य अधिक से अधिक वैदिक और अगामिक धर्मों से प्रभावित हुये। मंदिर हिंदू देवी-देवताओं, संस्कृति, धर्म, शिक्षा और अनुष्ठानों का केंद्र बन गए। बौद्ध धर्म सबसे कम लोकप्रिय धर्म था। राष्ट्रकूटों के शासन के दौरान मठों की संख्या में काफ़ी गिरावट आई थी। शिलालेख केवल तीन बड़े, सक्रिय और महत्वपूर्ण मठोंः कन्हेरी, कांपिल और डंबल के बारे में बताते हैं। अमोघवर्ष प्रथम, कृष्ण द्वितीय और इंद्र तृतीय जैसे राष्ट्रकूट राजाओं के संरक्षण और कुछ प्रसिद्ध मठ विद्वानों की साहित्यिक और धार्मिक गतिविधियों के कारण जैन धर्म हिंदू धर्म का एक मज़बूत प्रतिद्वंद्वी बना रहा। जैन धर्म के एक महान संरक्षक, अमोघवर्ष प्रथम ने अपने उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय के लिए एक जैन भिक्षु गुणभद्र को अध्यापक नियुक्त किया; कई जैन विद्वानों को संरक्षण दिया और कई जैन मठों को अनुदान दिया। यहां तक कि मुसलमानों का भी स्वागत किया गया और राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा उनके धर्म का प्रचार करने की अनुमति दी गई। इसका मतलब था कि राजनीति और धर्म अलग-अलग थे। धर्म राजा का आवश्यक व्यक्तिगत कर्तव्य था। अमोघवर्ष प्रथम जैन धर्म के कट्टर अनुयायी होते हुए भी हिंदू देवी लक्ष्मी की पूजा करता था। इस अर्थ में, हम कह सकते हैं कि राज्य ज़्यादातर धर्मनिरपेक्ष था।

इतिहासकार ए एस अल्तेकर ने उल्लेख किया है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य में अग्रहार गांवों, जैन और बौद्ध मठ और मंदिर उच्च संस्कृत शिक्षा के केंद्र होते थे। इन संस्थानों ने उच्च तर्क, धार्मिक, साहित्यिक और संस्कृत अध्ययन की विभिन्न शाखाओं में शिक्षा प्रदान की। राष्ट्रकूट राजा भी ऐसे ही विद्वान व्यक्ति थे जैसे अमोघवर्ष ने स्वयं *प्रश्नोत्तररत्नमालिका* छोटी जैन द्वंद्वात्मक रचना लिखी थी। राष्ट्रकूटों द्वारा जारी की गई शिलालेख संस्कृत के व्यापक प्रयोग और उनके दरबार में कई विद्वानों की उपस्थिति को दर्शाती हैं। साम्राज्य में संस्कृत और कन्नड़ शिक्षा के उदार समर्थन और प्रचार ने साहित्य की रचना की और अनुसंधान, तर्क, कला और विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुआ। हलायुध ने कृष्ण तृतीय के दरबार में अपना *कविरहस्य* लिखा। राष्ट्रकूट दरबार में जैन धर्म के उल्लेखनीय संरक्षक थे। अमोघवर्ष के दरबार में कई जैन लेखक थे।

स्वाभाविक रूप से, जैन साहित्य ने इस अवधि में महत्वपूर्ण प्रगति की। उनके आध्यात्मिक उपदे*शक* हरिषेण ने *हरिवंश* की रचना 783 सी.ई. में की थी। लेकिन आदिपुराण, जिसे नौवीं शताब्दी में शुरू किया था; उन्होंने अधूरा छोड़ दिया, उसे 897 सी. ई. में उनके शिष्य गुणचंद्र ने पूरा किया। साकेतायण की *अमोघवृत्तिव्याकरण* की रचना जो व्याकरण से संबंधित है, और वीराचार्य का *गणितसारसंग्रह,* जो गणित पर एक ग्रंथ है, अमोघवर्ष प्रथम के शासनकाल में लिखा गया था। बाद में सोमदेव ने *यशतिलक* और *नीतिवाक्यमित्र* की रचना की। इसके अलावा, कन्नड़ साहित्य को राष्ट्रकूट काल में अपनी शुरुआत और महत्वपूर्ण समृद्धि मिली। अमोघवर्ष स्वयं कन्नड़ में कविताएँ लिखते थे। उनकी रचना *कविराजमर्ग* है। अमोघवर्ष अपने समकालीन कन्नड़ कवियों में श्रीविजय और गुणवर्मन प्रथम का उल्लेख करते हैं। कुछ रचनाएँ वेमुलवाड के चालुक्यों के दरबार में लिखी गईं। वे राष्ट्रकूटों के सामंत थे,

पंप प्रथम, सबसे प्रसिद्ध कन्नड़ कवियों में से एक थे। उन्होंने *आदिपुराण* और *विक्रमार्जुनविजय* लिखा। इन ग्रंथों में इंद्र तृतीय के उत्तरी अभियान के बारे में बहुमूल्य जानकारी मिलती हैं।

पोन्न, *शांतिपुराण* के लेखक थे। वे इस काल के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं। संस्कृत और कन्नड़ दोनों में उनकी दक्षता के कारण कृष्ण तृतीय से उन्हें *उभयकविचक्रवर्तिन* का खिताब मिला। गंगावाड़ी के नरासिंह द्वितीय के मंत्री चामुंडाराज ने गद्य में *चौमुंडर्यपुराण* की रचना की। *अजितपुराण* और *गदायुद्ध* के लेखक रन्न उनसे छोटे और उनके समकालीन थे। अल्तेकर बताते हैं कि इस अवधि में अधिकांश कन्नड़ लेखक जैन थे। यह शिक्षाविदों के क्षेत्र में धार्मिक सहयोग और सहिष्णुता की दिशा में एक आवश्यक कदम था। जनता को उपदेश देने के लिए मातृभाषा आवश्यक थी, इसके कारण बड़े पैमाने पर मातृभाषा में साहित्य लिखा जाने लगा।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही या गलत है?

   क) राष्ट्रकूट साम्राज्य में प्रशासन की प्रणाली गुप्त साम्राज्य, हर्ष और चालुक्यों के विचारों और प्रथाओं पर आधारित थी। ( )

   ख) राष्ट्रकूट प्रशासन में प्रांतीय नियंत्रकों और जिला स्तर के नियंत्रकों को क्रमशः *राष्ट्रमहट्टारस* और *विषयमहट्टारस* नामक सहायकों के एक निकाय द्वारा सहायता प्रदान की गई। ( )

   ग) राष्ट्रकूट साम्राज्य में, केवल सीधे प्रशासन वाले क्षेत्र थे। ( )

   घ) राष्ट्रकूट अपनी सेना में अरब, पश्चिम एशिया और मध्य एशिया से बड़ी संख्या में लाए घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। ( )

2) राष्ट्रकूट साम्राज्य की केंद्रीय प्रशासनिक इकाइयों की सूची बताइए।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

3) सूची अ में कन्नड़ लेखकों और सूची ब में उनकी पुस्तकें दी गई हैं। उनका सही मिलान कीजिए।

सूची- अ	सूची- ब
1) अमोघवर्ष प्रथम	क) *कविराजमार्ग*
2) पंप प्रथम	ख) *शांतिपुराण*
3) पोन्न	ग) *अजितपुराण* और *गदायुध*
4) चामुंडराज	घ) *चामुंडर्यपुराण*
5) रन्न	ङ) *आदिपुराण* और *विक्रमार्जुनीय*

4) राष्ट्रकूटों की धार्मिक नीति का वर्णन कीजिए।

   .....

   .....

10.7 सारांश

राष्ट्रकूट का इतिहास, भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण माना जाता है। बादामी के चालुक्यों के पतन से लेकर कल्याणी में तैल द्वितीय के तहत चालुक्य सत्ता के पुनरुद्धार में तकरीबन दो शताब्दियाँ लगीं। इस लंबे अंतराल के दौरान दन्तिदुर्ग द्वारा शुरू की गई राष्ट्रकूटों की शाखा पश्चिमी दक्कन पर शासन करती रही। उनका सीधा शासन सीमित क्षेत्र तक था। तमिल शिलालेखों में उस क्षेत्र को रत्तापदी साढ़े सात लाख कहा जाता है। उत्तर में राष्ट्रकूटों ने प्रतिहार और पाल शासकों को युद्ध में हराया और परमार उनके जागीरदार बन गए। दक्षिण में, गंगा देश कई वर्षों तक राष्ट्रकूटों के अधीन था और चोल साम्राज्य के प्रभुत्व को काफ़ी नुकसान हुआ। दक्कन के पूर्वी भाग में, राष्ट्रकूटों ने वेंगी के चालुक्यों को नियंत्रण में लाने की कोशिश की। कई युद्धों के कारण राज्य के संसाधन क्षीण हो गए। तत्पश्चात सामंती परिस्थितियों का जन्म हुआ और पराक्रमी जागीरदारों की वृद्धि हुई। इन्होंने राज्य की शांति भंग की और अंततः राष्ट्रकूट सत्ता को उखाड़ फेंका। राष्ट्रकूट साम्राज्य की कला, वास्तुकला, धर्म और साहित्य का भारत की विरासत में एक प्रमुख स्थान है। कृष्ण प्रथम का कैलाश मंदिर एक असाधारण वास्तुकला है। राष्ट्रकूट साम्राज्य में हिंदू और जैन का धार्मिक सद्भाव समृद्ध हुआ। इस युग में, कन्नड़ दक्षिण भारत की महत्वपूर्ण भाषाओं में से एक थी। विदेशी यात्रियों ने अपने विवरणों में राष्ट्रकूट साम्राज्य के प्रशासन की प्रशंसा की।

10.8 शब्दावली

पालिध्वज : शाही झंडा

परमेश्वर : शिव का भक्त

अनुंगजीवित : असाधारण सैन्य सेवा के लिए पुरस्कार

राष्ट्रमहट्टारस : प्रांत का अधिकारी

अग्रहार : *ब्राह्मण* गाँव

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (क) सही (ख) सही (ग) सही (घ) सही

2) प्रतिहार, पाल, चोल, पल्लव, पूर्वी चालुक्य

3) भाग 10.3 देखें।

4) भाग 10.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) (क) सही (ख) सही (ग) गलत (घ) सही

2) बुटुगा और तैल, भाग 10.5 देखें।

3) (1) क (2) ङ (3) ख (4) घ (5) ग

4) भाग 10.6 देखें।

10.10 संदर्भ ग्रन्थ

अल्तेकर, ए.एस. 1934. *राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स.* पूनाः ओरिएंटल बुक एजेंसी।

कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. *ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन.* नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

महालिंगम, टी. वी. 1955. *साउथ इंडियन पॉलिटी.* मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।

मिश्रा, जयश्री 1993. *सोशल एण्ड इकोनॉमिक कंडीशंस अंडर द इंपीरियल राष्ट्रकूटाज़ लगभग 750-973 ए.डी.* संयुक्त राज्य अमेरिकाः राष्ट्रमंडल प्रकाशन।

शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. *हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर.* लंदनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

शर्मा, आर. एस. 2008. *इंडियन फ्यूडलिज़्म.* नई दिल्लीः लक्ष्मी प्रकाशन।

थापर, रोमिला. 2002. *द पेंग्विन हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इंडियाः फ्रॉम द ऑरिजिन्स टू 1300 ए.डी.* दिल्लीः पेंगुइन बुक्स।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 11 अरब : हमले एवं विस्तार*

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 7वीं-8वीं शताब्दी में इस्लाम का उदय और प्रसार

11.3 *चचनामा*

11.4 सिंध पर विजय

11.5 अरब प्रशासन

11.6 सिंध पर विजय : बग़ैर परिणामों की जीत?

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.10 संदर्भ.ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रारंभिक मध्यकालीन युग में अरब से विदेशी हमलों को समझने के लिए पृष्ठभूमि को जान सकेंगे;
- अरबियों की सिंध पर विजय के स्रोतों को जान सकेंगे;
- अरबियों द्वारा सिंध पर विजय करने के कारणों को जान सकेंगे;
- सिंध पर विकास के चरण;
- सिंध विजय के औपनिवेशिक स्वरूप को जान सकेंगे; और
- अरब और भारतीय संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक सम्मिश्रण को जान सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

अभी तक की इकाइयों में हमने प्राचीन भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक पहलुओं के विषय में पढ़ा है। उस काल की विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर इतिहासकार इसे प्राचीनकालीन इतिहास कहते हैं। इसी प्रकार, इसके बाद आने वाले काल की अपनी विशिष्ट विशेषताएँ थीं, जिनके कारण उसे मध्यकाल कहते हैं। पश्चिम एशिया में इस्लाम का उदय और विश्वभर में मुस्लिम विजय प्रारंभिक मध्यकाल की विशेषता है। इस इकाई में हम भारतीय उपमहाद्वीप में एक ही परस्पर संबंधित विकास का अध्ययन करेंगे। यह भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में अरबों की सिंध पर विजय है।

भारतीय इतिहास में प्रारंभिक मध्यकाल

प्रारंभिक मध्यकाल प्राचीन से मध्यकालीन युग में संक्रमण का चरण है। उत्तर भारत के संबंध में, सल्तनत चरण से पहले का काल प्रारंभिक मध्यकाल कहलाता है। अनेक

*डॉ. जया प्रियदर्शिनी, इतिहास अध्ययन केन्द्र से पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

इतिहासकार इसे उत्तर-गुप्तकाल भी कहते हैं। यह भारतीय इतिहास में भिन्न कालक्रम रचना को बताता है जिसकी अपनी विशेषताएँ थीं जो इसके पहले अथवा बाद के चरणों में नहीं पाई जाती थीं। अकादमिक क्षेत्रों में ऐसे शब्दों के उपयोग की उत्पत्ति अपेक्षाकृत नई है। इसके उपयोग से पहले, मध्यकाल को अधिकतर भारत पर विदेशी अथवा मुस्लिम हमलों और शासन के संदर्भ में समझा जाता था। लेकिन मध्यकालीन भारतीय इतिहास में गहराई से सूक्ष्म अध्ययनों द्वारा यह पता चला कि इस क्षेत्र में पाई जाने वाली विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं को एक शब्द ''मध्यकाल'' के अंतर्गत एक साथ इकट्ठा नहीं रखा जा सकता है। आरंभ में, निहाररंजन रे ने मध्यकालवाद का एक बहु-आयामी चरित्र-चित्रण करने का प्रयास किया था। उन्होंने मध्यकाल में तीन उप-कालों पर विचार किया था, जो हैं :

i) 7वीं से 12वीं शताब्दी

ii) 13वीं से 16वीं शताब्दी के आरंभिक 25 वर्ष तक

iii) 16वीं शताब्दी के प्रथम एक-चौथाई भाग से 18वीं शताब्दी के अंत तक

बी.डी. चट्टोपाध्याय जैसे इतिहासकारों के अनुसार, इतिहास की काल अवधियाँ सांस्कृतिक रूप से इतनी विविध होती हैं कि उन्हें आसानी से एक साथ श्रेणीकृत नहीं किया जा सकता है। इसलिए, इन उप-कालों को भी भिन्न कालों में विभाजित किया जा सकता है। जिनकी अपनी विशिष्ट विशेषताएँ हैं। इस तर्क के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उत्तर-गुप्तकाल या प्रारंभिक मध्यकाल में भी अपनी विलक्षणताओं के साथ विभिन्न चरण थे। उदाहरण के लिए, 7वीं से 10वीं और 10वीं से 12वीं शताब्दियों को भिन्न आधारों पर विभेदित किया जा सकता है। एक ऐसा आधार 8वीं शताब्दी में अरबों की सिंध पर विजय अथवा 10वीं से 12वीं शताब्दियों के बीच उत्तर भारत में तुर्कों के हमलों का बढ़ना था।

11.2 7वीं-8वीं शताब्दी में इस्लाम का उदय और प्रसार

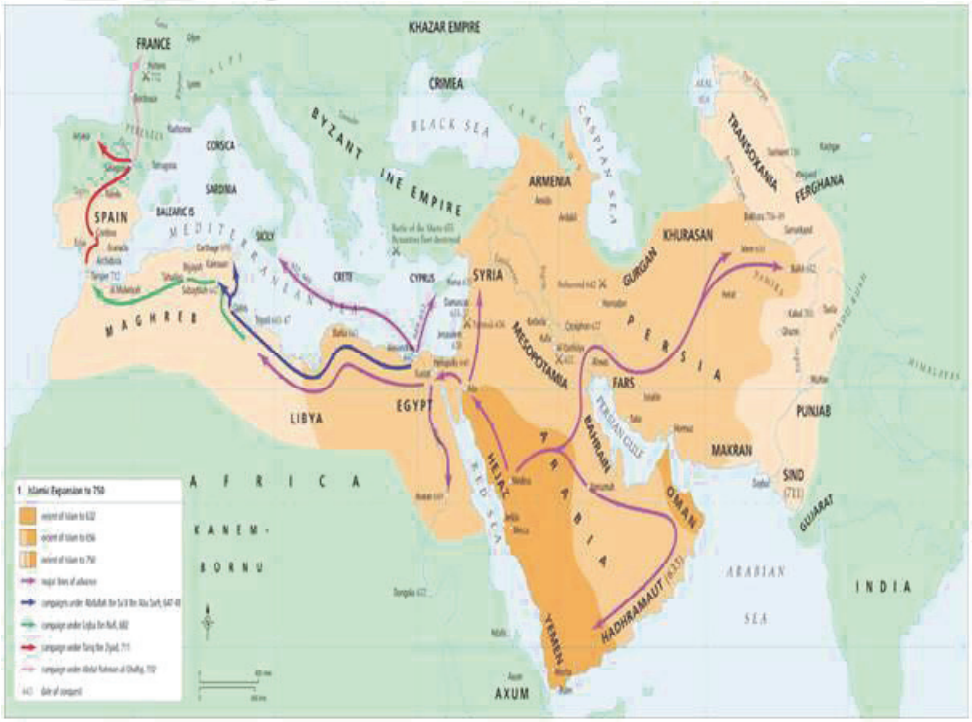

स्रोतः http://www.oxfordislamicstudies.com/article/full/opr/t253/e17/images/0195334012.spread-of-islam-the.1.jpg |

इस्लाम धर्म की स्थापना 7वीं शताब्दी में मोहम्मद द्वारा की गई, जो मक्का का एक अरबी व्यापारी था। उस समय, अरब के क्षेत्र पर अनेक लड़ाकू बेदूई (Bedouin) जनजातियों का निवास था जो प्रतिमा पूजक धर्मों को मानते थे और अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। वे निरंतर एक-दूसरे के साथ आर्थिक अथवा धार्मिक मुद्दों पर युद्ध करते रहते थे। लेकिन मोहम्मद ने इन अरबी जनजातियों को अपनी एक ईश्वरवादी शिक्षाओं से एकीकृत किया। संभवतः यह मोहम्मद का अरब में सबसे बड़ा योगदान है। एकता लाने के साथ ही, उनके नए धर्म ने भावी मुस्लिम राज्यों की राजनीतिक और आर्थिक नीतियों को भी अत्यधिक प्रभावित किया।

उनकी मृत्यु के पश्चात्, अरबी प्रायद्वीप के भीतर और उसके बाहर मुस्लिम राज्य व्यवस्था का तीव्र विस्तार रसूदीन और उम्मयद खलीफाओं के अंतर्गत हुआ। विस्तृत साम्राज्य मध्य एशिया से लेकर मध्य-पूर्व और उत्तर अफ्रीका से लेकर अटलांटिक महासागर तक फैल गया। कुछ विद्वानों का मत है कि अरबी प्रायद्वीप में एक राज्य का राजनीतिक गठन और धार्मिक एकता तथा सैन्य लाभबंदी पूर्व-आधुनिक काल में सबसे बड़े साम्राज्य की स्थापना के सबसे महत्त्वपूर्ण कारण थे। इस साम्राज्य का गठन इस्लामिक खलीफा द्वारा लगभग 1.3 करोड़ वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में किया गया था। अपने धर्म के रूप में इस्लाम और अपने नए साम्राज्य के रूप में लूट के साथ अरबी विविध प्रकार के व्यक्तियों के बीच रहे जो भिन्न-भिन्न नस्लों के थे। उनके बीच उन्होंने विजेताओं के रूप में एक अल्पसंख्यक शासन का गठन किया। लेकिन युद्धों के क्रमिक रूप से अंत और आर्थिक जीवन के विकास ने प्रशासकों और व्यापारियों के एक नए शासक वर्ग को उत्पन्न किया जो भिन्न नस्लों, भाषाओं और जातीयता के थे। इस तरीके से मुस्लिम जनसंख्या अरबी प्रायद्वीप में और उसके आस-पास फैलती रही। भारतीय उपमहाद्वीप में सिंध पर विजय मुस्लिम जगत द्वारा इस उद्यम का एक विस्तार था।

11.3 *चचनामा*

जहां तक सिंध पर अरब विजय के ऐतिहासिक स्रोतों का सरोकार है, तो इनका अत्यधिक अभाव है। यहां तक कि अरब स्रोत भी इस घटना के बारे में आरंभिक इस्लाम के उदय और विस्तार की चर्चा करते समय सिर्फ संक्षिप्त, अस्पष्ट विवरण अथवा संदर्भ प्रदान करते हैं। इस विजय का विवरण अल-बालाधुरी के *फतह-अल बलदान* के कुछ पृष्ठों तक ही सीमित है। अल-मैदानी में ट्रांसोक्सानिया पर अरब विजय के बारे में भरपूर जानकारी है। लेकिन उनके वर्णन में सिंध का बहुत कम उल्लेख है। लेकिन, इस विषय पर अरब स्रोतों के इस अभाव की क्षतिपूर्ति काफ़ी हद तक एक फ़ारसी ग्रंथ *चचनामा* द्वारा कर दी गई है, जिसे अली कूफी ने 1226 सी.ई. में लिखा था। यह एक विश्वसनीय ऐतिहासिक ग्रंथ है जिसके लिए यह दावा किया जाता है कि यह इस विजय से संबंधित इतिहास के लुप्त अरबी विवरण का अनुवाद है। *चचनामा* एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसे सिंध पर अरब विजय की विस्तृत जानकारी प्रदान करने का श्रेय दिया जा सकता है।

चचनामा में 680-718 सी.ई. तक का सिंध के इतिहास का विवरण है। व्युत्पत्ति के रूप से *चचनामा* का अर्थ है ''चच की कहानी''। वह सिंध के एक हिंदू ब्राह्मण शासक थे। यह पुस्तक एक फ़ारसी ग्रंथ है जिसे उच्च शहर में लिखा गया था, जो उस काल में सिंध की राजनीतिक राजधानी था। वर्तमान में, यह पाकिस्तान के करांची के बंदरगाह शहर से लगभग 70 किलोमीटर उत्तर में स्थित देखा जा सकता है।

मुस्लिम भारत के एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत के रूप में *चचनामा* को उतना महत्त्व नहीं मिला जितना मिलना चाहिए था। इसके कुछ भाग का अंग्रेज़ी में 'इलियट और डॉसन' द्वारा

अनुवाद किया गया था और फ़ारसी से अंग्रेज़ी में पूर्ण अनुवाद 1900 में मिर्ज़ा कालिशबेग द्वारा किया गया था जो पहले सिंधी उपन्यासकार थे। इस फ़ारसी पुस्तक का पहला और एकमात्र संस्करण 1939 में आया।

चचनामा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया क्योंकि अधिकांश इतिहासकारों, जैसे कि औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी इतिहासकारों, ने इसे भारतीय उपमहाद्वीप में आरंभिक रूप से इस्लाम के आने के सिर्फ एक वृत्तांत के रूप में देखा है। लेकिन अली कूफ़ी का यह दावा है कि *चचनामा* 8वीं शताब्दी की एक अरबी पुस्तक का अनुवाद है जो यह दर्शाता है कि इस्लाम के आने के अतिरिक्त यह अन्य प्रकार की जानकारी का भी भंडार हो सकता है। वास्तव में, यह पुस्तक वाकई अधिक जानकारी प्रदान करती है। योहानन फ्राइडमेन, मनन अहमद आसिफ़ इत्यादि जैसे विद्वान जिन्होंने इसे पढ़ा और इसका विश्लेषण किया है, तर्क करते हैं कि इसमें विविध प्रकार की व्यापक जानकारी है और समस्त उपलब्ध आंकड़ों को वर्गीकृत और विश्लेषित करने के लिए कोई क्रमबद्ध प्रयास नहीं किए गए हैं। इसके विस्तृत परीक्षण के बाद उन्होंने प्रमाणित किया कि इसमें सिंध के इतिहास, उसकी सरकार और राजक्रांति की प्रासंगिक जानकारी है। इसलिए, जिन विद्वानों ने यह पुस्तक पढ़ी है वे इस मध्यकालीन स्रोत को समग्रता से पढ़ने और समझने की आवश्यकता को समझते हैं और इसे सिर्फ आरंभिक इस्लाम के आने और सिंध पर उसकी विजय पर एक पुस्तक के रूप में नहीं देखते हैं।

चचनामा का वर्णन/वृत्तांत

जैसा कि पहले कहा गया है, फ्राइडमैन और अहमद आसिफ़ जैसे इतिहासकारों ने इसे सिर्फ सिंध विजय के इतिहास के रूप में देखे जाने के मत का खंडन किया है। उनका विस्तृत अध्ययन अन्य पहलुओं पर भी प्रकाश डालता है। फ्राइडमैन का मत है कि पुस्तक को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। पैगंबर मोहम्मद की तारीफ़ में विविध वर्णन से आरंभ करते हुए इसमें अरब योद्धाओं और अरबी पांडुलिपि जिसमें मोहम्मद बिन कासिम के सिंध में सैन्य कारनामों का वर्णन है। साथ ही, इसमें अरबों के सिंध पर हमले का भी वर्णन है।

राजा चच से आरंभ करते हुए, इसमें उनके उत्तराधिकारियों के गूढ़ वर्णन दिए गए हैं। इसमें चच बिन सिलाइज नामक एक ब्राह्मण की सिंध के राजा के मुख्यमंत्री होने से लेकर राजा की मृत्यु के पश्चात् रानी की सहायता से अपने सत्ता में आने की यात्रा के वर्णन हैं। एक राजा के रूप में, चच ने किलों पर कब्ज़ा करके, संधियों पर हस्ताक्षर करके और हिंदू तथा बौद्ध जनता दोनों के दिल जीतकर सिंध के एक सफल राज्य की स्थापना की थी। यह उनकी आक्रामक, रक्षात्मक और उदार नीतियों का मिश्रण था जिसके कारण उनके लिए लंबे समय तक सिंध पर राज्य करना संभव हो पाया था। लेकिन एक अच्छे शासक के रूप में उनकी सफलता उनके दो पुत्रों दहर और दहरसिया के बीच उत्तराधिकार के युद्ध के कारण खत्म हो गई। जैसा कि पुस्तक में वर्णन है, दहर सत्ता में आ गया और वही था जिसने अरब बागियों, समुद्री डाकुओं और युद्ध सरदारों का स्वागत किया। इसने 8वीं शताब्दी में ईराक के मुस्लिम राज्य के क्रोध को भड़का दिया। अहमद आसिफ के अनुसार, यह पुस्तक तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में तीन परस्पर जुड़े विषयों राजा के लिए वैधता की आवश्यकता, सलाहकारों की अच्छी परिषद और न्यायोचित रूप से शासित राज्य व्यवस्था के गठन की आवश्यकता की चर्चा की गई है। दूसरे भाग में, खलीफाओं से बालिद के इतिहास का वर्णन है। इसमें खलीफा उमर के काल की बात की गई है (लगभग 634-644 सी.ई.) जब मुस्लिम सैन्य अभियान सिंध और हिंद की ओर बढ़ रहे थे। इसमें मकरान, जबूलिस्तान और कंधार जैसे क्षेत्रों में भेजे गए शासकों के साथ ही विद्रोही मुस्लिम समूहों

का भी विवरण है जो सीमांत क्षेत्रों की ओर बढ़ रहे थे। दमस्कस में राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करने वाली विद्रोही सेनाओं की भी चर्चा की गई है। यहां यह उल्लेख किया गया है कि ऐसे समूहों के साथ युद्ध करने और क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए इराक के शासक/नियंत्रक ने एक युवा सेनापति मोहम्मद बिन कासिम को 711 सी.ई. में सिंध भेजा था। यह तब था जब मकरान, दाबोल अथवा देवुल, नेरुन के क्षेत्रों पर हमला करके उन पर कब्ज़ा कर लिया गया था। राजा दहर की सेनाएं सिंधु नदी के तटों पर हुए युद्ध में हार गई थीं। सिंध के राजा को हराने के बाद, कासिम ने आरोर, ब्राह्मनाबाद और मुलतान के क्षेत्रों पर भी कब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार, दहर से अरब विद्रोहियों और समुद्री डाकुओं का समर्थन करने का बदला लिया गया।

अंतिम वृत्तांत में कासिम के पतन पर विस्तार से चर्चा की गई है। जैसा कि इसमें बताया गया है, कासिम को बगदाद के खलीफा के आदेश पर दहर की बेटियों द्वारा यौन हिंसा का आरोप लगाए जाने पर मरवा दिया गया था। पुस्तक के अंतिम भाग में, अच्छे शासन, अच्छे सलाहकार मंडल और एक सफल राज्य-व्यवस्था के निर्माण के लिए आवश्यक राजनीतिक सिद्धांत की बात की गई है। इस भाग में चच और कासिम दोनों के सैन्य अभियानों की चर्चा की गई है। अहमद आसिफ़ के अनुसार, पुस्तक में नीति और कराधान, सेनाध्यक्षों के बीच निजी बातचीत और उनके उपदेशों और सपनों पर भाषण सम्मिलित हैं। इसमें राजनीतिक सिद्धांत और शासन पर महत्त्वपूर्ण जनों के वक्तव्यों की भी चर्चा की गई है।

बोध प्रश्न 1

1) अली कूफी कौन था? भारतीय इतिहास के अध्ययन में वह क्यों महत्त्वपूर्ण है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) *चचनामा* क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.4 सिंध पर विजय

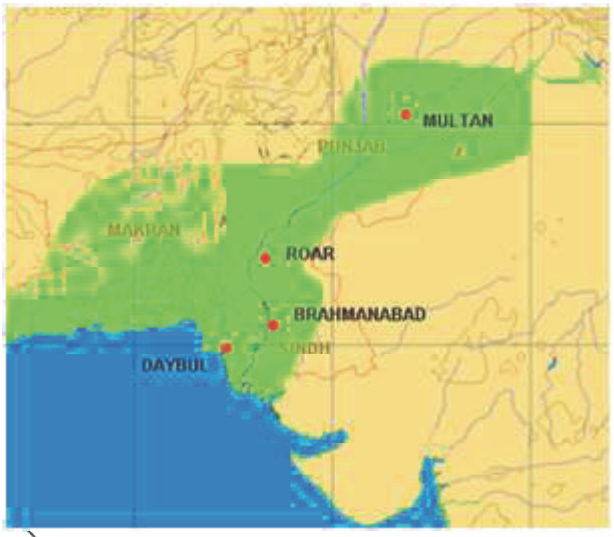

स्रोतः (https://en.wikipedia.org/wiki/Muhammad_bin_Qasim) ।

सिंध का क्षेत्र आज के पाकिस्तान के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में स्थित है। भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमी तट के इस क्षेत्र का लंबा इतिहास रहा है। प्राचीन काल से ही यह वाणिज्य और व्यापार का केंद्र रहा है। अरब व्यापारियों के अपने भारतीय और दक्षिण-पूर्वी एशियाई प्रतिपक्षियों के साथ सक्रिय व्यापारिक संबंध थे। उन्हें भारत के पश्चिमी तट के सागर मार्ग की जानकारी थी। वास्तव में, ये व्यापारी फ़ारस की खाड़ी में सिराफ़ और होरमूज़ से सिंध के मुख तक और फ़िर सपेरा और कैम्बे से होते हुए आगे कालीकट तक मालाबार तट के अन्य बंदरगाहों पर आते थे। अपने साथ भारतीय संपदा की खबरें और विलासिता की वस्तुएँ जैसे सोना, हीरा, रत्नजड़ित मूर्तियाँ आदि अरब ले जाते थे। क्योंकि भारत लंबे समय से अपनी संपदा के लिए प्रसिद्ध था, अतः अरब उस पर विजय पाना चाहते थे। अपने 'इस्लामीकरण' के बाद, उनके अंदर धर्म प्रचार की भावना थी जिसके कारण वे मध्य-पूर्व यूरोप, अफ्रीका और एशिया के अनेक क्षेत्रों में फैल गए।

अरबों की भारतीय महाद्वीप में सिंध के तटीय शहरों में घुसपैठ 636 सी.ई. से ही खलीफा उमर के शासनकाल में आरंभ हो गई थी, जो पैगंबर के दूसरे उत्तराधिकारी थे। लूट के अभियान, जैसा कि एक 637 सी.ई. में थाणे (बॉम्बे के निकट) में हुआ था, लंबे समय तक जारी रहे। लेकिन ये अभियान सिर्फ लूटपाट के लिए आक्रमण थे, विजय नहीं। क्रमबद्ध अरब विजय 712 सी.ई. में उम्मयद-खलीफा अल-वालिद के शासन काल में ही हुई थी। तभी सिंध को मुस्लिम साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था।

जैसा कि हमने बताया है, भारतीय दौलत को पाने की कामना के साथ ही सिंध की विजय का कारण अरबों की इस्लाम के प्रसार की इच्छा भी थी। लेकिन तात्कालिक कारण समुद्री डाकू थे जिन्होंने दाबोल/देबुल अथवा कराची के तट के निकट कुछ अरब जहाजों को लूट लिया था। ऐतिहासिक प्रमाण दर्शाते हैं कि इन जहाजों में लंका के राजा द्वारा बगदाद के खलीफा और इराक के नियंत्रक/शासक अल-हज्जाज के लिए भी उपहार ले जाए जा रहे थे। लेकिन जहाज को समुद्री डाकुओं द्वारा सिंधु नदी के मुहाने पर लूट लिया गया और अरबों को दाबोल के बंदरगाह पर नज़रबंद कर लिया गया। सिंध के राजा दहर से इस अपमान की क्षतिपूर्ति के लिए प्रत्यर्पण और अपराधियों को दंडित करने की माँग की गई। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया। उन्होंने अपने इंकार का कारण समुद्री डाकुओं को नियंत्रित करने में अपनी अक्षमता बताया। लेकिन, उनका भरोसा नहीं किया गया बल्कि बगदाद ने उन पर समुद्री डाकुओं का संरक्षण करने का आरोप लगाया। अतः हज्जाज ने खलीफा वालिद से सिंध पर हमला करने की अनुमति ले ली। इसके बाद, राजा के विरुद्ध एक के बाद एक तीन सैन्य हमले किए गए। देबाल में मोहम्मद बिन कासिम द्वारा तीसरे हमले में दहर की हार हुई और वह मारा गया। इसके बाद, निरून, रेवाड़, ब्राह्मनाबाद, अलोर और मुलतान के सभी पड़ोसी शहरों पर कब्ज़ा कर लिया गया। इस प्रकार, सिंध राज्य पर अरबों द्वारा 712 सी.ई. में अंततः विजय प्राप्त कर ली गई।

वह एक 17 वर्ष का उम्मैयद सेनापति था जिसने सिंध की विजय का नेतृत्व किया था। यह किशोर विजेता सिकंदर के पदचिन्हों पर चलते हुए सिंधु घाटी में एक नए धर्म और एक नई संस्कृति को लेकर आया। *चचनामा* में वर्ष 209-711 सी.ई. के बीच इनका उल्लेख है। जन इराक के शासक हज्जाज ने सिंध के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व इसे सौंपा था। कासिम हज्जाज का भतीजा था और एक कुशल सेनापति होने के कारण इसके चाचा द्वारा इसे मकरान के सीमांत जिले का सरदार बनाया गया था। उसे सिंध की दिशा में विजय करने का अभियान सौंपा गया था। सिंध के विरुद्ध कासिम के अभियान को बहुत सावधानी से तैयार किया गया था। इसकी सेवा का आधार सीरिया के *गुंड* के 6000 सैनिक और विभिन्न अन्य सैन्य दल भी थे। पूर्व की ओर के अभियान की योजना का आधार शीराज था। हज्जाज के आदेश से, कासिम वहां महीनों तक अपने सैन्य दलों पर केंद्रित करते हुए रहा। यहां से, वह मोहम्मद इन्न हारून के साथ (जो इस कूच के दौरान मर गया था और जो सीमांत जिले के नेतृत्व में उसका पूर्ववर्ती था) पूरब की ओर बढ़ा। जैसा कि अरब स्रोत बताते हैं, 8वीं शताब्दी में सिंधु घाटी पर दहर नामक राजा का शासन था। वह राजा चच का पुत्र और उत्तराधिकारी था। अरब सेनाएं इस घाटी पर विजय पाना चाहती थीं। *चचनामा* के अनुसार, चच का विशाल साम्राज्य था जो मकरान, कश्मीर आदि तक विस्तारित था। लेकिन उनके पुत्र द्वारा शासित राज्य इतना विशाल नहीं था और इसमें सिर्फ सिंधु का निचला क्षेत्र था जिसमें ब्राह्मनाबाद, आरोर, देबाल इत्यादि जैसे शहर सम्मिलित थे। इसलिए, चच द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य सिर्फ उनके जीवनकाल तक ही रहा था। उनके बाद, यह राजा दहर के अधीन, विशेष रूप से अरब हमलों के बाद, एक छोटे राज्य तक ही सीमित रह गया था।

एक सैन्य-प्रमुख के रूप में, कासिम सिंधु घाटी तक देबाल शहर के थलीय क्षेत्र को घेरकर पहुंच गया था। अतिरिक्त युद्ध सामग्री उस तक समुद्र के रास्ते से पहुंची थी। देबाल सिंधु नदी के मुहाने पर एक बड़ा शहर था जिस पर राजा दहर के प्रतिनिधि (lieutenant) का शासन था। इसके बाद, सेनाएं ऊपरी सिंधु घाटी की ओर बढ़ गईं। वे नीरून (पाकिस्तान में आज के हैदराबाद के निकट) पहुंच गईं और उसने शांतिपूर्ण तरीके से आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद अनेक अन्य क्षेत्रों जैसे साड्सान, सुवान्द्री, बस्मद आदि पर कब्ज़ा कर लिया गया था। अंत में, कासिम सिंधु नदी को पार करके स्वयं दहर से निपटना चाहता था। अपनी तरफ से दहर और उसकी सशक्त सेना ने कई दिनों तक वीरतापूर्वक हमलावरों से युद्ध किया। लेकिन उसे अरब सेनाओं द्वारा बुरी तरह हराया और मार दिया गया। इसके बाद ब्राह्मनाबाद की राजधानी और अलोर पर भी कब्ज़ा कर लिया गया। आगे उत्तर में सिंधु के पूर्वीतट की ओर बढ़ते हुए कासिम का लक्ष्य मुलतान पर विजय करना था। *चचनामा* में उल्लेख है कि हज्जाज ने कासिम को अंतिम लक्ष्य के रूप में मुलतान पर कब्ज़ा करने का निर्देश दिया था।

सिद्धांत और नीति के अनुसार, सिंध में एक के बाद एक शृंखलाबद्ध विजय प्राप्त करने के बाद कासिम की इस विजय से आम जनता का इस्लाम में सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि अरबों की देबाल और मुलतान की विजयों के बाद जनसंहार हुआ था लेकिन एलोर, नीरून, सुराष्ट, सावन्द्री इत्यादि के उदाहरण थे जहाँ विजेता और पराजितों के बीच बातचीत और समझौते हुए थे। एलोर में कासिम द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले उदारता और धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों ने विजयी इस्लाम के भारत के धर्म और संस्कृति के साथ सह-अस्तित्व के लिए राह बनाई। जैसा कि *चचनामा* में कहा गया है, कासिम ने पराजित जनता के प्रति उदारता की नीति अपनायी। उसने ब्राह्मणों और बौद्ध जनों, दोनों को, धार्मिक स्वतंत्रता की अनुमति दी। उसने दोनों धर्मों के पुरोहितों के विशेषाधिकारों को

संरक्षित रखा। यह कासिम द्वारा ब्राह्मणों को विशेषाधिकार देने की भारतीय सामाजिक परंपरा के समर्थन को दर्शाता है। वास्तव में, *चचनामा* में उल्लेख है कि वह ब्राह्मणों को 'भले और भरोसेमंद' जन कहता था और ब्राह्मनाबाद की घेराबंदी के बाद उन्हें उन्हीं पदों पर पुनः नियुक्त कर दिया गया जिनपर वे हिंदू राजवंश में थे। यहीं नहीं, इन पदों को उसके द्वारा वंशागत बना दिया गया। आम जनता को भी अपनी मर्ज़ी से पूजा-पाठ करने की अनुमति थी, पर उन्हें अरबों को वही कर देने होते थे जो वे राजा दहर को दिया करते थे। संक्षेप में, उसने सिंध की सामाजिक व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप नहीं किया और उनके क्षेत्रों में शांति बनाए रखने के लिए सहमत हो गया था। ये नीति कासिम द्वारा हज्जाज के निर्देशों के तहत अपनायी गई थी, जो जनता को धार्मिक स्वतंत्रता देने का पक्षधर था। इसलिए, जैसा कि *चचनामा* में कहा गया है, कासिम ने ब्राह्मनाबाद को व्यवस्थित और शांतिपूर्ण स्थिति में छोड़ा था और उत्तर की ओर एलोर चला गया था। लचीलेपन और उदारता की यह नीति विजय के आरंभिक काल में इस्लाम की विशेषता थी और उसके समर्थक इसे अपनाते थे।

मोहम्मद बिन कासिम की मृत्यु

इस वीर सेना-प्रमुख का अंत दुखद था। उसके अंत को लेकर भिन्न विवरण हैं। *चचनामा* उसकी मृत्यु का कारण राजा दहर की सूर्यदेवी और पलमलदेवी नामक दो कुंआरी पुत्रियों को मानते हैं जिन्हें उनके पिता की मृत्यु के बाद युद्धबंदी के रूप में खलीफा वालिद के पास भेज दिया गया था। अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए उन्होंने कासिम पर अपने साथ बलात्कार करने का आरोप लगाया। इससे खलीफा क्रोधित हो गया और उसने कासिम को तत्काल मार देने का आदेश दिया। उसने आदेश दिया कि वह जहां कहीं भी हो, कासिम को गाय की खाल में सिलकर खलीफा के पास भेजा जाए। उसकी मृत्यु के बाद जब उसका शरीर दोनों पुत्रियों को दिखाया गया तो उन्होंने यह सच बताया कि उन्होंने ऐसा कासिम से अपने पिता को मारने और परिवार को नष्ट करने का बदला लेने के लिए किया था। इसके बाद, उन्हें भी खलीफा द्वारा मृत्युदंड दिया गया।

दूसरी तरफ बालाधुरी की एक अन्य पुस्तक जिसका शीर्षक '*फलत उन बुल्दन*' था, में मोहम्मद कासिम के पतन और मृत्यु का एक पूर्णतः भिन्न कारण बताया गया है। उसमें कहा गया है कि कासिम को खलीफा सुलेमान द्वारा बंदी बनाकर मृत्यु होने तक यातनाएँ दी गई थीं। सुलेमान की मोहम्मद बिन कासिम के चाचा हज्जाज से भयंकर शत्रुता थी।

बालाधुरी का दावा है कि उसकी मृत्यु अरब साम्राज्य में समकालीन राजनीतिक स्थिति से संबंधित थी और खलीफा सुलेमान की प्रतिक्रियाओं से परस्पर संबंधित थीं, जिसने 715 सी. ई. में अपने भाई के बाद गद्दी संभाली थी। खलीफा वालिद का अंध समर्थक होने के कारण हज्जाज ने अपने भाई सुलेमान के विरुद्ध उसका समर्थन किया। वालिद ने सुलेमान के उत्तराधिकार के दावे को उसके बजाय उसके पुत्र को नियुक्त करके रद्द कर दिया और हज्जाज ने वालिद की इस योजना का समर्थन किया। इस प्रकार, सुलेमान उत्तराधिकार के अपने अधिकार से वंचित हो गया और इसलिए वह क्रोधित हो गया, विशेष रूप से बगदाद के शक्तिशाली शासक से क्रुद्ध हो गया। यह घृणा अपने चरण पर तब पहुंच गई जब उम्मयद शहज़ादे ने याज़िद बिन अल-मुहल्लब को शरण दे दी जो हज्जाज द्वारा उत्पीड़न से बचकर आया था। हज्जाज समर्थकों और मुहल्लब समर्थकों के बीच शत्रुता इस प्रकार हुई थी। यह अरब साम्राज्य की समूचे काल खंड में वालिद, सुलेमान और याज़िद-II खलीफाओं के काल में देखी गई थी और यह शत्रुता उम्मैयद साम्राज्य की जड़ों में गहराई से जमी थी जिसमें मुहल्लब और हैबाब समर्थक दोनों ही को निष्ठावान सेवकों के रूप में देखा था।

जब सुलेमान अपने वफ़ादार सेवकों के रूप में मुहल्लबों के साथ सत्ता में आया तो हज्जाज विरोधी प्रतिक्रिया दिखाई दी। इस प्रतिक्रिया ने हज्जाज को बहुत कम प्रभावित किया, क्योंकि उसकी मृत्यु उसकी इच्छानुसार अपने खलीफा वालिद से कुछ पहले हो गई थी। लेकिन इस शत्रुता ने वालिद के वफ़ादार आश्रितों और नातेदारों को निश्चित रूप से प्रभावित किया था। इस प्रतिक्रिया का पहला और सर्वाधिक पीड़ित कुतैबा बिन मुस्लिम था, जिसे नए खलीफा सुलेमान के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्पीड़ित किया गया था। कुतैबा को इतिहास के पन्नों में मध्य एशिया के अरब विजेता के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार, अगला पीड़ित हज्जाज का प्रिय मोहम्मद बिन कासिम था। यद्यपि प्रमाण कासिम के उसके द्वारा जीते गए क्षेत्रों में सुलेमान के उत्तराधिकार के अधिकार के रद्द होने की घोषणा को प्रमाणित नहीं करते हैं। लेकिन ऐसा माना जाता है कि कासिम ने हज्जाज के इस आदेश को माना था। इसलिए, हज्जाज और वालिद की मृत्यु के बाद उस पर उम्मीद से अधिक नियति की मार पड़ी। उस मामले में, गाय की खाल में सिलकर लाए जाने की कहानी एक कल्पित वृत्तांत लगती है। प्रचलित प्रथा के अनुसार, संभवतः उसे सिंध सरकार में उसके उत्तराधिकारी याजिद बिन-कब्शा-अस-सक्सांकी द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया था। ऐसा इराक के नए वित्त शासक सालिह बिन अब्द अररहमान के आदेश से हुआ था। अरबी और इस्लाम के क्षेत्र को बढ़ाने के साहसिक अभियानों के चार वर्ष पश्चात् कासिम को वासित में सलाखों के पीछे कैद कर दिया गया। यहीं पर उसे हज्जाज के अन्य रिश्तेदारों के साथ रखा गया था और 715 सी.ई. में उसकी मृत्यु हो जाने तक यातनाएँ दी गई थीं। इस तरीके से महान अरब विजय के लगभग सभी नायकों की उनके विस्तार की दूसरी ओर अंतिम लहर के समय दुःखद नियति इंतजार कर रही थीं।

11.5 अरब प्रशासन

सिंध के क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अरब प्रकार के प्रशासन को देखा गया था। यह अरब विजेताओं द्वारा जीते गए अन्य क्षेत्रों में उनके द्वारा अपनाए जाने वाले प्रतिरूपों के जैसा ही था। विद्वानों का मत है कि प्रशासन का यह प्रतिरूप बाद वाले तंत्रों से अधिक उदार था। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए था क्योंकि आरंभिक शताब्दियों में इस्लामी कानून की विचारधारा इतनी सख़्त नहीं थी जितनी वह बाद में थी। इसी कारण, विश्वभर में मुस्लिम शासन प्रणालियों को बाद की शताब्दियों में तुलनात्मक रूप से अधिक कठोर माना जाता था। भारत में 12वीं से 18वीं शताब्दी तक तुर्की और मुगल शासन को इस रूझान के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

इसके विपरीत प्रारंभिक मध्यकाल में अरब शासन अधिक उदार और लचीला था। अरब विजेताओं ने स्थानीय प्रथाओं के हस्तक्षेप न करने की सामान्य नीति अपनायी थी। जैसे अरब प्रशासन तंत्र के निर्माताओं में से एक खलीफ़ा उमर ने अरबों को स्थानीय प्रशासन में हस्तक्षेप करने अथवा अधीनता वाले क्षेत्रों में भू-संपत्ति अर्जित करने की अनुमति नहीं दी थी। यद्यपि जीते गए क्षेत्र के मुख्य सैन्य जनरल को वहां का शासक बनाया जाता था लेकिन वह वहां के नागरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यह मुख्य रूप से स्थानीय मुखियाओं के हाथ में रहता था जो अधिकतर गैर-मुस्लिम थे। कासिम की दहर पर विजय के बाद बनाई गई ऐसी व्यवस्था को 'ब्राह्मनाबाद व्यवस्था' कहा जाता था। इसमें मुख्य रूप से हिंदूओं के साथ व्यवहार को दर्शाया गया है जिन्हें ''पीपल ऑफ़ द बुक'' अथवा *जिम्मियों* (संरक्षित जन) के रूप में जाना जाता था। यह व्यवस्था मुख्य रूप से हज्जाज ने खलीफ़ा के निर्देशों के तहत बनाई थी। यह कहा गया था कि क्योंकि हिंदू जन खलीफा को कर चुकाने पर सहमत थे अतः उन्हें खलीफा के संरक्षण में लिया गया था। उनको अपने धर्म को अपनाने और अपने देवी-देवताओं की पूजा करने की अनुमति दी गई

थी। साथ ही, अरब शासकों अथवा प्रशासकों को उनकी संपत्ति छीनने की अनुमति नहीं थी। इस प्रकार की उद्घोषणा मुख्य रूप से ब्राह्मनाबाद की जनता की अपने मंदिर की मरम्मत और अपने धर्म को मानने की याचिका के परिणामस्वरूप की गई थी। कासिम से किए गए इस आग्रह को हज्जाज के पास भेजा गया और हज्जाज ने फ़िर इस प्रकार खलीफा से परामर्श किया। खलीफा ने उदारता की नीति को अपनाया जिसे फ़िर हज्जाज और कासिम द्वारा सप्रयास आगे बढ़ाया गया। कासिम की ब्राह्मणों और मूल स्थानीय परंपरा के प्रति उदारता की नीति के ऊपर बताए गए उदाहरणों को इसको ध्यान में रखते हुए समझा जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित का मिलान कीजिए –

	व्यक्ति	जाना जाता है
i)	पलमलदेवी	उम्मैयद जनरल
ii)	मोहम्मद बिन कासिम	बगदाद का शासक
iii)	अल-हज्जाज	वालिद का भाई
iv)	सुलेमान	श्राजकुमारी

2) मोहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के विषय में *चचनामा* के वृत्तांत पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

11.6 सिंध पर विजय : बग़ैर परिणामों की जीत?

सिंध पर अरब विजय को स्टेनली लेन पूल, एल्फिंसटन इत्यादि जैसे विद्वानों ने 'बग़ैर परिणामों की जीत' कहा है क्योंकि इसमें मुस्लिम, अरबों और भारतीय शासकों में से किसी की भी कोई बड़ी विजय नहीं हुई थी। उनका मत है कि अरब की जीत का भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास पर कोई प्रभाव अथवा परिणाम नहीं हुआ था। वह शेष भारत की राजनीतिक अथवा सैन्य स्थितियों को प्रभावित नहीं कर सकी थी। अरब शासन सिर्फ सिंध क्षेत्र में सीमित था और भारतीय शासक अरबों को अपने सीमांत क्षेत्रों से बाहर निकाले अथवा उनसे डरे बग़ैर अपने राज्यों पर शासन करते थे। अरबों का प्रभाव उपमहाद्वीप के एक छोटे भाग तक सीमित था। वे तुर्कों के विपरीत भारतीय उपमहाद्वीप में अपने पैर नहीं जमा पाए थे, जिन्होंने कुछ शताब्दियों बाद ही अपनी पूर्ण सल्तनत (अर्थात् 12वीं शताब्दी से शुरू दिल्ली सल्तनत) स्थापित कर ली थी।

इस मत की आलोचना करने वाले विद्वानों ने इसके खंडन के लिए अनेक तर्क दिए हैं। उनका मानना है कि भले ही विजय का भारत के राजनीतिक भूगोल पर खास प्रभाव नहीं पड़ा था, लेकिन इसका दोनों पक्षों पर निश्चित रूप से राजनीतिक असर हुआ था। जैसा कि स्रोतों से पता चलता है, मुहम्मद बिन कासिम उतना ही कुशल प्रशासक था जितना

कुशल योद्धा था। अपनी विजयों के बाद उसने क्षेत्र की कानून व्यवस्था को बनाए रखा था और वह मुस्लिम शासन के तहत् अच्छा प्रशासन देने में यकीन रखता था। गैर-मुस्लिमों के साथ उसके द्वारा की गई व्यवस्थाओं ने उपमहाद्वीप में बाद में मुस्लिम राज्य नीति प्रदान करने का आधार बनाया। अपने चाचा हज्जाज के कुशल मार्गदर्शन में उसने पराजित जनता को सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक स्वतंत्रता दी थी। जब तक इस्लामी कानून को बनाया जा रहा था, तब तक मूर्ति पूजकों के लिए सख़्त प्रावधान दिए गए थे। इन प्रावधानों को हिंदुओं द्वारा क्यों नहीं अपनाया जाता था इसका कारण मुख्य रूप से कासिम की उदारवादी नीतियाँ थीं। उसने मूल देसी रीति-रिवाजों और परंपराओं को अक्षुण्ण रखने के लिए राजनीतिक कुशाग्रता का प्रदर्शन किया। न ही उसने गैर-मुस्लिमों को बलात मुसलमान बनाया और न ही सामाजिक व्यवस्थाओं जैसे *जाति* प्रथा को खत्म किया। इस प्रकार *जाति* प्रथा अप्रभावित रही और पहले के समान ही अपनायी जाती रही।

इस प्रकार की प्रथाओं के पाए जाने से अरब और मुस्लिम जगत को भारतीय सामाजिक और राजनीतिक तंत्रों की कमज़ोरियों का पता चला। इसलिए, सामाजिक ताने.बाने में इन दरारों का उपयोग उनके द्वारा अपने लाभ के लिए किया गया। जैसे कि पहले चर्चा की गई है, संभवतः ब्राह्मनाबाद के ब्राह्मणों को उनके द्वारा भरोसेमंद व्यक्ति माना गया जिससे अरबी राज्य-व्यवस्था और प्रशासन को चलाने में उनका पूर्ण सहयोग मिलता रहे। निःसंदेह, अरब हमले ने भारत की राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित नहीं किया था, लेकिन इसने निश्चित रूप से क्षेत्र की सामाजिक कमज़ोरियों को उजागर किया। इनका उपयोग हमलावरों द्वारा कुछ शताब्दियों बाद किया गया।

साथ ही, भारतीय और अरब संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक मेल का प्रभाव विभिन्न अन्य क्षेत्रों जैसे साहित्य, चिकित्सा, गणित, खगोल विज्ञान इत्यादि पर भी दिखाई दिया। बौद्धिक स्तर पर ऐसे संपर्कों से दोनों संस्कृतियों की परस्पर वृद्धि और विकास हुआ। पहला अभिलेखित हिंद. अरब बौद्धिक संपर्क 771 सी.ई. में हुआ था जब एक हिंदू खगोल विज्ञानी और गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त की *ब्रह्म सिद्धांत* नामक संस्कृत पुस्तक के साथ बगदाद पहुंचे। इस पुस्तक का एक अरब गणितज्ञ के द्वारा अरबी में अनुवाद किया गया था जिसे *सिंध हिंद* नाम दिया गया। इसका अरब खगोल विज्ञान के विकास पर अत्यधिक प्रभाव हुआ यद्यपि गणित की तीन अन्य पुस्तकों का भी अरबी में अनुवाद किया गया था। गणित में भारतीय संस्कृति का अरब विद्वता पर सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान अरबी अंकों का था।

इसी प्रकार, अरबों द्वारा भारतीय चिकित्सा शास्त्र पर और भी अधिक ध्यान दिया गया था। कम से कम 15 संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद किया गया जिसमें चरक और सुश्रुत की भी थीं। भारतीय चिकित्सकों को बगदाद में अत्यधिक आदर और सम्मान दिया जाता था और इसलिए काफ़ी संख्या में भारतीय चिकित्सक वहां पाए जाते थे। मनका एक ऐसे ही चिकित्सक थे जिन्होंने बीमार खलीफा हारून-अल-राशिद का उपचार करके यश और धन कमाया था। इसके साथ ही, ज्योतिष और हस्त रेखाशास्त्र ने भी अरबों का ध्यान आकर्षित किया और इन क्षेत्रों की अनेक पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया। इन्हें भी अरब इतिहास लेखनों में संरक्षित रखा गया है। अन्य अनुवाद शासन कला, युद्ध कौशल, तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, जादू इत्यादि के क्षेत्रों से थे। इसी प्रकार, *पंचतंत्र* की प्रसिद्ध पुस्तक का अरबी में अनुवाद हुआ और अरबी में उसे कलीला और दिमना की कहानी के रूप में जाना गया।

भारतीय संगीत का अरबी संगीत पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। यद्यपि इसकी किसी पुस्तक का अनुवाद नहीं पाया गया है। जाहिज़ नामक अरबी लेखक ने अपनी पुस्तक में बगदाद में भारतीय संगीत को मिले सम्मान के विषय में लिखा है। उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप की

जनता के संगीत को आनंददायक कहा है। भारतीय संगीत पर एक अन्य ऐसा संदर्भ एक अन्य अरब लेखक का है जिसने लय/धुनों और तरंगों पर भारतीय पुस्तक की बात की है। कुछ विद्वानों द्वारा यह सुझाया गया है कि अरबी संगीत के अनेक तकनीकी शब्द, फ़ारस और भारत से लिए गए हैं। इसी प्रकार, भारतीय संगीत में अनेक फ़ारसी-अरबी लय/तान हैं जैसे *यमन* और *हिज्ज*।

अरबी पुस्तकों में भारतीय और अरबी संस्कृतियों के बीच के रिश्तों पर इतनी जानकारी उपलब्ध होने के कारण यह कहना अतार्किक होगा कि सिंध पर अरब की विजय बग़ैर परिणामों की जीत थी। दूसरे शब्दों में, सिर्फ राजनीतिक परिणामों को ही महत्त्व देना और सामाजिक-सांस्कृतिक अथवा अन्य प्रभावों या परिणामों की अनदेखी करना गलत होगा।

बोध प्रश्न 3

1) सिंध की विजय के परिणामों पर औपनिवेशिक तर्क क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारंभिक मध्यकालीन युग में भारतीयों और अरबों के बीच सांस्कृतिक संपर्कों पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

11.7 सारांश

आरंभिक मध्यकाल में इस्लाम के उदय के विश्वभर में दूरगामी राजनीतिक, सामाजिक. आर्थिक और सांस्कृतिक तात्पर्य थे। भारतीय उपमहाद्वीप के साथ 8वीं शताब्दी में इसके पहले संपर्क को अधिकतर फ़ारसी पुस्तक *चचमाना* से जाना जाता है। यह एक ऐसा स्रोत है जिसमें सामान्य रूप से सिंध के इतिहास को बताया गया है। लेकिन, इसकी औपनिवेशिक समझ भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम की उत्पत्ति की थी। इसे सिर्फ इस्लाम के उदय अथवा सिंध की विजय के एक स्रोत के रूप में देखने की प्रवृत्ति इस समझ से निकली है ओर इसको समकालीन इतिहास लेखकों द्वारा व्यापक रूप से नकार दिया गया है। वे विजय के विवरण को सिर्फ इसके एक आयाम के रूप में देखते हैं। यह पुस्तक सामान्य रूप से सिंध के इतिहास का वर्णन करती है।

विजय के वर्णनात्मक विवरण में युवा सेना-प्रमुख मुहम्मद बिन कासिम की चर्चा है, जिसने बहादुरी से सिंध क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। पुस्तक में पराजित हिंदू जनता के प्रति इस

मुस्लिम विजेता की उदार और सहिष्णु सोच का वर्णन है। लेकिन इसका उदय और पतन भी खलीफा के साथ इसके संबंधों पर निर्भर था तथा खलीफा के बदलने पर इसका और अनेक अन्य कुशल और भरोसेमंद अरब विजेताओं का पतन हो गया। खलीफा के दरबार में इस प्रकार की राजनीति ने भारतीय उपमहाद्वीप में और समूचे विश्व में अरब विजय की नियति को प्रभावित किया। अरब साम्राज्य के भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में ही सीमित रहने को इसके परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए।

अरब विजेताओं और सिंध के शासकों की भारत में अपने प्रभाव को बढ़ाने की अक्षमता को उनकी पूर्ण असफलता के रूप में नहीं देखा जा सकता है। सिंध पर उनकी विजय को इसके प्रकाश में महज बग़ैर परिणाम की जीत कहकर कम करके नहीं आंका जा सकता है। भले ही अरब भारत में राजनीतिक स्थिति को प्रभावित नहीं कर पाए, लेकिन उन्होंने निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति को अनेक अन्य तरीकों से प्रभावित किया था। भारतीय और अरब संस्कृतियों की सांस्कृतिक निकटता की उनके साहित्य, चिकित्सा शास्त्र, गणित, खगोल विज्ञान इत्यादि पर निश्चित रूप से छाप थी। कुल मिलाकर मुस्लिम तुर्कों जैसे महमूद ग़ज़नी और मुहम्मद गौरी द्वारा क्रमशः 11वीं और 12वीं शताब्दी में भारत पर सफल हमलों को 8वीं शताब्दी में सिंध की विजय द्वारा तैयार की गई पृष्ठभूमि के चरमोत्सकर्ष के रूप में देखा जा सकता है।

11.8 शब्दावली

परिरोधन (Containment) : किसी के विस्तार को रोकने की क्रिया।

व्युत्पत्ति विज्ञान (Etymology) : स्रोतों और विकास का अध्ययन।

के सापेक्ष (Vis-a-vis) : तुलना में।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 12.3 देखें।

2) भाग 12.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1)

पलमलदेवी	राजकुमारी
मुहम्मद बिन कासिम	उम्मैयद सैन्य-प्रमुख
अल.हज्जाज	बगदाद का शासक
सुलेमान	वालिद का भाई

2) भाग 12.4 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 12.5 देखें।

2) भाग 12.5 देखें।

11.10 संदर्भ ग्रंथ

आसिफ, मनन अहमद (2016) *ए बुक ऑफ़ कॉन्क्वेस्ट : द चचनामा एंड मुस्लिम ओरिज़िन्स इन साउथ एशिया* / केम्ब्रिज : हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994) : *द मेकिंग ऑफ़ द अर्ली मेडिवल इंडिया* / नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

फ्राइडमैन, योहानन ''द ओरिज़िंस एंड सिग्निफिकेंस ऑफ़ द चचनामा'', *अकेडमिया.एडू.*

द इम्पैक्ट ऑफ़ द अरब्स : http://www.columbia.edu/itc/mealac/pritchett/00islamlinks/ikram/part1_01.html

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 12 महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद गौरीः आक्रमण एवं प्रतिरोध*

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 पश्चिम और मध्य एशिया में निरंतर परिवर्तन की स्थिति

12.3 पश्चिमोत्तर भारत में ग़ाज़ी का आक्रमण

12.4 भारत और मध्य एशिया में ग़ज़नवियों का पतन और गौरी वंश का उदय

12.5 तुर्कों की विजय और राजपूतों की हार के कारण

12.6 ग़ज़नवी वंश और गौरी वंश की तुलना

12.7 सारांश

12.8 शब्दावली

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.10 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगेः

- प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में हुए विदेशी आक्रमणों की पृष्ठभूमि;
- महमूद ग़ज़नी का आक्रमण;
- गौरी वंश का उदय;
- मोहम्मद गौरी द्वारा उत्तर भारत की विजय के विभिन्न चरण;
- राजपूतों की हार के कारण;
- मोहम्मद गौरी की सफलता के कारण; और
- ग़ज़नवी वंश और गौरी वंश में अंतर।

12.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमें भारतीय उपमहाद्वीप में अरबों के आक्रमण, विजय और विस्तार के बारे में विस्तृत जानकारी मिली। अब हम भारत में पहले मुस्लिम आक्रमण के कारणों और प्रभावों के बारे में पढ़ेंगे। इससे पहले हम 8वीं शताब्दी में अरबों द्वारा सिंध पर हुई जीत के माध्यम से इस्लाम के इतिहास में विजय के प्रकरण को देखते हैं। कुछ औपनिवेशिक विद्वानों ने इस प्रकरण को ''बिना परिणामों की एक विजय'' कहा है, क्योंकि अरब, मुस्लिम तथा भारतीय शासकों के लिए यह कोई बड़ी जीत नहीं थी। अरब शासन केवल सिंध क्षेत्र तक ही सीमित था। इसलिए अरब आक्रमण से डरे बिना भारतीय शासकों ने अपने राज्यों पर शासन किया।

*डॉ. जया प्रियदर्शिनी, इतिहास अध्ययन केन्द्र से पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

हालांकि, 11वीं और 12वीं शताब्दी में मध्य एशिया में तुर्कों के उदय के साथ यह स्थिति बदल गई। उत्तर-पश्चिमी सीमांतों पर आधिपत्य के बाद मुस्लिम तुर्क महमूद ग़ज़नी और मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद गौरी के कारण इस्लाम का भारत में प्रवेश हुआ। उन्होंने 10वीं और 12वीं शताब्दी के बीच भारत को लूटने या जीतने का प्रयास किया। इस इकाई में प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत की इस अनूठी विशेषता के बारे में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

11वीं शताब्दी की शुरुआत मुस्लिम तुर्की आक्रमणकारियों और महमूद ग़ज़नी द्वारा लूटपाट के साथ शुरू हुई। यह आक्रमण अपने चरमोत्कर्ष पर तब पहुँचा जब 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद गौरी ने भारत में प्रथम मुस्लिम राज्य की स्थापना की। इस इकाई में हम भारत में मुस्लिम शासन के आक्रमण, विजय और विस्तार के विभिन्न चरणों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

12.2 पश्चिम और मध्य एशिया में निरंतर परिवर्तन की स्थिति

जैसा कि पिछली इकाई में बताया गया है, 5वीं शताब्दी सी.ई. से ही अब्बासिड अब्बासिद पश्चिम एशिया का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था।

हालांकि, 9वीं शताब्दी के अंत से यह स्थिति बदलने लगी। इन्होंने अपनी ऊर्जा और संसाधन का अधिकांश भाग मध्य एशिया के बुतपरस्त तुर्कों से लड़ने में खर्च कर दिया था। साम्राज्य कई आक्रामक राज्यों में बँट गया। इन राज्यों पर गैर-तुर्क शासकों और तुर्की राजाओं अथवा सुल्तानों ने शासन किया। इन सभी राज्यों ने खलीफा[2] के आधिपत्य को स्वीकार किया। खलीफा को इसकी औपचारिक वैधता मंशूर (औपचारिक पत्र) अनुदान पत्र से मिली थी।

इनमें से अधिकांश मुस्लिम शासकों ने स्वयं को *सुल्तान* कहा। दूसरी ओर, 8वीं शताब्दी में तुर्की खानाबदोश मध्य और पूर्व एशिया के बीच के क्षेत्र ट्रांसऑक्सियाना (इसे अरबी स्रोतों में मवारुन नहर और फ़ारसी में फरारूद के रूप में जाना जाता है) में घुसपैठ कर रहे थे। उनके पास अच्छी सैन्य कुशलता थी। इसलिए अब्बासिद खलीफा और ईरानी शासकों ने

8वीं शताब्दी में ट्रॉन्सोक्सियाना के क्षेत्र और प्रधान इलाकों का नक्शा। स्रोतः गाय ली स्ट्रेंज (1905), *द लैंड्स ऑफ़ द ईस्टर्न कैलिफेटः मेसोपोटामिया, पर्शिया एण्ड सेंट्रल एशिया, फ्रॉम मॉस्लेम कॉन्क्वेस्ट टू द टाइम ऑफ़ तैमूर*, बार्न्स एंड नोबल, न्यूयॉर्क। श्रेयः सिप्लाकिदास। चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Transoxiana_8th_century.svg).

[2] मुस्लिम दीवानी और धार्मिक प्राधिकरण को पैगंबर मुहम्मद के उत्तराधिकारी और पूरे *उम्माह* (समुदाय) के एक नेता के रूप में माना जाता है। खलीफा ने बगदाद में 1258 तक और मिस्र में 1517 में हुए ओटोमन के आक्रमण और विजय तक शासन किया; यह शीर्षक तब से ओटोमन सुल्तानों के पास था, जब तक कि इसे 1924 में अतातुर्क द्वारा समाप्त नहीं कर दिया गया। इस्लाम के केंद्रीय धार्मिक पाठ *कुरान* में भी दो बार 'खलीफा' शब्द आया है। इसमें उल्लेख है कि ईश्वर ने सबसे पहले पृथ्वी पर अपने खलीफा को मानवता का निर्माण करने के लिए भेजा। दूसरे, इसमें राजा डेविड को ईश्वर के खलीफा के रूप में संबोधित किया गया है। इसमें उन्हें ज़िम्मेदारी और कर्तव्यनिष्ठा और न्याय के साथ शासन करने की सीख दी गई है।

उन्हें इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर किराए के सैनिकों, महल के रक्षकों और दासों के रूप में भर्ती कर लिया। धीरे-धीरे, इन इस्लामी तुर्की सेनाध्यक्षकों (commanders) को भाषा, शिष्टाचार, प्रशासनिक नीतियों आदि में ''फ़ारसीकृत'' किया गया। इसका मतलब है कि इस तुर्की शासक वर्ग ने फ़ारसी संस्कृति को आत्मसात कर लिया था और इन्हें अपने नस्लीय मूल पर गर्व था। वे दो भाषाएँ बोलते थे। अंततः, उन्होंने पश्चिम एशिया और भारतीय उपमहाद्वीप दोनों में अपनी शक्ति का विस्तार किया।

अब्बासिद साम्राज्य के पतन के बाद इस क्षेत्र की स्थिति गुप्तोत्तर कालीन उत्तर भारत जैसी हो गई थी। यह कई शासकों द्वारा शासित था; प्रत्येक शासक अपने क्षेत्र और सत्ता के विस्तार के लिए एक-दूसरे से लड़ रहे थे। इसके अलावा, इन राज्यों में कुछ महत्वाकांक्षी अधिकारियों ने सत्ता पाने के लिए राजा को सिंहासन से हटाने का प्रयास किया। इसमें न जाने कितने राजवंशों का उदय और पतन हुआ। पश्चिम और मध्य एशिया में इस तरह के राजनीतिक प्रवाह के बीच किसी भी राजवंश की ताकत और अस्तित्व के पीछे मुख्य कारक इसकी सैन्य शक्ति और दक्षता थी। इसलिए, हम कई राजवंशों को एक के बाद एक सत्ता में आते देखते हैं। इस तरह समानिद वंश ने 874 से 999 सी.ई. तक शासन किया।

समानिद वंश। साभारः अरब लीग। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Samanid_dynasty_(819%E2%80% 93999).GIF).

इसे बल्ख के एक ईरानी सरदार ने स्थापित किया, जो धर्मान्तरित था। उसने मध्य एशिया और अफ़ग़ानिस्तान में समरकंद, हेरात आदि क्षेत्रों पर नियंत्रण किया। इस राजवंश के बाद ग़ज़नवी वंश ने 962 से 1186 सी.ई. तक शासन किया।

ग़ज़नवी साम्राज्य अपने महानतम विस्तार पर, लगभग 1300 सी.ई.। श्रेयः अरब लीग। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Ghaznavid_Empire_975_-_1187_(AD).PNG).

यह अल्प-तिगिन/अल्प-तेगिन नामक समानिद साम्राज्य के एक तुर्की दास द्वारा स्थापित किया गया था। बाद में ग़ज़नवियों को सेल्जुकिड और ख्वारिज़्मि राजवंशों ने भी हराया था। इन्होंने आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसे चंगेज़ खान/जेंगिज़ खान के निर्मम मंगोल हमलों ने चकनाचूर कर दिया।

जैसा कि ऊपर देखा गया है, अपने क्षेत्रों का विस्तार करने के लिए इस्लामी तुर्कों के विभिन्न समूहों के बीच लगातार युद्ध हुए थे। उन सभी ने युद्ध के मैदान में अच्छे सैन्य कौशल का प्रदर्शन किया और सत्ता के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा की। इतिहासकार सतीश चंद्र मध्य एशिया के तुर्की योद्धाओं की सैन्य दक्षता के बढ़ने के कुछ कारकों के बारे में बताते हैं। इन कारकों को जानना ज़रूरी है, क्योंकि भारतीय राजशाही के खिलाफ उनकी सफलता के पीछे के कारणों का पता चलता है।

क) पहला महत्वपूर्ण कारण यह था कि मध्य एशिया में घोड़ों की बेहतरीन नस्लें पाई जाती थीं। पूरी दुनिया में यहाँ घोड़ों की सबसे अच्छी किस्में थीं और उन्हें मज़बूत, अनुशासित योद्धाओं द्वारा पाला जाता था। ये घोड़े अरब और भारत में आयात किए जाते थे क्योंकि यहाँ के घोड़ों की देशी नस्लें मध्य एशियाई घोड़ों की तरह अच्छी नहीं थीं। घुर के लोग घोड़े-पालक के रूप में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हुए।

ख) दूसरा कारण यह था कि युद्ध उपकरण आसानी से उपलब्ध थे। घुर का क्षेत्र (इसे घौर या घोर भी कहा जाता है) अफ़ग़ानिस्तान के 34 प्रांतों में से एक था। इसके पड़ोसी क्षेत्र धातुओं, विशेष रूप से लोहे की धातुओं में समृद्ध थे। इस स्थलाकृतिक क्षेत्र की पर्वत श्रृंखलाओं में धातुएँ बहुतायत में पाई जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लोहा भारी मात्रा में उपलब्ध था। घुर के लोग बड़ी संख्या में हथियारों और युद्ध-उपकरणों का उत्पादन करते थे। उन्होंने पड़ोसी देशों में इन वस्तुओं का निर्यात किया। *हुदुदुल आलम*[3] के अनाम लेखक के शब्दों में, ''इस प्रांत से दास, कवच (*जिरह*), कोट (*जौशन*) और अच्छे अस्त्र-शस्त्र लाए जाते थे''। उस समय के एक अन्य लेखक के अनुसार घुर और काबुल से लेकर कुरलुक/कर्कलुक/कर्लुक/कार्लुक तक का पूरा इलाका मध्य एशिया में अल्ताई पहाड़ों के एक प्रमुख तुर्किक आदिवासी संघ पश्चिम में धातु के काम में व्यस्त था। इसलिए, युद्ध के औज़ार और सामग्री तुर्की योद्धाओं के लिए आसानी से उपलब्ध थे। जब महमूद ग़ज़नी ने 1020 सी.ई. में घुर पर हमला किया तो उसके प्रमुख अबुल हसन खलफ ने उसे ढाल और कुइरास के साथ कई अस्त्र-शस्त्र दिए। महमूद ने घुरिद हथियारों के मूल्यों को पहचाना और उसकी प्रशंसा की। उसने घुरिद अधिकारियों को घेराबंदी-युद्ध के विशेषज्ञों के रूप में नियुक्त किया। इस तरह अच्छी गुणवत्ता वाले घोड़ों और युद्ध सामग्री की आपूर्ति ने हर जगह तुर्कों को उनकी सैन्य गतिविधियों में मदद की। घुर ने हाल ही में मुस्लिम सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए अपने दरवाज़े खोले थे। मध्ययुगीन युद्ध में दो सबसे महत्वपूर्ण ज़रूरतें थीं– घोड़े और लोहा।

घुर के साथ अफ़ग़ानिस्तान का नक्शा। श्रेयः टी.यू.बी.एस.। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Ghor_in_Afghanistan.svg).

[3] अरबी में इसका अर्थ है ''विश्व की सीमाएँ''। यह 10वीं शताब्दी में अज्ञात लेखक द्वारा फ़ारसी में लिखी गई भूगोल पर एक रचना है। लेखक जोजियन/जौज्जान/जोजियान का वासी था, जो अफ़ग़ानिस्तान के 34 प्रांतों में से एक था।

ग) तुर्की योद्धाओं की सफलता के लिए ज़िम्मेदार एक और कारक उनकी ग़ाज़ी[4] भावना थी। यह पहली बार पश्चिम एशिया में देखा गया था कि तुर्की योद्धाओं को तुर्कमेन या तुर्कोमान नामक गैर-तुर्की खानाबदोश योद्धाओं के खिलाफ लगातार लड़ना पड़ा था। इस समय ट्रांसओक्सियाना का क्षेत्र ईरानी शासन के अधीन था। इसके आसपास के क्षेत्रों में तुर्क और गैर-मुस्लिम खानाबदोश तुर्कमानों का निवास था। तुर्क और गुज़ या ओगुज़ जैसे तुर्कोमानों के बीच लगातार झगड़े होते थे। वे कारा-खितई (मध्य एशियाई मैदान) में रहते थे। इस अवधि के दौरान तुर्की सम्राटों ने गुलामों को पकड़ने के लिए तुर्कमेन क्षेत्रों में निरंतर घुसपैठ की। वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान के हेरात, वर्तमान ईरान के सिस्तान, वर्तमान उज़बेकिस्तान के समरकंद और बुखारा के गुलाम-बाजारों में इन गुलामों की बहुत मांग थी। घुर इन बाजारों में दासों की आपूर्ति किया करते थे। इस तरह के अभियानों में शामिल योद्धा लूट से कमाने के लिए स्वतंत्र थे। हालाँकि, इस तरह की लूट और लूट के पीछे मुस्लिम तुर्की योद्धाओं का एक अन्य उद्देश्य था। इस्लाम को गैर-मुस्लिम आबादी के बीच फैलाना था और इसलिए, उन्हें गज़ियों के रूप में जाना जाता था। इसलिए, हम देखते हैं कि ग़ाज़ी की भावना को पहले मध्य एशियाई खानाबदोश जनजातियों से लड़ने के लिए सुयोजित किया गया। बाद में इसे भारत में ''अविश्वासियों'' के खिलाफ अपनाया गया था। महमूद ग़ज़नी अफ़ग़ानिस्तान का एक लुटेरा था। उसने भारत पर आक्रमण के समय उसी ग़ाज़ी की भावना को अपनाया और प्रदर्शित किया। कुछ इतिहासकार भारतीय उपमहाद्वीप में उसके आक्रमण और विजय को एक पवित्र युद्ध के रूप में देखते हैं। इसमें सहायता करने वाले स्वयंसेवकों की कोई कमी नहीं थी। उनकी विजय पूरे पूरब में प्रसिद्ध थी। कुछ 20,000 योद्धा ऑक्सस[5] के आगे से आए थे। वे प्रार्थना करते थे कि उन्हें इस्लाम के लिए युद्ध करने का अधिकार मिले और संभवतः वे इस महान कार्य के लिए शहादत का ताज पहनने के लिए आतुर थे। इस तरह के जोश ने एक विशाल सेना को मज़बूत किया और उसने 1018 सी.ई. में भारत में अपना सबसे बड़ा अभियान चलाया और अपने मकसद में बहुत दूर तक पहुँचा।

12.3 पश्चिमोत्तर भारत में ग़ाज़ी का आक्रमण

जैसा कि अब तक समझा गया कि मध्य एशिया के तुर्की और गैर-तुर्की गुट लगातार अपने आसपास के क्षेत्रों में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने के लिए एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते थे। इस तरह के प्रयासों में उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान में कई क्षेत्रों पर भी विजय प्राप्त की। इसी तरह से खुरासान में समानिद शासकों के एक सेनाध्यक्ष अल्प-तेगिन ने 963 सी. ई. में दक्षिण जबुलिस्तान में ग़ज़नी की ओर कूच किया और खुद को एक स्वतंत्र शासक के रूप में घोषित किया।

अफ़ग़ानिस्तान के हिंदूशाही राजाओं ने ग़ज़नी के पूर्व समानिद नियंत्रक, मुल्तान के पास भट्टी सम्राटों के साथ-साथ मुल्तान के मुस्लिम अमीर ने अपनी सीमाओं और क्षेत्रों की रक्षा के लिए गठबंधन किया।

उन्होंने जयपाल नामक हिंदूशाही शासक की मदद की थी। तब से वे लगातार ग़ज़नी के आक्रमणकारी अभियानों से परेशान थे। सबुक्तगीन/सबुक्तगिन/सेबुक्तिगिन और अल्प-तिगिन का उत्तराधिकारी 977 सी.ई. के बाद से हिंदूशाही क्षेत्रों में एक ही तरह का इरादा

[4] एक योद्धा के लिए इस्लामी शब्द। यह एक उपाधि था जो मुस्लिम योद्धाओं या चौंपियन को दिया गया था और कई तुर्क (Ottoman) सुल्तानों द्वारा इस्तेमाल किया गया था।

[5] ऑक्सस मध्य एशिया की एक प्रमुख नदी का लैटिन नाम है, जिसे अमू दरिया के नाम से जाना जाता है, जिसे अमू या अमो नदी भी कहा जाता है। प्राचीन काल में यह आधुनिक ईरान और तूरान के बीच सीमा का सूचक है।

रखता था। नतीजतन, 10वीं शताब्दी के अंत तक जबुलिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान को पहले ही जीत लिया गया था। इन क्षेत्रों की विजय ने भारत में तुर्कों के अतिक्रमण की नींव रखी।

इसके अलावा, महमूद ग़ज़नी ने जिसे सुल्तान महमूद बिन सबुक्तिगिन के नाम से भी जाना जाता है) – सबुक्तिगिन के उत्तराधिकारी के रूप में 999 सी.ई. से आक्रमण जारी रखे। दिलचस्प बात यह है उसके सिक्कों पर ''महमूद ग़ज़नी'' शीर्षक न होकर आमिर महमूद का नाम मिलता है और न ही इन सिक्कों को खलीफा द्वारा जारी किया गया था। उसने फ़ारस और ट्रांसओक्सियाना में अपनी विजय के आधार पर आमिर महमूद की उपाधि को प्राप्त किया। उसने 1001 सी.ई. में जयपाल के खिलाफ एक उग्र लड़ाई लड़ी। यह घुड़सवार सेना और कुशल सैन्य रणनीति की लड़ाई थी। जयपाल को महमूद की सेनाओं ने बुरी तरह भगा दिया और उसकी राजधानी वैहिंद/पेशावर तबाह हो गई। फ़िर भी, शायद महमूद ने जयपाल के साथ शांति बनाई और सिंधु के पश्चिम क्षेत्र में विजय प्राप्त की। हालांकि, इस हार ने जयपाल को गंभीर झटका दिया और कुछ समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। सूत्रों के अनुसार उन्होंने अपनी हार के अपमान के परिणामस्वरूप अंतिम संस्कार की चिता में आत्मदाह कर लिया क्योंकि उन्होंने सोचा कि वे शाही राजवंश के लिए अपमान और आपदा लाए थे।

उनके बाद उनका बेटा आनंदपाल/अनंतपाल सिंहासन पर बैठा। वह अपने क्षेत्र में तुर्की छापों को चुनौती देता रहा। पंजाब में प्रवेश करने से पहले, महमूद को अभी भी सिंधु के पास आनंदपाल की सेना के साथ संघर्ष करना पड़ा था। एक कठिन चुनौती के बाद 1006 सी.ई. में ऊपरी सिंधु पर विजय प्राप्त की। पंजाब प्रांत आखिरकार तीन साल बाद सिंधु के पूर्वी क्षेत्र के छछ/चच मैदानों में जीता गया। शाहियों ने वैहिंद में अपनी पिछली हार के बाद वर्तमान पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में साल्ट रेंज में नंदाना/नंदना में अपनी राजधानी स्थानांतरित कर ली थी। महमूद की सेना ने आनंदपाल की सेना और संसाधनों को भारी क्षति पहुँचाई। आनंदपाल लड़ाई हार गया। उसे बहुत वित्तीय और क्षेत्रीय नुकसान उठाना पड़ा। महमूद के प्रति आनंदपाल का यह अंतिम प्रतिरोध था। 1010 सी.ई. में ग़ज़नवी के साथ उन्हें एक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया गया और कुछ ही साल बाद उनकी प्राकृतिक कारणों से मृत्यु हो गई।

भीमगढ़ किले को रियासी के पास स्थित होने के कारण रियासी किला भी कहा जाता है। रियासी वर्तमान जम्मू के उत्तर-पश्चिम में चिनाब नदी के किनारे एक शहर है। उस भीमगढ़ किले पर भी कब्ज़ा कर लिया गया था। लेकिन आनंदपाल को महमूद के सामंती के रूप में पंजाब पर शासन करने की अनुमति दी गई थी। हालाँकि, 1015 सी.ई. में महमूद ने लाहौर को जीतकर झेलम नदी तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। मुल्तान, जिस पर एक मुस्लिम सुल्तान का शासन था, आनंदपाल के साथ गठबंधन के बावजूद हार गया। हालाँकि, कश्मीर पर विजय प्राप्त करने की महमूद की इच्छा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण 1015 सी.ई. में अपनी सेनाओं की हार के कारण अधूरी रह गई। भारत में यह उसकी पहली हार थी।

इसी तरह महमूद ने पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान, पंजाब और मुल्तान को जीतकर भारत की ओर अपना रास्ता बनाया। अगले पड़ाव में गंगा के मैदानों में आक्रमण के माध्यम से धन अर्जित करना उसका उद्देश्य था।

11वीं शताब्दी की शुरुआत में उत्तर भारत का राजनीतिक भूगोल

गुप्तोत्तर काल से दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक उत्तर भारत का क्षेत्र कई राजपूत राज्यों में विभाजित हो गया। लगभग यही स्थिति दक्षिण भारत की भी थी। वास्तव में,

इस अवधि में उत्तर भारत में गुप्तों की तरह एक विशाल साम्राज्य का अभाव था। इस समय की राजनीतिक जलवायु गुर्जर-प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष की थी।

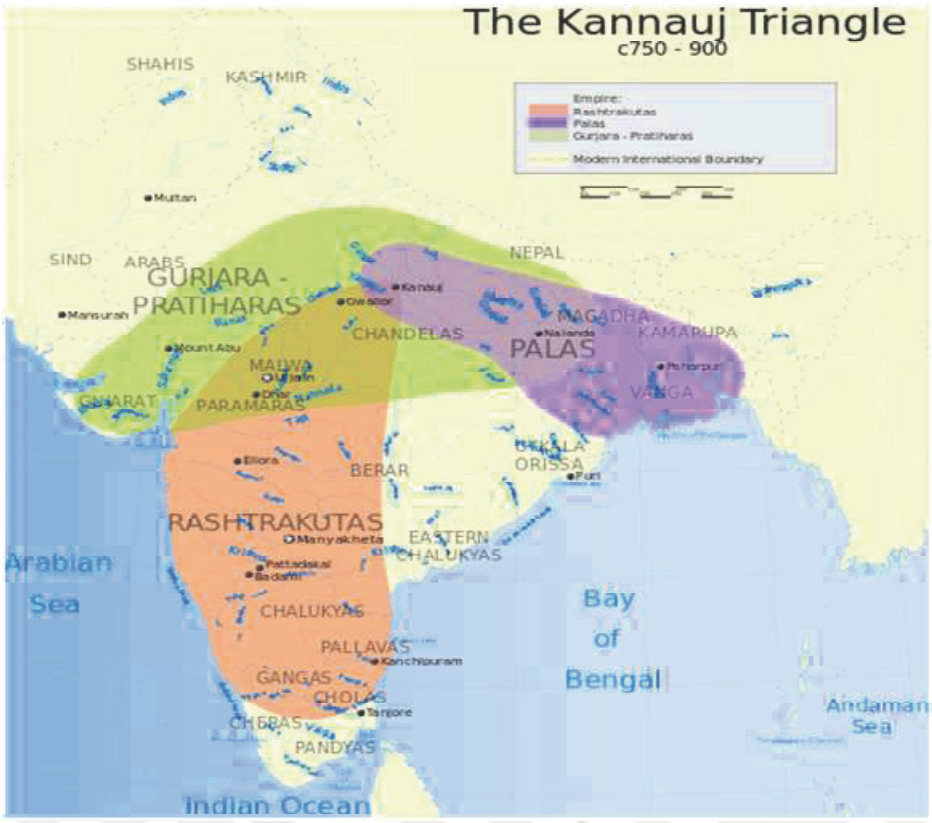

साभारः डब्ल्यू: यूज़रः प्लेनमैड। स्रोतः जॉन केय, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया 2000, ग्रोव प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृ. 198। चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Indian_Kanauj_ triangle_map.svg).

गुर्जर-प्रतिहार और राष्ट्रकूट उस समय भारत के दो सबसे शक्तिशाली राजघराने थे। हालांकि, 10वीं शताब्दी के मध्य तक दोनों का पतन होने लगा। गुर्जर-प्रतिहारों का आधिपत्य उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण में उज्जैन तक और पूर्व में मोंग्यर से पश्चिम में गुजरात तक फैला हुआ था। लेकिन 10वीं शताब्दी की दूसरी तिमाही तक वह सिर्फ वर्तमान उत्तर प्रदेश तक ही सीमित हो गया था। इस बीच, उत्तर और मध्य भारत में कई राज्य-समूहों का उदय हुआ। उनमें सबसे प्रमुख थेः

- आधुनिक राज्य मध्य प्रदेश में कालिंजर और महोबा के चंदेल,
- राजस्थान में शकंभरी या सांभर के चौहान/चहमान,
- गुजरात के चालुक्य (जिन्हें स्थानीय साहित्य में सोलंकी वंश के रूप में भी जाना जाता है), अपनी राजधानी अन्हिलवाड़ा (आधुनिक पाटन) के साथ, और
- मालवा के परमार, पश्चिमी मध्य प्रदेश में स्थित अपनी राजधानी धारा (अब धार) जो बाद में लगभग 35 किमी दूर मंडप-दुर्गा (अब मांडू) में स्थानांतरित कर दी गई थी। वर्तमान धार अथवा तत्कालीन धारा कई बार दुश्मनों द्वारा नष्ट की गई।

कश्मीर पर रानी दिद्दा का शासन था। उन्होंने 26 साल[6] तक शासन किया। हिंदू शाही वंश के साथ पुरानी प्रतिद्वंद्विता के कारण उन्होंने ग़ज़नवी के आक्रमण के खिलाफ उनकी मदद

[6] वह 958 से 1003 सी.ई. तक कश्मीर की शासक थी। पहले अपने बेटे और पोतों के लिए राज-प्रतिनिधि के रूप में और 980 सी.ई. से एकमात्र सम्राट के रूप में उसने शासन किया। हमें उसके और उसके शासनकाल के बारे में जानकारी 12वीं शताब्दी के कल्हण की *राजतरंगिणी* से मिली जो उत्तर-पश्चिमी भारतीय उपमहाद्वीप, विशेषकर कश्मीर के राजाओं के बारे में संस्कृत में एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक इतिवृत्त है।

नहीं की। इसलिए, हम देख सकते हैं कि उत्तर भारत विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ पूरी तरह से असंगठित था। इस कारण से, महमूद के लिए इस क्षेत्र में आक्रमण करना आसान था। पंजाब के बाद उसने धन प्राप्ति के लिए गंगा के मैदानों में तीन अभियान किए। 1015 सी.ई. के अंत तक उसने कुछ सामंती शासकों की मदद से हिमालय की तलहटी के साथ-साथ बारां या बुलंदशहर के एक स्थानीय राजपूत शासक को हराया। इसके बाद उसने मथुरा और वृंदावन दोनों के मंदिरों को लूटा।

महमूद द्वारा मथुरा की लूटपाट

पवित्र शहर मथुरा, हिंदू धर्म का एक प्राचीन स्थल, उन दिनों मंदिरों से भरा था। इसे देखकर महमूद ने सोचा था कि ''यह आदमी द्वारा नहीं बल्कि जिन्न द्वारा बनाया गया है''; जहां गहनों के साथ चमकती हुई *स्वर्ण* और चांदी की मूर्तियाँ इतने विशाल रूप में खड़ी थीं कि उन्हें तौलने के लिए तोड़ना पड़ा। उसे शहर की दीवार, जो एक मज़बूत पत्थर से निर्मित उत्कृष्ट संरचना थी और बाढ़ से बचाने के लिए यमुना नदी पर दो द्वार थे जो ऊँचे और बड़े चबूतरे पर खड़े थे, उनका सामना करना पड़ा। शहर के दो किनारों पर मंदिरों के साथ हजारों घर थे, जिनके साथ मंदिर जुड़े थे। सभी की पक्की इमारतों के साथ लोहे की मज़बूत सलाखें थीं। इसके दूसरी ओर अन्य इमारतें लकड़ी के खंभों पर टिकी थीं। शहर के बीच में एक मंदिर था, जिसकी बारीकी और विशालता की गणना न तो कोई चित्र और न ही कोई विवरण कर सकता था। उसने इस मंदिर का आश्चर्य के साथ वर्णन किया है :

''अगर कोई भी इसके बराबर एक इमारत का निर्माण करना चाहता है, तो वह 1 करोड़ दीनार को खर्च किए बिना ऐसा करने में सक्षम नहीं होगा और काम में 200 साल लगेंगे, भले ही सबसे सक्षम और अनुभवी कामगार इसे बनाने में लगे हों।''

सभी मंदिरों को मिट्टी के तेल/किरोसीन तेल और आग से जलाकर नष्ट कर दिया गया और ज़मीन तक समतल कर दिया गया। मथुरा शहर में 20 दिनों तक तोड़फोड़ और लूटपाट की गई। कहा जाता है कि शुद्ध सोने की पांच महान मूर्तियों, जिनमें माणिक की आंखें और अन्य कीमती पत्थरों के अलंकरण थे, साथ में बड़ी संख्या में चांदी की छोटी मूर्तियों को लूटा गया। उनका कुल वज़न सौ से अधिक ऊंटों के लिए भार के बराबर था। लूट का कुल मूल्य तीन लाख रुपये आंका गया था जबकि कैद में रखे गए हिंदुओं की संख्या 5000 से अधिक थी। कई मंदिर मूल्यवान सामग्रियों की लूट के बाद छोड़ दिए गये क्योंकि वो इतने विशाल थे कि उन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि महमूद ने उन मंदिरों की सुंदरता, भव्यता के कारण उन्हें नष्ट नहीं किया। यह उसके ग़ज़नी के राज्यपाल को भेजे गए पत्र में उनके गौरव और विलक्षणता के बयान पर आधारित है।

इस शानदार जीत के बाद उसने गुर्जर-प्रतिहारों की प्रतिष्ठित राजधानी कन्नौज पर हमला किया। इसे हिंदुस्तान का प्रमुख शहर माना जाता था। गंगा घाटी में यह उसके लिए सबसे आश्चर्यजनक पड़ाव था। राजा को मात्र इतना ही पता चला कि सुल्तान ने आक्रमण किया और वह भाग गया। इस महान गंगा शहर के सात किलों को एक ही दिन में गिरा दिया गया। कन्नौज के सभी भव्य मंदिरों में से एक को भी नहीं छोड़ा गया। न ही पड़ोसी राजा अधिक भाग्यशाली थे जैसे असी के शासक चंदल भोर, शारवा के हिंदू राजा चंद राय जिनका राज्य शिवालिक पहाड़ियों में फैला था। उन्होंने अपने खज़ाने को इकट्ठा किया और पहाड़ियों की ओर जाने लगे, लेकिन उनके दुश्मन महमूद ने उन्हें जंगल के रास्ते पर ही पकड़ लिया। कैदियों व लूट का सामान इतनी तादाद में वह घर ले आया कि उनसे फ़ारस

के दास-बाजार भर गये। अब वहाँ कुछ चन्द पैसों में एक दास को खरीदा जा सकता था। भारत में धन की लूट से उसे मध्य एशिया में अपने दुश्मनों के खिलाफ मदद मिली। उसने ईरान में भी अपना साम्राज्य बढ़ाया और बग़दाद के खलीफा ने उसे मान्यता दी।

महमूद ग़ज़नी ने 1019 और 1021 सी.ई. में गंगा घाटी में दो और छापे मारे। लेकिन उसे इनसे उतना लाभ नहीं मिला। सबसे पहले गंगा की घाटी में एक राजपूत गठबंधन को तोड़ना था। ग्वालियर के राजपूत राजा ने महमूद के खिलाफ हिंदूशाही सम्राट की मदद की थी। महमूद ने हिंदूशाही और चंदेल शासकों दोनों को हराया। इसके अलावा, वह चंदेल सम्राट विद्याधर को हराने के लिए आगे बढ़ा। लेकिन दोनों के बीच कुछ भी निर्णायक नहीं हुआ। महमूद ने विद्याधर से एक मामूली रकम स्वीकार कर ली।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि उत्तर भारत में महमूद के इस तरह के अभियानों का उद्देश्य पंजाब के आगे साम्राज्य का विस्तार करना नहीं था। वह केवल एक तरफ राज्यों की संपत्ति को लूटता था और दूसरी ओर ऊपरी गंगा *दोआब* में बिना किसी शक्तिशाली स्थानीय शक्ति के एक तटस्थ क्षेत्र बनाना चाहता था। वास्तव में, महमूद ग़ज़नी के इन हमलों ने शक्तिशाली शाही और चंदेल क्षेत्रों को भी पूरी तरह से तबाह कर दिया। महमूद ग़ज़नी का आखिरी बड़ा आक्रमण गुजरात के पश्चिमी तट पर 1025 सी.ई. में सौराष्ट्र के सोमनाथ मंदिर पर हुआ था। इसके लिए राजस्थान के थार रेगिस्तान तक पहुँच गया था जिस पर अभी तक किसी आक्रमणकारी ने हमला नहीं किया था।

महमूद द्वारा सोमनाथ की लूटमार

1025-26 सी.ई. की सर्दियों में महमूद ने अपने अंतिम पड़ाव में गुजरात पर आक्रमण किया। उसने समृद्ध और अलौकिक सोमनाथ मंदिर को लूटा और अपनी विजय यात्रा के लिए खूब धन लूटा। ऐसा कहा जाता है कि किसी भी समय एक सौ हजार तीर्थयात्री वहाँ इकट्ठे होते थे। एक हजार *ब्राह्मण* मंदिर की सेवा और इसके खज़ाने की रक्षा करते। इसके द्वार पर सैकड़ों नर्तकियाँ और गायक प्रदर्शन करते थे। मंदिर *गर्भगृह* में प्रसिद्ध *लिंग* जगमगाते हुए रत्नों से अलंकृत था। यह आभूषणों से सजाए गए विशालकाय पत्थरों से अलंकृत और आभूषणों से झूलती हुई दीपवृक्षों की रोशनी से सजा था। जब तक यह प्राचीन महान और भव्य पूजनीय प्रतीक अपनी प्राचीन महिमा में अनतिक्रान्त था तब तक महमूद अपनी मूर्ति भंजन परंपरा को छोड़ नहीं

सोमनाथ मंदिर का खंडहर। लगभग 1869 में डी. एच. साइक्स द्वारा लिया गया चित्र; भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण। स्रोतः डी. एच. साइक्स। चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स (http://en.wikipedia.org/wiki/File:Ruins_somnath_temple.jpg.(https://commons.wikimedia .org/wiki/File:Somnath_temple_ruins_(1869).jpg).

सकता था और न ही उसका खज़ाना भारत के बेहतरीन रत्नों से भरा हो सकता था। इसलिए, उसका अभियान मुल्तान से लेकर अन्हलवाड़ तक और समुद्र तट पर जारी रहा। वह लगातार लड़ता रहा और कत्लेआम करता रहा, जब तक कि वह अरब सागर की लहरों से धोए गए मंदिर के किले में नहीं पहुँच गया। मंदिर की सुरक्षा और सेवा में लगे पुरुषों के बावजूद अपने बल के साथ लगभग 50,000 हिंदुओं को मारते हुए, दीवारों को तोड़ दिया। महान पत्थर को नीचे गिरा दिया गया और इसके टुकड़ों को विजेता के महल को सुशोभित करने के लिए ले जाया गया। लूटे हुए मंदिर-द्वार ग़ज़नी में लगाए गए। दस लाख पाउंड का खज़ाना उन आक्रमणकारी-लुटेरों के लिए इनाम था, जो भारत और उससे आगे के कुख्यात अभियानों में उसके साथ शामिल हुए थे।

सोमनाथ की तबाही ने ग़ज़नी के महमूद को चौंपियन और इस्लामिक आस्था का पथ-प्रदर्शक तथा हिंदू विश्वास का विरोधी बना दिया। लगभग नौ शताब्दियों तक हर मुस्लिम की नज़र में उसके करतब शानदार किंवदंतियों के साथ जुड़े और सुशोभित हुए, जिनमें उनकी और उसकी सेना का गुणगान किया गया।

महमूद के सफल सैन्य अभियानों की ताकत और पैमाने से उसके और उसके सैनिकों के सामने आने वाली कठिनाइयाँ कम नहीं हुईं, बल्कि लौटते समय और अधिक हो गईं। पानी की कमी के कारण उसकी सेना अधिक संख्या में मारी गई और रेगिस्तान में भटक गई। जो लोग बच गए वे साल्ट रेंज के उग्र जाटों के हाथों में पड़ गए। उन्होंने थके हुए सैनिकों को परेशान किया क्योंकि वे लूट की वस्तुओं से लदे थे। साल खत्म होने से पहले महमूद ने अपने सैनिकों को आखिरी बार भारत में धर्म-विरोधी और प्रदर्शनकारी ताकतों को दंडित करने के लिए प्रेरित किया। सूत्रों के अनुसार, उसने मुल्तान में एक बेड़ा बनाया और इसे कीलों और मेढ़ों से लैस किया। उसने अपनी 1400 नावों में से प्रत्येक पर नेफ्था बम के साथ 20 तीरंदाजों को रखा और 4000 जाटों की विरोधी सेना का सामना किया। नेफ्था को बरसा कर उसने उनके जहाजों को जला दिया। हालांकि, इन विवरणों को गढ़ा हुआ अथवा अतिरंजित कहा जा सकता है। क्योंकि ऊपरी सिंधु पर कई नावें कभी नहीं हो सकतीं और दूसरी बात, पहाड़ी जन *जाति*याँ आमतौर पर नौसैनिक युद्ध में माहिर नहीं थीं। उसके द्वारा जाटों से भूमि या पानी के माध्यम से बदला लेना आश्वासन के साथ नहीं कहा जा सकता। वह ग़ज़नी में लौट आया और चार साल बाद 1030 सी.ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

महमूद ग़ज़नी एक साहसी योद्धा था। उसके पास महान सैन्य क्षमताएं और राजनीतिक उपलब्धियां थीं। उसने ग़ज़ना/ग़ज़नी/ग़ज़नीह के एक छोटे से राज्य को एक विशाल और समृद्ध साम्राज्य में बदल दिया था, जिसमें वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान, पूर्वी ईरान और भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भागों के अधिकांश हिस्से शामिल थे। अपने जंगी कौशल के अलावा वह ग़ज़नवी साम्राज्य में फ़ारसी साहित्य का संरक्षक भी था। समानिद बुखारा और खुरासन के सांस्कृतिक केंद्रों से प्रभावित हो कर उसने ग़ज़नी को फ़ारसी विद्वता का केंद्र बनाया। वहाँ उसने कई कवियों और लेखकों को आमंत्रित कियाः

- फ़िरदौसी
- अल्बरूनी
- युज़ारी
- उनसुरी आदि।

उसके द्वारा ग़ज़नी राज्य में धूमधाम, प्रदर्शन और भव्यता ज़्यादातर भारत से लूट के धन के कारण संभव बन सकी।

बोध प्रश्न 1

1) किन कारकों ने तुर्की योद्धाओं की सैन्य दक्षता को बढ़ाया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 11वीं शताब्दी में उत्तर भारत में राजपूतों में एकता के अभाव पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

12.4 भारत और मध्य एशिया में ग़ज़नवियों का पतन और गौरी वंश का उदय

यह देखा गया कि भारत में धन की लूट के बावजूद महमूद एक अच्छा और सक्षम शासक नहीं बन सका। उसने अपने राज्य में कोई स्थायी संस्थान नहीं बनाया और ग़ज़नी के बाहर उसका शासन अत्याचारी था। शायद यही कारण था कि ग़ज़नवी इतिहासकार उतबी[7] ने खुरसान/खोरासन[8], जब वो महमूद के शासन के तहत था, के संदर्भ में कहा है:

''मामलों में कर वसूलने के अलावा कुछ भी नहीं था, जिसके परिणाम स्वरूप बिना किसी रचनात्मक उपाय के राजस्व के नए स्रोतों को ईजाद करने का प्रयास किया जाता था। अतेव, कुछ समय में खुरसान अत्यंत गरीब हो गया''।

ग़ज़नवी और सेलजुकिड साम्राज्य के बीच स्थित एक छोटे और अलग प्रांत ''गुर'' का अप्रत्याशित उदय 12वीं शताब्दी की एक असामान्य घटना थी। यह वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान के सबसे कम विकसित क्षेत्रों में से एक था। यह पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान में हेरात/हरि नदी की उपजाऊ घाटी में ग़ज़नी के पश्चिम और हेरात प्रांत के पूर्व में स्थित था। चूंकि यह एक पहाड़ी पथ था, इसलिए इसका मुख्य व्यवसाय अधिकतर पशु-पालन या कृषि था। यह मुस्लिम रियासतों से घिरा एक बुतपरस्त (pagan) क्षेत्र था। परन्तु, 10वीं शताब्दी के अंत और 11वीं शताब्दी की शुरुआत में ग़ज़नवियों द्वारा इसका ''इस्लामीकरण'' किया गया। गौरी शासक या शंसबनिद (Shansabanids) छोटे स्तर के पशुपालक मुखिया (chieftains) थे। उन्होंने 12वीं शताब्दी के मध्य में हेरात में हस्तक्षेप करके खुद को सर्वोच्च बनाने की कोशिश की, जब इसके नियंत्रण/शासक ने संजर नाम के सैलजुकिड राजा के खिलाफ़

[7] पूरा नामः अबू नसर मुहम्मद इब्न मुहम्मद अल जब्बारू-एल'उतबी (या अल-उतबी)।

[8] महान ईरान के उत्तर-पूर्व का क्षेत्र जिसमें मध्य एशिया और अफ़ग़ानिस्तान के कुछ हिस्से शामिल हैं। यह शब्द केवल पूर्व (शाब्दिक रूप से ''सूर्योदय'') को दर्शाता है।

विद्रोह किया। ग़ज़नवियों ने गौरियों के इस कृत्य से खतरा महसूस करते हुए गौरी सम्राट हुसैन शाह के भाई को कैद करके उसे ज़हर दे दिया। इससे क्रोधित होकर हुसैन शाह ने ग़ज़नवी शासक बहराम शाह को हराकर ग़ज़नी पर कब्ज़ा कर लिया। ग़ज़नी शहर को लूटा गया और तहस-नहस कर दिया गया। इसी कारण से अलाउद्दीन को *जहान् सोज़* (दुनिया को जलाने वाला) की उपाधि दी गई। इस घटनाक्रम ने ग़ज़नवियों के पतन और गौरियों के उदय को चिह्नित किया।

अब गौरी लोग सेलजुकिडों से मुक्त होना चाहते थे और खुरसान व मर्व के समृद्ध क्षेत्रों पर अपने नियंत्रण के लिए लड़ना चाहते थे। ग़ज़नवियों की तरह वे भी सामान्य जन पर बोझल करों के कारण अलोकप्रिय थे। इससे उनके लिए इस क्षेत्र में अपने अधिकार और व्यवस्था को बनाए रखना मुश्किल हो गया। इसके अलावा, वे लगातार ऑक्सस नदी के पार की अन्य तुर्की जनजतियों से भिड़ते रहते थे। 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में उनके अंतर्ग्रहण के पीछे ये व्यापक कारण थे। 1163 सी.ई. में गुर के शासक बने गियासुद्दीन मुहम्मद ने अपने छोटे भाई मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद को ग़ज़ना का राजा बनाया। दूसरी तरफ उसने स्वयं को मध्य और पश्चिम एशियाई मामलों पर केंद्रित किया।

12वीं शताब्दी की शुरुआत में उत्तर भारत का राजनीतिक परिदृश्य

12वीं शताब्दी के उत्तर भारत में अलग-अलग राजपूत राज्यों के बीच वही एकता का अभाव देखा गया जो 11वीं शताब्दी में ग़ज़नवी आक्रमणों के दौरान सामने आया था। इस काल के शक्तिशाली राज्यों में से एक राज्य चाहमानों या चौहानों का था। इन्होंने दिल्ली, मथुरा, गुजरात, राजपूताना[9] आदि की ओर अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास किया। चौहान राजा विग्रहराज ने चित्तौड़ पर विजय प्राप्त की और 1151 सी.ई. में दिल्ली को तोमर राजाओं से भी जीता। उसने दिल्ली और हाँसी के बीच के क्षेत्र पर भी कब्ज़ा करने की कोशिश की जो तोमर और ग़ज़नवी शासकों के बीच एक विवादित क्षेत्र था। चौहानों को ग़ज़नवी आक्रमणों का सामना करना पड़ा।

पृथ्वीराज III, जिसे लोक कथाओं में **पृथ्वीराज चौहान** या **राय पिथौरा** के नाम से जाना जाता है, इस राजवंश का सबसे प्रमुख और प्रतिष्ठित सम्राट था। उन्होंने संभवतः 16 साल की उम्र में सिंहासन संभाला और राजपूताना में तेजी से अपने साम्राज्य का विस्तार किया। कई राजपूत राज्यों पर विजय प्राप्त की। उन्होंने खजुराहो और महोबा के चन्देलों की ओर अभियान का नेतृत्व भी किया। जैसा कि 11वीं शताब्दी में देखा गया था कि चंदेलों ने भारत के उत्तर और मध्य क्षेत्रों में सबसे शक्तिशाली राज्य का गठन किया था। यहाँ तक कि ग़ज़नवियों को कड़ी टक्कर देने का गौरवशाली इतिहास भी उनसे संबंद्ध था। महोबा को चौहानों से बचाने के लिए लड़ने वाले एवं वीरगति को प्राप्त हुए प्रसिद्ध योद्धाओं आल्हा और उदल का उल्लेख *पृथ्वीराज-रासो* और *आल्हा-खंड* नामक साहित्यिक कृतियों में किया गया है। हालाँकि, चूंकि ये रचनाएं बहुत बाद में लिखी गईं, इसलिए इनके आख्यानों पर इतिहासकारों को संदेह है। फ़िर भी, जो विश्वास करने लायक है वह यह है कि वास्तव में चौहानों ने चंदेलों को पूरी तरह से नेस्तनाबूत किया। चौहान अपने पुराने प्रतिद्वंदी – गुजरात के चालुक्यों – को हराने के भी आकांक्षी थे, परन्तु वे ऐसा कर न सके। इसके बाद उन्होंने गंगा घाटी और पंजाब में उसी महत्वाकांक्षा को पूरा करने की कोशिश की।

इस समय गहढ़वाल कन्नौज को अपनी राजधानी बनाकर उत्तरी मैदानों पर शासन कर रहे थे। मौखिक आख्यानों के अनुसार, जो ऐतिहासिक रूप से अविश्वसनीय और

[9] इसका शाब्दिक अर्थ है ''राजपूतों की भूमि''। इस क्षेत्र में मुख्य रूप से वर्तमान भारतीय राज्यों – राजस्थान, मध्य प्रदेश और गुजरात के कुछ हिस्से तथा आधुनिक दक्षिणी पाकिस्तान में सिंध के आसपास के कुछ क्षेत्र शामिल थे।

अप्रामाणिक हैं, दोनों राजनीतिक शक्तियों के बीच प्रतिद्वंद्विता का मुख्य कारण गहढ़वाल सम्राट जय चन्द की बेटी का अपहरण था। कहानी के अनुसार उनकी बेटी संयोगिता का उसके *स्वयंवर* में पृथ्वीराज चौहान ने अपहरण कर लिया, जिसने जय चंद के गुस्से को भढ़का दिया। परन्तु इस कथा की अन्य ऐतिहासिक स्रोतों, जैसे साहित्यिक कृतियों, शिलालेखों आदि द्वारा पुष्टि नहीं की गई है, इसलिए यह विश्वसनीय नहीं है। प्रतिद्वंदविता का मुख्य कारण पृथ्वीराज की गंगा के मैदानी क्षेत्र को जीतने की तीव्र इच्छा हो सकता है।

संक्षेप में, यह तर्क दिया जाता है कि भारत के उत्तरी और मध्य राज्य विदेशी आक्रमणकारी मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद गौरी के खिलाफ़ एकजुट नहीं हो सकें क्योंकि वे एक दूसरे के बीच विभाजित थे। नतीजन, 1192 सी.ई. में गौरियों के लिए चौहानों को हराना इतना मुष्किल नहीं था। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, गौरी को उसके बड़े भाई गियासुद्दीन द्वारा 1173 सी.ई. में ग़ज़ना के सिहांसन पर बैठाया गया था। उसने भारत में लगभग ग़ज़नवियों द्वारा प्रशस्त मार्ग का ही अनुसरण किया। दूसरे शब्दों में, मुइज़्ज़ुद्दीन भी उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र से भारत की ओर बढ़ने लगा। सबसे पहले उसने 1175 सी.ई. में मुल्तान को करमाथियनों (Carmathians) या कारमातियों (Karamatis) से जीत लिया, जिनके राज्य की सीमाएँ भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम हिस्से से और पश्चिम में ईरान तक फैली थीं। अगले कुछ वर्षों में उसने उच्च (Uchch) पर कब्ज़ा किया और फ़िर गुजरात में नेहरवाला की ओर प्रस्थान किया।

बाएं : अजमेर (राजस्थान) स्थित पृथ्वीराज चौहान की मूर्ति। स्रोत : Prithviraj chauhan. JPG। चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Prithvi_Raj_Chauhan_(Edited).jpg)।

दाएं : किला राय पिथौरा, दिल्ली में पृथ्वीराज चौहान की मूर्ति। श्रेयः आषीश भटनागर। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Prithviraj_Chauhan_III_statue_at_Qila_Rai_Pithora,_Delhi.jpg)।

जैसा कि हमें पहले से पता है कि इस अवधि के दौरान गुजरात में चालुक्यों का शासन था और उन्होंने माउंट आबू के पास गौरी वंश के लोगों को बुरी तरह से हराया। चालुक्यों ने चौहानों से गौरियों के खिलाफ मदद के लिए अनुरोध किया था लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। पृथ्वीराज ने मदद करने से इनकार कर दिया क्योंकि उन्होंने चालुक्यों के विरोध में गौरियों को एक कट्टर प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखा। गुजरात में तबाही का अनुभव होने के बाद गौरी ने अपनी कार्य-योजना बदल दी। उसने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर सबसे पहले ग़ज़नवियों को अपने अधीन करने का प्रयास किया। 1179-80 सी.ई. में पेशावर में

उन्हें हराने के बाद उसने लाहौर के ग़ज़नवी शासक खुसरु मलिक को 1181 सी.ई. हराया। इसके बाद, मलिक को कुछ समय के लिए लाहौर पर शासन करने की अनुमति दी गई क्योंकि गौरी पंजाब और सिंध के कुछ हिस्सों पर अपना नियंत्रण बढ़ानें में व्यस्त था। हालाँकि, बहुत जल्द मलिक को भी गुलामों ने मौत के घाट उतार दिया।

तराइन-युद्ध (1191 और 1192 सी.ई.)

उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में इन विजयों के बाद गौरी ने पंजाब में तबरहिन्द के किले पर कब्ज़ा कर लिया। तबरहिन्द रणनीतिक रूप से दिल्ली की सुरक्षा और संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण था। शायद इसी वजह से, बिना समय बर्बाद किए पृथ्वीराज चौहान स्थिति को पलटने के लिए तबरहिन्द पहुँचे। 1191 सी.ई. में दोनों सेनाओं के बीच लड़े गए युद्ध को तराइन के प्रथम युद्ध के रूप में जाना जाता है। केवल पृथ्वीराज ने गौरी को जीता ही नहीं, बल्कि उसे बुरी तरह से घायल कर दिया। हालांकि, गौरी को एक खिलजी घुड़सवार ने बचाया और उसकी सुरक्षा की। इस जीत के साथ पृथ्वीराज ने गौरी को पकड़ लिया और यह सुनिश्चित किया कि ग़ज़नवियों की तरह गौरी भी भारत के बाहर केवल सीमावर्ती क्षेत्रों पर ही शासन करेगा। तबरहिन्द पर हुए गौरी के हमले को उसके द्वारा किया गया केवल एक सीमावर्ती हमला माना गया। पृथ्वीराज ने गौरियों को बाहरी क्षेत्रों से बाहर न करने में चुप्पी साधे रखी, जो कुछ समय बाद उसे महंगा पड़ गया।

1192 सी.ई. में तुर्की सेना ने दूसरी बार हमला किया जिसे तराइन के द्वितीय युद्ध के रूप में जाना जाता है। इस बार गौरी अच्छी तैयारी के साथ आया था। चौहानों को हराने के लिए उसने सावधानीपूर्वक अपनी चाल चली थी। उसकी सेना में 120,000 सैनिक शामिल थे जो पूरी तरह से बख्तरबंद और लैस थे। फरिश्ता नामक 17वीं शताब्दी के इतिहासकार ने बताया कि पृथ्वीराज की सेनाओं में 300,000 घुड़सवार, 3000 हाथी आदि शामिल थे। इस तरह के आंकड़े पृथ्वीराज पर गौरी की जीत की चुनौती और पैमाना दिखाने के लिए अतिशयोक्ति हो सकते हैं। फरिश्ता ने यह भी दावा किया कि पृथ्वीराज ने दूसरे ''हिंद के रायसों'' से मदद मांगी जो गौरी के खिलाफ उसके साथ जुड़ गये। इस तथ्य को देखते हुए कि पृथ्वीराज की विस्तारवादी प्रवृत्ति ने उनके अधिकांश पड़ोसी राज्यों को नाराज़ कर दिया था, इतिहासकारों के लिए फरिश्ता के दावे को स्वीकार करना मुश्किल है। इसके अलावा, चूंकि एक भी अनुकूल रायसों का नाम उनके द्वारा नहीं लिया गया है, इसलिए उनका यह कहना संदिग्ध है। शायद पृथ्वीराज की सेना में उनके सामंत शामिल थे, जिन्होंने अपनी जंगी सेना से आपूर्ति की थी। उनकी विकेंद्रीकृत सेना मुइज़्ज़ुद्दीन की अनुशासित और केंद्रीयकृत सेना से कम थी।

सतीश चंद्र का मानना है कि तराइन का दूसरा युद्ध ''स्थिति की तुलना में आंदोलन का युद्ध'' था। वे बताते हैं कि मुइज़्ज़ुद्दीन के ''हल्के से सशस्त्र घुड़सवार'' पृथ्वीराज की ''धीमी गति से आगे बढ़ने वाली सेना'' को परेशान करते रहे और हर तरफ से हमला करने का भ्रम पैदा करते रहे। इस युद्ध में चौहान शासक बुरी तरह से पराजित हुआ। उसे हरियाणा के वर्तमान हिसार जिले में सरसुती या सिरसा के पास तुर्की सेना ने पकड़ लिया। मिन्हाज सिराज का उल्लेख है कि उनकी हार के बाद उन्हें पकड़ लिया गया और उन्हें मार दिया गया। हालांकि, उपलब्ध सिक्कों के प्रमाणों के आधार पर हसन निज़ामी नाम के एक आधुनिक विद्वान ने सिराज के इस दावे का खंडन किया और कहा कि पृथ्वीराज को अपनी हार के बाद भी अजमेर में शासन करने की अनुमति थी। पृथ्वीराज के सिक्कों के आधार पर, जो इन शब्दों को प्रकट करते हैं –''श्री मुहम्मद सैम''। निज़ामी ने इसका विरोध किया है। उसके अनुसार, पृथ्वीराज को उसके विद्रोह के कुछ समय बाद ही मार दिया गया था। इसलिए, उनके निष्पादन की सभी कथाएँ जो ऐतिहासिक स्रोतों पर आधारित नहीं हैं, वे संदेहास्पद और संदिग्ध हैं।

ऊपरी गंगा घाटी अभियान

लड़ाई के बाद मुइज़्ज़ुद्दीन ने एक सतर्क नीति अपनाई। उसने कई स्थानों पर अभी भी स्वदेशी शासन को जारी रखा। उसने गोविंदराज के बेटे को दिल्ली में एक जागीरदार के रूप में रखा। अगर फरिश्ता की मानें तो गोविंदराज दिल्ली के तोमर प्रमुख थे और उन्होंने तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की मदद की थी। इस लड़ाई में उनकी मौत हो गई थी। इसके अलावा, पृथ्वीराज को एक जागीरदार के रूप में अजमेर में बहाल किया गया था। दूसरी ओर, महत्वपूर्ण स्थानों को तुर्कों के नियंत्रण में रखा गया था। मुइज़्ज़ुद्दीन ने शिवालिक क्षेत्र, अजमेर, हिसार और सिरसा के बीच अपने क्षेत्र का विस्तार किया था। उसने हिसार और सिरसा को कुतुबुद्दीन ऐबक नामक अपने एक वफ़ादार गुलाम को दे रखा था। ऊपरी गंगा घाटी की ओर बढ़ने की योजना के बाद, तुर्कों को दिल्ली के सामरिक स्थान के महत्व का एहसास हुआ था। इसलिए, वे इसे तुर्कों के हाथों में रखना चाहते थे। इसके बाद, पृथ्वीराज के बेटे द्वारा अजमेर और दिल्ली में विद्रोह को तुरंत दबा दिया गया। तत्पश्चात, दिल्ली को प्रत्यक्ष तुर्की नियंत्रण में रखा गया। 1193 सी.ई. में राजद्रोह में शामिल होने के कारण तोमर को हटा दिया गया। दिल्ली के साथ अब अजमेर को भी पृथ्वीराज के भाई हरि सिंह को हराने के बाद ले लिया गया था। वे तुर्कों के खिलाफ राजपूत प्रतिरोध का नेतृत्व कर रहे थे। इसके अलावा, अजमेर को भी एक तुर्की नियंत्रक के अधीन रखा गया और पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद को रणथंभौर में स्थानांतरित करने के लिए मजबूर किया गया।

दिल्ली और अजमेर को तुर्कों के नियंत्रण में रखने के बाद गौरियों ने भारत के सबसे शक्तिशाली राज्य गहड़वालों के कन्नौज पर हमला करने की योजना बनाई। 1194 सी.ई. में भारत लौटने के साथ, मुइज़्ज़ुद्दीन ने दिल्ली के पड़ोसी क्षेत्रों को ऊपरी *दोआब*, अर्थात् मेरठ, बारां या बुलंदशहर और कोइल या अलीगढ़ पर कब्ज़ा कर लिया। इस ऊपरी *दोआब* क्षेत्र पर डोर राजपूतों का शासन था और इस क्षेत्र पर तराइन के द्वितीय युद्ध के कुछ समय बाद हमला किया गया था। यद्यपि गहड़वाल राजा जय चंद अपने पड़ोसी राज्यों की मदद कर सकता था। लेकिन फ़िर एक बार उसने दूर रहने का फैसला किया। उसके जैसे शासक, जो चौहान और पराजितों के प्रति उदासीन थे, भूल गए कि यदि तुर्कों को रोका नहीं गया तो उन पर भी हमला हो सकता है। विभिन्न राजपूत राज्यों के बीच इस तरह की एकता का अभाव भारत को भारी पड़ा। इसके कारण अधिकांश राज्यों को मुइज़्ज़ुद्दीन ने बिना किसी प्रयास के जीत लिया।

इसके अलावा, यहां तक कि गहड़वालों पर भी हमला किया गया। 1194 सी.ई. में मुज़्ज़ी सेनाओं ने कन्नौज और बनारस की ओर अभियान किया। आधुनिक इटावा जिले के चंदावर में एक लड़ाई लड़ी गई। जय चंद की सेना पर समकालीन साहित्यिक रचनाओं में अतिरंजित आंकड़े बताते हैं कि इसमें 80,000 कवच, 30,000 घुड़सवार, 300,000 पैदल सेना, 200,000 धनुर्धारी आदि शामिल थे, फ़िर भी गहड़वाल बुरी तरह से हार गए। 1198 सी.ई. में कन्नौज की भी घेराबंदी की गई थी। इस हार के बाद, विशेषकर फतेहपुर जिले के असनी के किले को लूट लिया गया, जहाँ गहड़वालों का खज़ाना था। यहां तक कि बनारस को लूट लिया गया और इसके मंदिरों को लूट लिया गया और नष्ट कर दिया गया।

तराइन के द्वितीय युद्ध में चौहानों और गहड़वालों की हार और चंदावर की लड़ाई क्रमशः तुर्कों के लिए सबसे बड़ी जीत थी, क्योंकि ये उनके लिए सबसे शक्तिशाली दुश्मन थे। तुर्कों ने इन विजयों के साथ गंगा घाटी में भी तुर्की शासन की नींव रखी। दो युद्धों के बाद भी गंगा घाटी में तुर्कों के आक्रमणों का विरोध किया गया था लेकिन इन छोटे विद्रोहों को आसानी से दबा दिया गया।

ऊपरी गंगा घाटी के अपने गढ़ को मज़बूत और संरक्षित करने के लिए तुर्कों ने अपने पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों पर हमला किया। उन्होंने दिल्ली और मालवा के बीच रणनीतिक किलों को जीतने की कोशिश की। इसलिए, बयाना की 1195-96 सी.ई. में घेराबंदी की गई और ग्वालियर किले को भी कुछ वर्षों के भीतर घेर लिया गया। इसी तरह, बुंदेलखंड, खजुराहो, महोबा और कालिंजर को चंदेल शासकों से जीत लिया गया था। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, चंदेल राज्य भी शक्तिशाली था लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। तुर्की सेनाओं ने गंगा घाटी के ऊपरी हिस्से के पूर्व और पश्चिम की ओर विस्तार करना शुरू कर दिया। मुइज़्ज़ुद्दीन की सेनाओं ने राय के प्रतिशोध में गुजरात में अन्हिलवाड़ा की घेराबंदी की, जिन्होंने पहले एक राजपूत विद्रोह में सहायता की थी। पूर्व की ओर बिहार और बंगाल को मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी ने जीत लिया था।

सभी दिशाओं में इस तरह के विस्तार के बावजूद तुर्क ज़्यादातर विजित क्षेत्रों को नियंत्रित करने में असमर्थ थे जो दिल्ली और ऊपरी गंगा घाटी के गढ़ से बहुत दूर थे। 1204 सी.ई. में ताज़ा मध्य एशियाई घटनाक्रमों के कारण इस समस्या ने उन्हें बहुत भारी नुकसान पहुँचाया। इस वर्ष ऑक्सस नदी के पास अंदखुई के युद्ध में समरकंद के बुतपरस्त (pagan) कारा खानिद तुर्कों द्वारा गौरी तुर्क बुरी तरह से हार गए थे। इस लड़ाई में मुइज़्ज़ुद्दीन की मौत की अफवाहों के कारण पंजाब में खोखरों का विद्रोह हुआ और उसे दबाने के लिए उसे वापस आने के लिए विवश किया गया। उसने विद्रोह को सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया लेकिन पंजाब से मध्य एशिया वापस आते समय करमातियों ने उसे मार डाला। हालांकि, उसकी मृत्यु ने भारत में तुर्की शासन के विस्तार को नहीं रोका, जैसा कि ग़ज़नवियों के मामले में देखा गया था। वास्तव में, उसके वफ़ादार गुलामों ने भारत में अपने शासन का विस्तार करने के लिए भारत में अधिक क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की, जिससे भारत में पहले मुस्लिम राज्य दिल्ली सल्तनत की स्थापना की गई।

बोध प्रश्न 2

1) सुमेलित करें।

i)

राजवंश	**शासक**
चौहान	जयपाल
हिंदूशाही	विग्रहराज
चंदेल	जय चंद
गहड़वाल	पृथ्वीराज

ii)

राजवंश	**क्षेत्र**
चौहान	दिल्ली
तोमर	बुंदेलखंड
चंदेल	अजमेर
चालुक्य	कन्नौज
गहड़वाल	गुजरात

2) उन कारकों पर चर्चा करें जिनके कारण भारत और अन्य जगहों पर तुर्की सेना को सफलता मिली।

.....

.....

.....

12.5 तुर्कों की विजय और राजपूतों की हार के कारण

भारत में राजपूतों की हार और तुर्कों की सफलता के लिए कई कारण बताए गए हैं। प्रारंभ में, यह बहस ब्रिटिश इतिहासकारों के साथ शुरू हुई जो भारतीय इतिहास को गहराई से समझने की कोशिश कर रहे थे। मुख्य रूप से, वे राजपूत शासकों पर तुर्कों की जीत के दो कारण आवश्यक मानते हैं। इन कारणों में वे राजपूत शासकों की शांतिवादी प्रकृति व तुर्कों की सैन्य शक्ति व निपुणता को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने कहा है कि गौरी सेनाओं में वे पुरुष शामिल थे जो मध्य एशिया में सिंधु और ऑक्सस नदियों के बीच पहाड़ी इलाकों में रहने वाले जंगी जनजातियों से आये थे। इसके अलावा, उन्होंने मध्य और पश्चिम एशिया की उग्र जनजातियों के विरूद्ध लड़कर सैन्य प्रशिक्षण और विशेषज्ञता प्राप्त की थी। तुर्कों और भारतीयों के बीच तुलना करके ब्रिटिश इतिहासकारों ने माना कि राजपूतों में इस तरह के प्रशिक्षण का अभाव था क्योंकि वे प्रकृति में शांतिवादी थे। वैकल्पिक रूप से भारतीय तुर्कों की तरह युद्ध लड़ने के आदी नहीं थे इसलिए राजपूतों को हार का सामना करना पड़ा। इसके अलावा, आक्रमणकारियों को इस बात का भी लाभ मिला कि राजपूतों में एकता की कमी थी।

हालांकि, अन्य इतिहासकारों ने इस स्पष्टीकरण को खारिज कर दिया है क्योंकि 8वीं से 12वीं शताब्दी की प्रारंभिक मध्ययुगीन अवधि भारत के भीतर विभिन्न राज्यों के बीच युद्ध और हिंसक आंतरिक संघर्षों में से एक थी। यह अपने आप में साबित करता है कि राजपूत शांतिवादी या शालीन स्वभाव के नहीं थे और उनमें जंगी भावना या बहादुरी की कमी नहीं थी।

जादुनाथ सरकार और मोहम्मद हबीब जैसे कुछ अन्य इतिहासकारों ने भारतीय सामाजिक संरचना व भारत में इस्लाम द्वारा बनायी गई नई संरचना को तुर्कों की सफलता का कारण बताया है। सरकार ने अरब, पठानों, तुर्कों आदि मुस्लिम समूहों को इस्लाम द्वारा प्रदान की जाने वाली विशेषताओं पर ज़ोर दिया है, जिन्होंने भारत में उनकी जीत की नींव तैयार की। उन्होंने तर्क दिया कि भारत के *जाति*-विभाजित समाज के विपरीत इस्लामी सामाजिक व्यवस्था कानूनी और धार्मिक क्षेत्रों में समानता और सामाजिक एकजुटता पर आधारित थी। उन्होंने यह भी कहा कि इस्लामी व्यवस्था में ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास ने मुसलमानों को एक अभियान और मिशन की भावना दी। इसने लोगों के विभिन्न समूहों के बीच एकता का एक मज़बूत बंधन प्रदान किया और उन्हें युद्ध की मज़बूत भावना से प्रेरित किया। कुछ इसी तरह की राय मोहम्मद हबीब ने 11वीं शताब्दी के अरब लेखक अल्बरूनी के भारतीय *जाति* व्यवस्था के अवलोकन के आधार पर दिया है। हबीब ने तर्क दिया कि हिंदू शासकों द्वारा गौरियों के आक्रमणों का प्रतिरोध दो कारकों से क्षीण हुआः

1) चूंकि *जाति* व्यवस्था ने केवल योद्धा *क्षत्रियों* को युद्धों में भाग लेने की अनुमति दी थी, इसलिए यह हिन्दू राज्यों के सैन्य प्रभाव को गंभीर रूप से प्रभावित करती थी।

2) *जाति* व्यवस्था ने हिन्दू समाज की सामाजिक एकता को क्षति पहुंचाई। इसके विपरीत मुस्लिम समानता में विश्वास करते थे। इसलिए मुस्लिम समाज के शहरी लोगों के एक वर्ग ने बेहतर सामाजिक स्थिति के लिए इस्लाम को स्वीकार किया। इस तरह के विचारों को भी खारिज कर दिया गया है क्योंकि ऐतिहासिक स्रोत बताते है कि *जाट, मीना* और *कुवर्ण* (निम्न जातियां) जैसे समूह भी राजपूत सेनाओं में शामिल थे। इसके अलावा, 12वीं शताब्दी के आसपास इस्लाम में *वैश्य* और *शूद्रों* का बड़े पैमाने पर धर्मांतरण का समर्थन करने वाले स्रोत मौजूद नहीं है। इसके अतिरिक्त वे बतातें हैं कि हिन्दू शासकों की तरह मुस्लिम विजेता भी निम्न जातियों की अपमानजनक स्थिति के प्रति उदासीन थे।

इसके अलावा, तुर्की सैन्य रणनीति और प्रौद्योगिकी को तुर्कों की जीत के पीछे एक और कारण के रूप में देखा गया है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, घुर जैसे मध्य एशियाई क्षेत्र अपने धातु भंडार और हथियारों के निर्माण और युद्ध के अन्य सामानों के लिए प्रसिद्ध थे। घोड़े से गिरे बिना भाले को फेंकने की कला को लोहे के रकाब ने आसान बना दिया था। रकाब का उपयोग तुर्कों को आता था। भारत में लौह-रकाब या क्रॉसबो जैसे हथियारों का उपयोग शायद व्यापक रूप से ज्ञात नहीं था। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतीय घोड़ों की तुलना में अच्छी नस्ल के मध्य एशियाई घोड़े तुर्कों की सैन्य दक्षता का कारण बने। कई विद्वानों ने युद्ध के मैदान पर युद्ध की अनूठी तुर्की रणनीति को भी उनकी सफलता का एक कारण बताया है। हालांकि, पीटर जैक्सन जैसे विद्वानों ने तुर्की सैन्य रणनीति और प्रौद्योगिकी को अत्यधिक महत्व देने से इंकार कर दिया है।

राजपूतों की हार और तुर्कों की जीत के कारणों को अपनी सोच का दायरा विस्तृत करके समझा जा सकता है। हमें स्वयं को केवल एक कारण या तराइन के दूसरे युद्ध के बाद होने वाली घटनाओं तक सीमित नहीं रखना चाहिए। 11वीं शताब्दी की शुरुआत से ही भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में होने वाली घटनाओं को समझना होगा। महमूद ग़ज़नी द्वारा किये गए आक्रमण और लूटपाट भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र की बाहरी सुरक्षा अर्थात् अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब के भंजन के बाद ही भारत में हुए थे। इन क्षेत्रों पर पकड़ होने से महमूद भारत में अपने आगे के अतिक्रमण की योजना बना सकता था। यहाँ विभिन्न राजपूत राज्यों की असहमति को महमूद की जीत के पीछे एक प्रमुख कारक के रूप में देखा जा सकता है। जैसा कि पहले देखा गया है, आंतरिक प्रतिद्वंद्विता इतनी मज़बूत थी कि क्षेत्रिय राज्य महमूद की मृत्यु के बाद भी साथ नहीं हुए। ऊपरी गंगा घाटी में राजस्थान के अजमेर, कन्नौज, बनारस आदि में भी महमूद के उत्तराधिकारियों ने धावे बोले परंतु फूट जारी रही। राजपूतों के लिए राहत का एकमात्र विकल्प यह था कि पहले के समय के विपरीत वे महमूद के वारिसों को बाहर करने में सफल रहे।

राजपूतों की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए सतीश चन्द्र ने राजपूतों की हार के स्वीकार्य कारण बताए हैं। वह कहते हैं कि संख्याओं में हीन न होने और घोड़ों व हथियारों की गुणवत्ता के बावजूद राजपूतों के पास उचित संगठन और नेतृत्व का अभाव था। उनकी सेनाओं के पास एकीकृत कमान नहीं थी क्योंकि शासक को सामंती सरदारों द्वारा सेना की आपूर्ति की जाती थी। इसके विपरीत, तुर्की सुल्तान बड़ी स्थाई सेनाओं को बनाए रखने में रुचि लेते थे। इन्हें नकद या *इक्ता* प्रणाली के माध्यम से भुगतान किया जाता था। उन्होंने युद्ध के लिए दास खरीदे और प्रशिक्षित किए जो अपने सुल्तानों के प्रति वफ़ादार और समर्पित थे।

चन्द्र द्वारा उल्लेखित राजपूत हार का एक अन्य कारण राजपूतों में रणनीतिक दृष्टिकोण की कमी है। जैसा कि वे कहते है, अल्बरूनी ने अपने लेखन में उल्लेख किया था, ''हिन्दू मानते हैं कि उनके जैसा कोई देश नहीं, उनके जैसा कोई राष्ट्र नहीं, उनके जैसा कोई राजा नहीं, उनके जैसा कोई विज्ञान नहीं। वे घृणित, मूर्ख, व्यर्थ, आत्म-अभिमानी और हठी हैं। उनका अहंकार ऐसा है कि अगर आप उन्हें खुरासान या फ़ारस के किसी विज्ञान या विद्वान के बारे में बताते हैं तो वे आपको अज्ञानी और झूठ बोलने वाला मानते हैं''। चन्द्र का मानना है कि इस संकीर्णता के आभास ने भारतीयों को पश्चिम या मध्य एशिया में जाने से रोक दिया और वैज्ञानिक व सामाजिक ज्ञान को वापस लाने में असमर्थ कर दिया। उनका *कलि-वर्ज्य* के कारण ऐसा रवैया थाः हिन्दुओं पर नमक के समुद्र पार करने या उन देशों की यात्रा करने पर प्रतिबंध था जहां मुंजा घास नहीं उगती थी। इसलिए, बाहर की दुनिया की अपेक्षा और अज्ञानता और रणनीतिक परिप्रेक्ष्य की कमी ने ''दीर्घकालिक नतीजों को अंजाम दिया, जिसका पहला परिणाम तुर्कों की विजय था पर यह अंतिम परिणाम नहीं था''।

इस प्रकार तुर्कों द्वारा राजपूतों की हार को दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखने की ज़रूरत है। राजपूतों में एकता का अभाव, कमज़ोर सैन्य संगठन और इसके विपरीत तुर्कों की नेतृत्व क्षमता व राजपूतों की हीन सैन्य रणनीति भी उनकी हार का एकमात्र कारण नहीं थी। भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार में निहित उपरोक्त संकीर्णता एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के विकास को रोकती थी। इसलिए, विदेशी आक्रमणकारियों को सैन्य या कूटनीतिक माध्यम से भारतीय ज़मीन से दूर नहीं रखा जा सका।

12.6 ग़ज़नवी वंश और गौरी वंश की तुलना

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की व्याख्या में भारत के उत्तरी और पश्चिमी सीमाओं से तुर्की आक्रमण को व्यापक रूप से जाना जाता है। महमूद ग़ज़नी और मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद गौरी के लगातार हमलों की बड़े पैमाने पर चर्चा हुई है। हालांकि इन दोनों के बीच अंतर पर आमतौर पर चर्चा नहीं की जाती है। बहरहाल, सतीश चंद्र जैसे कुछ विद्वान, जिन्होंने संक्षेप में इसे छुआ है, कम से कम उनके बीच के अंतर को स्वीकार करते हैं। मौटे तौर पर उन्होंने भारत पर इनके आक्रमणों और अन्य गतिविधियों के संदर्भ में इन मतभेदों पर चर्चा की है। उन्होंने महमूद को मुइज़्ज़ुद्दीन से बेहतर सेनाध्यक्ष माना है क्योंकि उसने भारत में कभी हार का सामना नहीं किया। लेकिन वह एक कठिन सेनानी होने के लिए मुइज़्ज़ुद्दीन की प्रशंसा करते हैं जिसने पराजय के बावजूद हार नहीं मानी। उनका तर्क है, ''मुइज़्ज़ुद्दीन ने अपनी हार से सबक लिया और अपने पूरे दृष्टिकोण को बदल दिया, जिससे उसकी उद्देश्यपूर्ण और राजनीतिक यथार्थवाद की गंभीर भावना स्पष्ट होती है''। चन्द्र ने मुइज़्ज़ुद्दीन की अन्हिलवाड़ा में हार के द्वारा अपने तर्क को स्पष्ट किया है। इस हार के बाद मुइज़्ज़ुद्दीन ने राजस्थान से पंजाब की ओर ध्यान केन्द्रित करके अपना संपूर्ण दृष्टिकोण बदल दिया था। तराइन के प्रथम युद्ध में उसकी हार के बाद उसी तप, दृष्टिकोट और तैयारियों के बल पर तराइन की दूसरी लड़ाई में शानदार जीत हासिल की। इसके अलावा, चंद्र ने महमूद को उस नीवं रखने का श्रेय दिया, जिसके आधार पर मुईज़्ज़ुद्दीन ने भारत में अपने अभियान का निर्माण किया। उनके अनुसार अफ़ग़ानिस्तान में हिंदू शाहियों को हराकर, पंजाब को जीतकर व भारत के बाहरी गढ़ को तोड़कर, महमूद ने तुर्की विस्तार की जड़ें मज़बूत कीं। चंद्र के करीबी अध्ययन से महमूद और मुइज़्ज़ुद्दीन के बीच अंतर करने में मदद मिलती है। इससे पता चलता है कि वे भारत में समान उद्देश्य और गतिविधियों के साथ सिर्फ आक्रमणकारी ही नहीं थे।

हालांकि, भारत के बाहर दो आक्रमणकारियों, उनकी प्रक्रियाओं, विधियों और अंतर्निहित मनसूबों के बीच गहन अंतर करने का प्रयास शायद ही अब तक अधिकांश इतिहासकारों के दायरे में आया हो। उन पर होने वाली चर्चाएँ ज़्यादातर भारत के उत्तर और पश्चिमी क्षेत्रों में उनकी लूट व हमलों के आसपास केन्द्रित होती हैं, व उनकी सैन्य रणनीति के संदर्भ में भी। इसलिए, उत्तर-पश्चिमी भारत के पूर्व-सल्तनत इतिहास और अफ़ग़ानिस्तान, पश्चिम और मध्य एशिया के क्षेत्रों में विकसन के साथ गहन जुड़ाव को समझने में एक रिक्त स्थान बना हुआ है। शुक्र है कि हाल के दिनों में इस अंतर को पीटर जैक्शन और सुनील कुमार जैसे विद्वानों द्वारा गहन विश्लेषण द्वारा भरा गया है। वास्तव में, कुमार ने पूर्व-सल्तनत भारत और उसके उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों का विशद अध्ययन किया है ताकि उनकी अंतर्निहित, परस्पर राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं को समझा जा सके। उनके अति सूक्ष्म दृष्टिकोण ने ग़ज़नवियों और गौरी प्रणालियों की विशिष्ट विशेषताओं को सामने लाया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

1) भले ही उनकी सैन्य और राजनीतिक प्रणालियाँ अफ़ग़ानिस्तान में आधारित थीं और दोनों के पास आंतरिक संसाधनों की कमी थी, फ़िर भी उनकी राजनीतिक प्रणालियाँ

काफ़ी भिन्न थीं। ग़ज़नवियों के शासक परिवार में तुर्की सैन्य-दास थे। उन्होंने एक सत्तावादी राजनीतिक शासन का निर्माण किया जिसने अपने स्थानीय संबंधों को अनदेखा किया और बल्कि ईरान या फ़ारस में खुरासान के साथ अपने संबंधों को मज़बूत किया। राजनीतिक ताकत हासिल करने के बाद उन्होंने फ़ारसी संस्कृति व विद्वता की भव्यता का अनुसरण करना शुरू किया। कुमार कहते है कि इस अवधि के ऐतिहासिक स्रोतों से पता चलता है कि महमूद ने घुर में अपने अभियानों के दौरान अपने दुभाषियों को भी अपने साथ रखा। इसके विपरीत, शंसबनिड या गौरी अधिक विनम्र मूल के थे। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, वे घुर के पशुपालक सरदार थेः अफ़ग़ानिस्तान का एक गरीब और बिखरा हुआ क्षेत्र। यह ग़ज़नी और हेरात के बीच का एक क्षेत्र था जो ग़जनवियों ने इस्लामी बनाया था। बहरहाल, गौरियों के पास फ़ारसी संस्कृति और गौरव की ग़ज़नवियों की तरह नकल करने के लिए न तो ज़रूरी संसाधन थे और न प्रयोजन।

2) उनके शासन के रूपों के बीच लगभग समान स्तर का अंतर देखा जा सकता है। जबकि ग़ज़नवियों ने शासन के एक केन्द्रीकृत रूप को बनाए रखने की पूरी कोशिश की, 12वीं शताब्दी में भी गौरियों ने अपनी शक्ति के चरम पर प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए केवल सैन्य अधिपति नियुक्त किये थे। ग़ज़नवियों की तुलना में, गौरियों ने शासन के विकेन्द्रीकृत रूप का पालन किया, जिसमे अपनी ताकत और शक्ति के चरम पर उन्होंने शासक परिवार के सभी पुरुषों को शासन दिया। ये सैन्य गर्वनर वास्तव में अपने प्रांतों में स्वायत्त सुलतानों या राजाओं के रूप में कार्य करते थे और उन्हें शाही प्रशासनिक पदों और उपाधियों को सम्मान के रूप में दिया जाता था।

3) भारत पर आक्रमण करने के उनके कारण भी अलग-अलग पाए गए हैं। ग़ज़नवियों का उद्देश्य केवल भारत से धन लूटना था। प्रादेशिक लाभ पाने की उनकी महत्वाकांक्षा सिर्फ उत्तर-पश्चिमी सीमा में सिंधु, मुल्तान, लाहौर तक सीमित थी और पूर्व की ओर भारतीय हृदय स्थल की ओर नहीं थी। यह स्पष्ट रूप से 1040 सी.ई. में डंडानकन में सेल्जुकों के हाथों अपनी हार के बाद अपनी राजधानी को लाहौर में स्थानांतरित करने से देखा गया है।

बोध प्रश्न 3

1) भारत में तुर्कों की जीत के कारणों का विश्लेषण करें।

.....

.....

.....

.....

2) गौरियों के खिलाफ राजपूत शासकों के बीच वैमनस्य दिखाने के लिए एक व्यष्टि अध्ययन (case study) पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

12.7 सारांश

इस इकाई में हमने 9वीं शताब्दी में अब्बासिड साम्राज्य के पतन के बाद पश्चिम और मध्य एशिया में लगातार राजनीतिक प्रवाह की स्थिति पर चर्चा की। यह अवधि विभिन्न तुर्की और गैर-तुर्की जनजातियों के बीच निरंतर उथल-पुथल की रही है। इन सबके बीच ग़ज़नवी राजवंश ग़ज़नी से सत्ता में आ गया और उसने भारत सहित पड़ोसी क्षेत्रों को लूट लिया। ग़ज़नवी राजाओं में एक महमूद ग़ज़नी ने भारत पर 17 बार आक्रमण किया ताकि उसकी संपत्ति को लूटा जा सके। भारत में उसकी कोई क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा नहीं थी। हालांकि, भारत में अगले तुर्की आक्रमणकारी-मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद गौरी का लक्ष्य भारत को जीतना था। 1192 सी.ई. में पृथ्वीराज चौहान को हराने के बाद उसने दिल्ली की प्राप्ति की। दिल्ली को अपने अभियानों के केंद्र के रूप में रखते हुए, एक दशक के भीतर उसने पूर्वी, मध्य और पश्चिमी भारत के कई क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की। इस तरह उसने भारत के पहले मुस्लिम राज्य की नींव रखी – दिल्ली सल्तनत।

भारतीय इतिहास में इस अवधि में विभिन्न राजपूत राज्यों के बीच एकता का अभाव था। चाहे वह अरब हों, ग़ज़नवी या गौरी, उन्हें एकता के अभाव ने सहायता प्रदान की। इतिहासकारों का मानना है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों की सफलता के पीछे भारतीय पक्ष में एकीकृत प्रतिरोध का अभाव सबसे बड़ा कारण था। मध्य एशिया में हथियारों, गोला-बारूद, उपकरणों और घोड़ों की अच्छी उपलब्धता को तुर्कों की सफलता के पीछे एक अन्य कारक के रूप में गिना जा सकता है। इसके अलावा, उनकी रणनीति और युद्ध की तकनीक ज़्यादातर भारतीय शासकों से बेहतर थी। हालांकि इन सभी कारणों से ऊपर था सामाजिक परिपेक्ष्य और सामाजिक एकजुटता की कमी जिसने भारतीय, ज़्यादातर हिन्दू समाज, को बाहरी दुनिया के अच्छे या बुरे पक्ष से दूर रखा।

12.8 शब्दावली

पूर्वोक्त : जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है।

चरमोत्कर्ष : किसी चीज़ का सबसे महत्वपूर्ण बिदुं, परिणति।

घुर : अफ़ग़ानिस्तान में स्थित।

ग़ज़नी : अफ़ग़ानिस्तान का एक कस्बा जहाँ से महमूद ने शुरुआत की और ग़ज़नविड वंश की नींव डाली।

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 12.2 देखें।

2) भाग 12.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) i)

चौहान	पृथ्वीराज, विग्रहराज
हिन्दू शाही	जयपाल
गहड़वाल	जय चंद

ii)

चौहान	अजमेर
तोमर	दिल्ली
चंदेल	बुंदेलखंड
चालुक्य	गुजरात
गहड़वाल	कन्नौज

2) भाग 12.4 को देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 12.5 देखें।

2) भाग 12.5 देखें।

12.10 संदर्भ ग्रन्थ

चंद्र, सतीश (2004). *मेडिवल इंडिया : फ्रॉम सल्तनत टू द मुगल्स. भाग 1 : दिल्ली सल्तनत (1206-1526).* संशोधित संस्करण. नई दिल्ली।

कुमार, सुनील (2007). *द इमर्जेंस ऑफ़ द डेल्ही सल्तनत, 1192-1286.* पर्मानेंट ब्लैक।

जैक्सन, पीटर (1999). *द दिल्ली सल्तनत : ए पॉलिटिकल एंड मिलिट्री हिस्ट्री.* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस।

इकाई 13 भूमि, राजस्व पद्धतियाँ और कृषीय संबंध : लगभग 700-1200 सी.ई.*

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 भूमि

13.2.1 भूमि अनुदान

13.2.2 भूमि अधिकार

13.3 राजस्व प्रणालियाँ

13.3.1 राज्य

13.3.2 भू-स्वामी और किसान

13.3.3 गाँव

13.4 कृषि संबंध

13.4.1 कृषि विस्तार

13.4.2 कृषि भूमि बस्तियाँ

13.4.3 कृषि अर्थव्यवस्था

13.5 सारांश

13.6 शब्दावली

13.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.8 संदर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम प्रारंभिक मध्यकालीन भारत विशेष रूप लगभग 700-1200 सी.ई. के भारत को भूमि, राजस्व और कृषि संबंधों के द्वारा समझ पाएंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित बातों पर विस्तार से चर्चा कर पाएंगे :

- प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में भूमि और संबंधित संसाधनों का महत्त्व;
- भूमि अनुदान प्रणाली के उद्देश्य, कालक्रम और विस्तार;
- भूमि अधिकारों का विकास और प्रकृति;
- राजस्व प्रणालियाँ और राज्य, कृषकों, भू-स्वामियों और गाँव की भूमिका;
- भारतीय उप-महाद्वीप में कृषि विकास;
- विभिन्न कृषि भूमि बंदोबस्तों का स्वरूप और कार्य; और
- प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ।

*डॉ. पिन्टू कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांयकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय।

13.1 प्रस्तावना

समकालीन इतिहास लेखन में भूमि, राजस्व और कृषि संबंधों के स्तर पर व्यापक रूप से भारतीय इतिहास के दो चरण पाये जाते हैं। प्रारंभिक भारतीय इतिहास की कल्पना समृद्धि के एक ऐसे युग के रूप में की जाती है जिसको लंबी दूरी के व्यापार, शहरी केंद्रों के विस्तार, कम असमान भूमि वितरण, सामुदायिक भू-स्वामित्व इत्यादि के द्वारा पहचाना जाता है। उत्तर-गुप्त काल को भारतीय सामंतवाद के क्लासिकल काल के रूप में देखा जाता है जिसकी पहचान स्थानीय राज्य के गठन, ग्रामीण और कृषि अर्थव्यवस्था, कृषि विस्तार, जनजातियों के कृषिकरण, व्यापार और शहरी केंद्रों में पतन, भूमि के असमान वितरण, क्षेत्रीय कृषि संरचनाओं, निजी भू-स्वामित्व इत्यादि जैसे परिवर्तनों के द्वारा होती है। प्रारंभिक मध्यकाल का आरंभ कृषि कार्यकलापों और राज्यों के सुदृढ़ीकरण से हुआ जो ब्राह्मणवादी विचारधारा, संरचना और संस्थाओं से प्रेरित था। 700-1200 सी.ई. के गतिशील युग में भारतीय राज्य-व्यवस्थाओं, अर्थव्यवस्थाआ और संस्कृति में रूपांतरण और विस्तार के कारण भूमि, राजस्व और कृषि संबंधों में काफ़ी महत्त्वपूर्ण बदलाव दिखाई देते हैं, जिनका उनकी परस्पर संबंद्धता के साथ अध्ययन करने की आवश्यकता है। मुस्लिम पूर्व भारत प्राचीन भारत की तुलना में अधिक उच्च स्तर का विस्तार और जटिलता प्राप्त कर चुका था, ऐसा कृषि क्षेत्रों के गठन के कारण हुआ था। राजनीतिक रूप से, प्रारंभिक मध्य काल की पहचान क्षेत्रीय शक्तियों के आविर्भाव से होती है जो वर्चस्व के लिए एक-दूसरे से युद्ध करती रहती थी। मज़बूत सत्ता की अनुपस्थिति में राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता अनियंत्रित हो गई थी। सकारात्मक रूप से, छोटे राज्यों ने राज्य की सत्ता को अगम्य स्थानों में पहुँचा दिया था जिससे वहाँ के स्थानीय संसाधनों का उपयोग किया जा सके। कृषक बस्तियों, मुखियाओं और बड़े राज्य तंत्रों ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया और तदानुसार परिवर्तन किए। लगभग 600 सी.ई. से भूमि अनुदानों की बढ़ती संख्या इस विस्तार का माध्यम बनी और इससे कार्यबल और मुद्रा की कमी होने लगेगी। अनेक मार्क्सवादी इतिहासकार जोर देते हैं कि लगभग 600 सी.ई. के बाद से दिए गए भूमि अनुदानों के कारण सामाजिक.आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में काफ़ी बदलाव हुए, जिससे भारतीय सामंतवाद का निर्माण हुआ। दूसरे शब्दों में, भूमि, राजस्व प्रणालियों और कृषि में क्रांतिकारी बदलावों को लगभग 700 सी.ई. से भारतीय सामंतवाद का आरंभ कहा जाता है। हम विद्यमान इकाई में, इन परिवर्तनों का अध्ययन करने के प्रयास करेंगे जो उत्तर भारत में आरंभ हुए और पारस्परिक प्रभाव से पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में फैल गए।

13.2 भूमि

भूमि और संबंधित अधिकार लगभग 700-1200 सी.ई. के मध्य लगभग सभी कार्यकलापों का केंद्र बन गए थे। प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था, राज्य व्यवस्थाएँ, समाज और धर्म, मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना तक, भूमि और उसके संसाधनों से अधिक से अधिक जुड़े और उस पर निर्भर थे। मुस्लिम साम्राज्य ने व्यापक स्तर पर नगद भुगतान को प्रचलित किया। भूमि अनुदानों की क्रमिक वृद्धि इसका स्रोत थी। भूमि राजाओं द्वारा अपना राज्य चलाने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बन गई। शासक वित्तीय संकट के काल में अधिकारियों और धार्मिक समुदायों द्वारा दी गई सेवाओं के बदले में भूमि प्रदान कर देते थे। इस प्रकार, राजा अपने राज्य की एक-एक इंच भूमि का उपयोग करने का प्रयास करते थे और अधिक से अधिक भूमि अर्जित करने के लिए एक-दूसरे से लड़ते थे। समकालीन समाज भी उसके सदस्यों के मध्य संपत्ति के बंटवारे के अनुसार अधिक स्तरीकृत और जटिल हो गया था। भूमि की मात्रा सामाजिक गतिशीलता का माध्यम और प्रतिष्ठा का

प्रतीक बन गई। इस प्रकार, कृषक जो अपने परिवार सहित भूमि पर खेती करते थे एक विशिष्ट वर्ग बन गए। हम किसानों के ओहदे में अधिकतम रूपांतरण और जटिल स्तरीकरण के बढ़ने को देख सकते हैं जो भूमि पर आधारित था, जैसे कि अमीर किसान, मध्यवर्गीय किसान, गरीब किसान, बटाईदार/काश्तकार। भूमिहीन श्रमिक जो किसानों के साथ खेती पर काम करने वाली जनसंख्या बन बए थे, भी राज्यों के लिए मूल्यवान संपत्ति बन गए।

प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था भूमि के इर्द-गिर्द बुनी गई, रूपांतरित और क्रियाशील थी। भूमि राजस्व का महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गई थी और राजा भी व्यक्तियों और संस्थाओं को उनके द्वारा राज्य को प्रदान की गई सेवाओं के बदले उन्हें भूमि प्रदान कर देते थे। भूमि दान राजाओं के वित्तीय संकट का सामना करने के लिए विकसित हो गए थे। भूमि अनुदान की प्रणाली 1200 सी.ई. तक पूरे भारत की विशेषता बन गई थी और इसमें उर्वर, अर्ध-उर्वर, शुश्क-वंजर, अनुर्वर, चरागाह तथा अन्य पारिस्थितिक क्षेत्रों समेत लगभग सभी प्रकार की ज़मीन सम्मिलित थी। धार्मिक संस्थाएँ और समुदाय भी भू-सम्पत्तिवान प्रभावशाली वर्ग के रूप में उभरे थे। राजा उनके अनुग्रह और सेवाओं के लिए उन्हें भूमि अनुदान में देते थे। ब्राह्मणों, मंदिरों, सरकारी अधिकारी और राजपरिवारों के संबंधियों को भूमि अनुदान से सबसे अधिक लाभ मिला था और वे भूमि और भू-संपत्तियों के नए स्वामी के रूप में उभरे थे। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि प्रारंभिक मध्यकाल में भूमि धारण अधिकार सभी क्षेत्रों में परिवर्तित हो रहे थे।

दिलचस्प रूप से, लगभग 700-1200 सी.ई. में प्राचीन भारत की तुलना में भूमि अधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान निजी संपत्ति बन गई। उपयोग, गिरवी रखने, पुनर्खरीद और उपहार में देने के अधिकार भूमि के साथ अर्जित हो जाते थे और खरीदार इनके उपयोग के लिए स्वतंत्र थे। हमारे पास दूसरी शताब्दी सी.ई. तक के संपत्ति के क्रय-विक्रय के प्रमाण के पुरालेखी पत्र है। सौभाग्य से, हमने चोल और उत्तर-गुप्तकाल के अनेक भूमि बिक्री के दस्तावेज प्राप्त हुए हैं। स्वामित्व के अधिकार अविकसित क्षेत्रों में चरणों में क्रमिक कृषि विकास के साथ उभरे थे। पिछड़े क्षेत्रों ने स्वाभाविक रूप से स्वयं को आबाद क्षेत्रों से विभेदित कर लिया था। भूमि संबंध उससे अधिक सूक्ष्म-भेद वाले हो गए थे जैसे कि प्राचीन भारत में माना जाता है।

13.2.1 भूमि अनुदान

भारतीय संस्कृति में ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थाओं को उपहार या दान देने की समृद्ध परंपरा रही है, जिसे स्वयं के लिए, रिश्तेदारों और पूर्वजों के लिए पुण्य अर्जित करने और पापों के नाश का सबसे भरोसेमंद तरीका माना जाता है। दान के लिए अनेक वस्तुएँ जैसे अनाज, धान, *स्वर्ण*, धन, भूमि, बाग, घर, गाय, खेत, हल, बैल आदि थे। भूमि का दान भारतीय परंपरा का एक भाग था जो लगभग 700-1200 सी.ई. के दौरान उभरी स्थिति के कारण लोकप्रिय हो गया था। उस काल के शिलालेख और धार्मिक साहित्य/धर्म ग्रंथों में ब्राह्मणों को खेती योग्य भूमि का दान करना सभी प्रकार के दानों में श्रेष्ठ दान माना जाता था। अप्रत्यक्ष रूप से, भूमि अनुदानों की चेतन और क्रमबद्ध व्यवस्था ने ब्राह्मणों को जीवन-निर्वाह के साधन प्रदान किए और इसके बदले में वो राजाओं और उनके शासन के लिए धार्मिक वैधता प्रदान करते थे जिनका पुण्य राजा और उसकी प्रजा को मिलता था। राजनीतिक रूप से भूमि अनुदानों ने वैचारिक समर्थन आधार को मज़बूत किया और राजाओं के संसाधन आधार को विस्तारित किया। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में, गंगा घाटी में भूमि अनुदान प्रणाली का आरंभ हुआ और उत्तरी दक्खन और आंध्र में फैल गया। छठी-सातवीं शताब्दी में, भूमि अनुदान पूर्वी और पश्चिमी भारत में भी आरंभ हो गए। दक्षिण भारत में भूमि

अनुदान आठवीं-नौवीं शताब्दी में शुरू हुए। तेरहवीं शताब्दी के अंत तक, भूमि अनुदान प्रणाली समूचे भारतीय उपमहाद्वीप के एकसमान और सर्वव्यापी विशेषता बन गये। भूमि अनुदानों का निहितार्थ भूमि अधिकारों के हस्थानांतरण से अधिक था। उदाहरण के लिए, अनेक मामलों में गाँव के राजस्व, प्राकृतिक और आर्थिक संसाधनों के साथ ही मानव संसाधनों जैसे किसानों, कारीगरों और अन्य को भी उपहार पाने वालों को दे दिया जाता था।

भूमि अनुदानों ने दान किए गए क्षेत्रों में सत्ता, संसाधनों तक पहुंच में अंतर पैदा कर दिया और प्रभुत्व और अधीनता के जटिल संबंधों को जन्म दिया। हम भूमि अनुदानों का व्यापक रूप से दो श्रेणियों अर्थात् धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष सम्मानों की श्रेणी में बांट सकते हैं। आध्यात्मिक दानों में ब्रह्मदेय, देवदान और *अग्रहार/मंगलम* सम्मिलित थे, जिसे शासक राजवेशों द्वारा आरंभ किया गया था और फ़िर सरदानों, अधिकारियों और सामंतों द्वारा अपनाया गया। एक अथवा अधिक ब्राह्मणों को दान की गई भूमि को *ब्रह्मदेय* कहा जाता है। *अग्रहार/मंगलम* में क्रमशः उत्तर और दक्षिण भारत में ब्राह्मणों को उनके पुनर्वास के लिए कर-मुक्त गाँव दान में दिए जाते थे। *देवदान* मंदिरों, मठों और अन्य धार्मिक प्रतिष्ठानों के लिए ब्राह्मणों और *गैर-ब्राह्मणों* दोनों को भूमि प्रदान की जाती थी। ब्रह्मदेय तथा मंदिरों जैसी संस्थाओं ने कृषि व्यवस्था के विकास और विस्तार, राज्य सत्ता के सुदृढ़ीकरण, *शूद्रों* के कृषकीकरण और सामाजिक विभेदन के संगठन में प्रमुख भूमिका निभाई थी।

धर्मनिरपेक्ष अनुदान सातवीं शताब्दी से धर्मनिरपेक्ष कार्यों के लिए राजा की प्रशासन और रक्षा में सहायता करने वाले अधिकारियों और राजपरिवार के संबंधियों को दी जाने लगी थी। हमें तमिलनाडु, बंगाल, बिहार, गुजरात, राजस्थान, असम और उड़ीसा इत्यादि से दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच मंत्रियों, संबंधियों, सेनापतियों और अन्य को भूमि अनुदान के काफ़ी संदर्भ मिलते हैं। अधिकारी अपनी भूमि अनुदानों से प्राप्त आय का आनंद उठाते थे जिसमें कर और अन्य उगाही सम्मिलित थे, भले ही इन उगाही की काश्तकारी किसी की भी हो। यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसने ब्राह्मणों के अतिरिक्त भू-स्वामियों का एक अन्य वर्ग निर्मित कर दिया।

ऊपर वर्णित विकासों में भौगोलिक और पारिस्थितिक कारकों के कारण काफ़ी क्षेत्रीय भिन्नताएँ थी। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक अनुदान पहले दूरस्थ, पिछड़े, जनजातीय और कृषि योग्य क्षेत्रों में ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थाओं को, उन्हें अर्थव्यवस्था में सम्मिलित करने के लिए दिए गए थे। बाद में, राजाओं द्वारा प्रशासन और रक्षा व्यवस्था में सहायता के लिए धर्मनिरपेक्ष अनुदान दिए जाने लगे। भूमि अनुदानों का स्थानीय निवासियों पर प्रभाव भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न था जो इस पर निर्भर करता था कि दान किसी ऐसे क्षेत्र में दिया गया है जहाँ कृषि का लंबा इतिहास रहा है अथवा निर्जन भूभाग में अथवा जनजातीय सीमांत क्षेत्र में दिया गया है।

13.2.2 भूमि अधिकार

भूमि पर अधिकार के प्रश्न पर विशेष रूप से कृषि भूमि के स्वामित्व पर इतिहासकारों के व्यापक रूप से तीन मत हैं। राष्ट्रवादी लेखन में तर्क दिया गया कि संपूर्ण भारतीय इतिहास में भू-संपत्ति पर वैयक्तिक/किसान स्वामित्व मौजूद रहा है। मार्क्सवादी इतिहासकारों की समीक्षात्मक रूप से ये अनुभूति थी कि कोई भी व्यक्ति निजी रूप से भूमि का निरपेक्ष पूर्ण अधिकार में नहीं रख सकता था क्योंकि राजा उच्च अधिकारों के साथ सर्वश्रेष्ठ अंतिम स्वामी था। इतिहासकारों के तीसरे वर्ग ने मध्यपथ अपनाया और साझा या संयुक्त स्वामितव का तर्क दिया। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में अनेक प्रकार के स्वामित्व, प्रमुख रूप से निजी और राजसी के पाए जाते थे, जैसा कि साहित्य और

पुरातात्विक स्रोतों से हमें संकेत मिलते हैं। आर.एस. शर्मा ने भी भूमि-अनुदान के शासन-पत्रों और अनुदान पाने वालों को मिली छूट और सुविधाओं के प्रमाण के आधार पर अनेक पदानुक्रमी श्रेणीकृत भूमि अधिकारों की बात की है।

भूमि अनुदानों ने भूमि पर अधिकारों में मौलिक परिवर्तन किए। प्राचीन भारत में राजा और किसान का भूमि पर अधिकार होता था, लेकिन प्रारंभिक मध्यकाल में, भूमि अनुदानों के द्वारा मध्यवर्ती अधिकार उत्पन्न कर दिए गए थे। भूमि अनुदानों ने भूमि पर सामुदायिक अधिकारों को नष्ट कर दिया। उन्होंने समुदाय और सामुदायिक संपत्ति को सामंतवादी संपत्ति में रूपांतरित कर दिया। जिससे उत्पादन के साधन और प्रक्रिया प्रभावित हुए, और जिससे भूमिहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गई। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार सामुदायिक कृषि अधिकारों की कीमत पर विकसित हुए थे।

याज्ञवल्क और वृहस्पति ने भूमि के एक ही टुकड़े पर चार श्रेणी के भूमि अधिकारों, अर्थात् *महीपति* (राजा), *क्षेत्र स्वामी* (भूमि का स्वामी), *कृषक* (खेती करने वाला) और उप-काश्तकार का उल्लेख किया है। कृषक अपनी भूमि के स्वामी बने रहे, लेकिन भूमि स्वामित्व का स्वरूप उच्च स्वामित्व की स्थापना के कारण बदल गया। भूमि अनुदानों ने किसानों की स्वतंत्र स्थिति/ओहदे को भूमि पर उच्च अधिकारों की स्थापना के द्वारा क्षतिग्रस्त कर दिया। अब, स्वतंत्र भू-स्वामी काश्तकारों में परिवर्तित हो गए और अधीनस्थ किसानों का एक वर्ग बन गए। लगभग 800 सी.ई. के बाद से राजा ने सामंतवादी भू-स्वामियों को राजस्व-संबंधी और प्रशासनिक अधिकारों के साथ स्वामित्व के अधिकार देना भी आरंभ कर दिया जो समय के साथ वंशागत हो गए। भूमि अनुदानों से भूमि पर पदानुक्रमी अधिकार और उप-सामंतशाही का विकास हुआ। इस प्रथा से वास्तविक किसानों द्वारा उगायी गई अधिशेष उपज पर जीने वाले भू-स्वामियों जैसे कि *महा-मंडलेश्वर, मंडलेश्वर, मंडलिका, सामंत, महासामंत, ठाकुर* इत्यादि का पदानुक्रम विकसित हो गया।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित कथनों को पढ़िये और सत्य अथवा असत्य लिखिये :

   i) लगभग 700-1200 सी.ई. का काल प्रचलित रूप से भारतीय सामंतवाद का क्लासिकी युग कहा जाता है। ( )

   ii) प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थरूवस्था भूमि के इर्द-गिर्द गठित, रूपांतरित और क्रियाशील थी। ( )

   iii) ब्रह्मदेय, देवदान और *अग्रहार/मंगलम्* धार्मिक भूमि अनुदान के प्रकार हैं।

   iv) भूमि अनुदानों ने कृषि, राज्य सत्ता के सुदृढ़ीकरण और सामाजिक विभेदीकरण की व्यवस्था में अनिवार्य भूमिका निभाई थी। ( )

   v) भूमि को सभी प्रकार के दानों में श्रेष्ठ दान माना जाता था। ( )

2) प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, समाज और धर्म में भूमि की भूमिका पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3) भूमि अनुदानों के विस्तार के लिए अनुकूल कारकों को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4) *ब्रह्मदेय, देवदान* और धर्म निरपेक्ष भूमि अनुदानों के बीच क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

13.3 राजस्व प्रणालियाँ

भूमि और कृषि सदैव भारतीय अर्थव्यवस्था के आधार रहे हैं, जो हमारे अध्ययन के काल में और प्रमुख हो गए थे। भूमि और कृषि कर लगभग 700-1200 सी.ई. में राजस्व प्रणाली के लिए प्रमुख बन गए थे। व्यापार और वाणिज्य पर भी कुछ उद्ग्रहण/उगाही किए जाते थे। राजस्व प्रणाली पर सामंतवादी अर्थव्यवस्था के कारण अत्यधिक दबाव था। अधिशेष को विभिन्न विधियां द्वारा वसूल किया जाता था। दूसरा आर्थिक दबाव एक विशिष्ट पद्धति थी। हम मान सकते हैं कि प्रारंभिक सामंतवादी अर्थव्यवस्था में दो संग्रहकर्ता अर्थात् राजा और सामंती स्वामी होते थे। दोनों ही उपज के रूप में राजस्व की उगाही करते थे। सामंती शासकों को अपनी दान की गई भूमि से राजस्व वसूली करने का अधिकार था, जिसे राजा को हस्तांतरित किया जाता था। आरंभ में, वे कुछ राजस्व की एक नियत मात्रा का भुगतान राजा को करते थे, लेकिन बाद में उन्होंने उस भाग के लिए सैनिक रखने आरंभ कर दिये, जिसकी राजा द्वारा मांग किए जाने पर आपूर्ति कर दी जाती थी।

13.3.1 राज्य

विस्तार और संघर्ष के उस युग में राज्य, बढ़ी हुई माँगों को पूरा करने के लिए आय बढ़ाने के सचेत प्रयास करते थे। दी जाने वाली कर छूट के साथ *ब्रह्मदेय* और *देवदान* अनिवार्य कर दिए गए थे। साथ ही, राजा को दान की गई भूमि से राजस्व संग्रह करने की अनुमति नहीं थी। क्षेत्रफल और उत्पादन दोनों के संदर्भ में अप्रत्याशित स्तर पर कृषि विस्तार के साथ राजतंत्रीय राज्य अपेक्षाकृत अज्ञात क्षेत्रों तक पहुँच गया था। राज्य की आय उन क्षेत्रों से अधिशेष के संग्रहण द्वारा अवश्य ही बढ़ गई होगी जहाँ पहले बस्तियाँ नहीं थी और खेती नहीं होती थी। 700-1200 सी.ई. के बीच, राज्य द्वारा स्वतंत्र किसानों, कारीगरों, व्यापारियों और अन्य पर अनेक कर बकाया और उगाही की जाती थी, जिसकी संख्या और अनुपात भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न था। भूमि अनुदान चार्टर/राज्यपत्र राज्य द्वारा एकत्रित किए जाने वाले करों, बकायों और उगाहियों को परिलक्षित करते हैं क्योंकि राजा उन दस्तावेज़ों में अनेक नाम सावधानीपूर्वक दर्ज़ करते थे जिन्हें सामंतों को हस्थानांतरित किया

जाता था। इतिहासकार लल्लनजी गोपाल ने कुछ प्रमुख करों जैसे *भोग, भाग, कर उपरिकर, हिरण्य, उद्रंग, हालीकर, समस्तप्रत्यय, दासपरध, प्रावाणिकर, तुरूसकासंदा, अक्सपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विसतियथुप्रस्थ, विषयदान, अंकर, कुटक, जलकर, गोकर, वलदि, लवणकर, पर्णकर* इत्यादि की सूची प्रदान की है। इनके अतिरिक्त, कभी-कभी कोई राजा किसी विशेष उद्देश्य से अतिरिक्त कर/करों को भी लगा देता था।

13.3.2 भू-स्वामी और किसान

उत्तर-हर्ष काल में, किसान मुख्य उत्पादक और करदाता बन गए थे। प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में प्रारंभिक कृषक वर्ग पर निरंतर बहते कर/लगान का बोझ था। राजाओं ने सामंतों को अनुदानित गाँवों के निवासियों से नियमित, अनियमित, नियत और पारंपरिक भुगतानों समेत सभी प्रकार के करों को एकत्रित करने के उच्च अधिकार दे रखे थे। अभिलेखों में करों की सूची का कोई अंत नहीं है क्योंकि इनके अंत में आदि या आदिकम लिखा है, जिसका अर्थ है इत्यादि। आर.एस. शर्मा इसे भूस्वामियों के और अधिक सशक्तीकरण से जोड़ते हैं क्योंकि वे आदि शब्द का लाभ लेकर किसानों से अनिर्दिष्ट तथा गैर-कानूनी स्रोतों द्वारा अधिकतम संग्रहण करते थे। उपहार पाने वाले नियमित कर जैसे *भोग, भाग, कर, उपरिकर, हिरण्य, उद्रंग, हालीकर, समस्तप्रत्यय* इत्यादि भी एकत्रित करते थे। वाकतक अनुदानों में चौदह प्रकार के करों को सूचीबद्ध किया गया है। पल्लव अभिलेखों में अठारह से बाईस करों को बताया गया है। करों की संख्या 1000 सी.ई. के अंत तक अत्यधिक बढ़ गई थी। सातवीं शताब्दी से अनुदानों ने अनुदानियों को जल संसाधनों, वृक्षों, झाड़ियों और चरागाहों पर भी अधिकार प्रदान कर दिए जिससे न सिर्फ दान दिए गए गाँवों का कृषक वर्ग बुरी तरह से प्रभावित हुआ बल्कि अनुदानियों की शक्ति भी और बढ़ गई। अनुदानी गाँव के उपर्युक्त संसाधनों पर उद्ग्रहण उगाही लगाते थे जो पहले गाँव समुदाय के स्वामित्व में थे और सभी के लिए निःशुल्क थे। ऊपर से, भूमि अनुदान अभिलेखों में किसानों से भूस्वामियों के आदेशों को मानने के लिए कहा जाता था और अवज्ञा को महाद्रोह माना जाता था। बलात् श्रम कराने का अधिकार *विष्टी* प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में नियमित हो गया था जिसे ब्राह्मणों तथा भूमि का अन्य अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं जैसे अधिकारियों, ग्रामीण अधिकारियों और अन्य द्वारा लगाया जाता था। भूमि अनुदान इसे अनुदानकर्ता पर हस्थानांतरित करते थे जो पूर्व में राजा का विशेषाधिकार होता था। सिर्फ चोल अभिलेखों में ही, बलात् श्रम के सौ से अधिक उद्धरण हैं।

13.3.3 गाँव

रनवीर चक्रवर्ती ने लिखा है कि भूमि अनुदानों के मध्यवर्तियों द्वारा बड़ी संख्या में प्राप्त किए जाने वाले अनुदानों के कारण ऐसी स्थिति हो गई जहाँ मध्यवर्ती और शासक दोनों किसान का शोषण करते थे – जिनके परिणामस्वरूप आत्म-निर्भर परिबद्ध गाँव का आविर्भाव हुआ। गाँव कर-वसूली की निम्नतम लेकिन महत्त्वपूर्ण इकाई थी। गाँव, राज्य और भू-स्वामियों को अकिधतम राजस्व प्रदान करते थे। करों की राशि का भुगतान अधिशेष के बड़े भाग से होता था, जिसे एक मुखिया द्वारा एकसाथ एकत्र किया जाता था। गाँव का मुखिया इस बोझ को प्रत्येक ग्रामवासी पर व्यक्तिगत रूप से वितरित करता था। संचयी कर-संग्रहण कार्यों ने ग्राम समुदाय को तत्काल उसका दृढ़ आधार प्रदान कर दिया। इस प्रकार, अधिक और कम आमदनी वाले किसान और काश्तकार ग्रामीण समुदाय का सदस्य होने के कारण राजा और सामंतशाही के करों के भारी बोझ से बच गए। *अग्रहार* से कर ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को सौंप दिये गए थे। *ब्रह्मदेय* गाँवों को सामान्यतः विभिन्न करों अथवा बकाया से तो पूरी तरह अथवा कम से कम बसने के प्रारंभिक चरणों में छूट दी जाती थी। उन्हें निरंतर बढ़ते विशेषाधिकार (*परिहार*) भी प्रदान किए जाते थे।

बोध प्रश्न 2

1) रिक्त स्थानों को भरिये –

   i) 700-1200 सी.ई. में ..... राजस्व प्रणाली के लिए अनिवार्य बन गया था।

   ii) उत्तर हर्ष काल में, ... प्राथमिक उत्पादक और करदाता बन गए थे।

   iii) अभिलेखों में दर्ज़ करों की सूची का कोई अंत नहीं है क्योंकि इनके अंत में ..... लिखा होता था।

   iv) गाँव कर-वसूली की ..... इकाई था।

   v) प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में ..... नियमित बन गया था जिसे सामंतों द्वारा लगाया जाता था।

2) 700-1200 सी.ई. की राजस्व प्रणाली में किसानों के भाग का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भूमि अनुदान भोगियों द्वारा भोगे जाने वाले अधिकारों की प्रकृति क्या थी? इस पर पाँच वाक्य लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 कृषि संबंध

कृषि संबंध अर्थात् भूमि और किसानों के बीच संबंध सामंतवाद के आने पर जटिल हो गए थे, जो एक साथ सामंतवाद और प्रारंभिक मध्यकालीन भारत को समझने का उपयुक्त साधन प्रस्तुत करता है।। हम कृषि संबंधों अर्थात् भू-संपत्ति के स्वरूप के आधार में काफ़ी परिवर्तन देख सकते हैं। कृषि में उत्पादन संबंध भी भूमि स्वामित्व और काश्तकारी में बदलाव के साथ काफ़ी परिवर्तित हो गए थे। नए संपत्ति संबंधों के उदय के साथ आर्थिक अधीनस्थता की नई कार्यविधि भी विकसित हो गई थी। भारतीय सामंतवाद का आर्थिक छाप भू-स्वामियों के बड़े खेतों की अनुपूस्थिति और लघुस्तर पर कृषकों द्वारा उत्पादन था। किसान के भूखंड में उत्पादन की प्रकृति का निर्धारण उसके जीवन-निर्वाह के लिए खेतों द्वारा भी उतना ही किया जाता था जितना कि भूस्वामी और राजा द्वारा करों के द्वारा किया जाता था।

600 सी.ई. के पहले के साहित्यिक स्रोत किसानों के प्रयोजनमूलक स्थिति का उल्लेख *गहपति, कुटुम्बिका, महततारा* आदि जैसे शब्दों से करते हैं। ये शब्द संभवतः स्वयं किसानों द्वारा भूमि स्वामित्व को सुझाते हैं। बी.एन.एस. यादव ने प्रारंभिक मध्यकाल की पुस्तकों के अध्ययन द्वारा उनके ओहदे में हलवाहे के रूप में एक अनिवार्य परिवर्तन पर ध्यान दिया। इन पुस्तकों में इस शब्द का उपयोग दुर्लभ रूप से ही है बल्कि *हलकारा, हालिका, कृषक, कृशिवलंजना* इत्यादि नामों का प्रयोग किया गया है। ये विशेषण किसानों के व्यवसाय को खेतिहर के रूप में अधिक और भूस्वामी के रूप में कम केंद्रित करते हैं। रनवीर चक्रवर्ती ने भी साधारण किसानों के निम्नतर ओहदे को *अर्धिका* के आगमन से इंगित किया है (जो प्रारंभिक मध्यकालीन दक्कन में बटाई पर खेती करने वाले सामाजिक समूह थे)। अनुदानभोगियों होने के कारण किसान दिन-ब-दिन अधिक दयनीय होते जा रहे थे लेकिन भू-संपत्ति होने के साथ भूस्वामी फलफूल रहे थे। किसी गाँव विशेष के कारण दूसरे गाँवों में दान, वंशागति अथवा खरीद के कारण भूमि वाले किसानों की स्थिति क्षीण हो रही थी। ऐसे मामलों में, एक गाँव में स्वामी किसान मामूली मालिक होता था जबकि दूसरे में, वह काश्तकार होता था।

प्रत्येक कृषक परिवार सी 700-1200 सी.ई. में उत्पादन की सबसे छोटी लेकिन मुख्य इकाई था। किसानों के पास भूमि थी, लेकिन उन्हें नकद, उपज और श्रमिक के रूप में सामंती स्वामियों को लगान देना पड़ता था। किसान लाभ वापसी की उम्मीद में अदायगी नहीं करते थे बल्कि रिवाज़, दबाव, कानूनी और धार्मिक प्रतिबंधों के कारण ऐसा करते थे। भूस्वामी अधिशेष का संग्रह कृषि को बढ़ावा देने अथवा राज्य के आर्थिक विकास के उद्देश्य से नहीं करते थे बल्कि वे ऐसा मुख्य रूप से अपने उपभोग के लिए करते थे। किसान बाज़ार के अनुसार, फसल नहीं उगाते थे बल्कि भू-स्वामियों की आवश्यकताओं के अनुसार उगाते थे, और वे अपने स्वामी अर्थात् राजा के हित को ध्यान में रखकर ऐसा करते थे।

13.4.1 कृषि विस्तार

700-1200 सी.ई. का काल भारत में कृषि वृद्धि और विस्तार को अप्रत्याशित स्तर पर प्रदर्शित करता है, जैसा कि पुरालेखी और साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध होता है। जनजातीय, वन्य, निर्जन, बंजर, तटीय और सीमावर्ती इलाकों में भू-अनुदानों के द्वारा भूस्वामित्व का होना नए क्षेत्रों में कृषि के विकास और क्षेत्र के चरणबद्ध कृषि समावेशन का प्रमुख कारण है। दक्षिण भारत में आर्द्र से शुल्क परिक्षेत्र में, कावेरी डेल्टा में और ताम्रपर्णी के ऊपरी क्षेत्रों में कृषि विस्तार का क्रमिक प्रसार दिखाई देता है। संसाधनों की बढ़ती आवश्यकता को पूरा करने के लिए तमिलनाडु, उड़ीसा, असम, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, बंगाल, कर्नाटक और राजस्थान के राजाओं, राजकुमारों, मुखियाओं और सरकारी अधिकारियों ने कृषि को अधिक संरक्षण दिया और सिंचाई की सुविधाओं को बेहतर बनाया, जिसने इस प्रक्रिया को मज़बूत किया। केशवन बेलूतहट ने केरल में विकास के भिन्न क्रम को दिखाया : जहाँ मंदिर बड़े कृषि निगमों के केंद्र के रूप में उभरे थे। गैर-सरकारी व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयासों द्वारा सिंचाई परियोजनाओं का आरंभ और रखरखाव राजसी/सरकारी प्रयासों से अधिक थे। जन कल्याण के ऐसे लाभकारी कार्य व्यक्तियों/समूहों के उन्नत सामाजिक स्तर का प्रतीक बन गए।

राजाओं और भूसंपत्ति के लाभार्थियों द्वारा कृषि पर दिए जाने वाले ध्यान का विस्तृत विवरण जोत, भूमि, फसल और सिंचाई सुविधाओं में बेहतरी के अभिलेखों और साहित्य में देखा जा सकता है। सिंचाई के लिए वर्षा पर कम निर्भरता निर्जन भूमि के कृषि-योग्य, बसावट वाले अधिक उत्पादन और जनसंख्या वृद्धि वाले क्षेत्रों में आसान रूपांतरण का मुख्य कारक बन गया। पुरालेखों में उत्तर प्रदेश में *उद्घाटघाटी* और *घाटी यंत्र का,* राजस्थान में *अरघटों* (सिंचाई के कुंओं); *धिन्कू* (कुंओं), *तडग,* कर्नाटक, तमिलनाडु और दक्कन में तालाबों और

नहरों; बंगाल और केरल में नदियों, छोटे नदी-नालों पोखरों (*खत्त*); कुंओं (*कूपों*) और गुजरात में *वापी* और नहर, नालों का ग्रामीण बस्तियों और पहुंच योग्य सिंचाई सुविधाओं का उल्लेख है जो उपमहाद्वीप के पारिस्थितिक अंतरों के लिए उपयुक्त हैं। साथ ही, हम सिंचाई की युक्तियों के लिए प्राथमिकता में चोल पुरालेखों को पढ़ने के बाद स्थानीय स्तर पर विविधताओं को वहाँ की भोगौलिक विशेषताओं के आधार पर बता सकते हैं, क्योंकि तालाबों और नहर से सिंचाई के उपयोग की तुलना में पानी की नालियों का उपयोग सीमित था। अनेक प्रारंभिक मध्यकालीन शासकों ने अपने नाम पर बड़े जलाशयों का निर्माण करवाया जिन्हें *सागर, समुद्र, वारिधि* आदि नाम दिए गए। पल्लव-चोल काल के दक्षिण भारतीय शासक और राष्ट्रकुट और काकतीय राजवंश के शासक बड़े तालाब बनाने के लिए प्रसिद्ध थे और उन्होंने फसल उत्पादन को बढ़ाने के लिए इनमें जलद्वार-बंधिका (sluice weir) युक्ति का उपयोग किया था। गाँवों में तालाबों, नहरों और जलाशयों के संस्थापन और रखरखाव की देखभाल के लिए चयनित समितियाँ होती थीं। कुल मिलाकर इन पहलों ने न सिर्फ कृषि विस्तार किया बल्कि कृषि, फसलों के विविधीकरण और अधिक उत्पादन व जनसंख्या को भी बढ़ावा दिया जैसा कि भारत में आने वाले अरबी भूगोलविज्ञानियों ने प्रमाणित किया। प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में बंगाल में कम से कम पचास प्रकार के धान (चावल) का उत्पादन किया जाता था और सबसे विशिष्ट किस्म के मसाले विशेष रूप से मालाबार में कालीमिर्च का उत्पादन होता था।

13.4.2 कृषि भूमि बस्तियाँ

इतिहासकार साहू ने पता लगाया है कि छठवीं-सातवीं शताब्दी के समय से *वैदिक-शास्त्रिक. पुराणिक* विचारों और भूमि अनुदानों के विस्तार से पूरे भारत में स्थानीय और उप-क्षेत्रीय स्तरों पर कृषि भूमि बस्तियों का निर्माण हो गया जिसने शासक राजवंशों के आधिपत्य को मज़बूत किया, सामाजिक व्यवस्था को वैधता प्रदान की और अधिक विस्तृत क्षेत्रों तक, सांस्कृतिक एकीकरण किया। पाल और सेना के शासन काल में बंगाल, सोमवंशियों के अंतर्गत उड़ीसा में और बाद में गंगा, पश्चिमी गंगा और होसशालों के तहत कर्नाटक और तमिलनाडु में पल्लव, पांड्या और चोल कालों में कनार्टक और तमिलनाडु क्षेत्र के अंदर इन विकासों को देखा जा सकता है। नौंवी-दसवीं शताब्दी के पुरालेख प्रमाण बस्तियों के बढ़ते घनत्व और कृषि-योग्य भूमि के अधिक उपयोग को दिखाते हैं। इसका पता दान की गई भूमि के विस्तृत सीमा निर्धारण और निकटवर्ती बस्तियों, भूखंडों से जो दूसरों के थे, अलग चिन्हित होने से चलता है। नई ग्रामीण भूमि बस्तियों से जनजातीय और निर्जन सीमाओं तक कृषि-योग्य क्षत्र का विस्तार हो गया। कुछ मामलों में, पूर्ण जनजातीय खेड़े किसानों के गाँवों में रूपांतरित हो गए जैसे कि बंगाल में। इसका निहितार्थ ये भी है कि पहले से बसे क्षेत्रों/बस्तियों में बसावट का घनत्व अधिक हो गया। हमारे पास गुप्तकाल में असम में दूर.दूर बसी बस्तियों के विपरीत बंगाल में गाँवों के गुच्छों या समूहों में बसने का चित्र है। क्षेत्रों में भिन्नताओं को समय के साथ हुए परिवर्तनों से तुलना करके भी देखा जा सकता है।

कृषि बस्तियों का विस्तार पर्याप्त सिंचाई की सुविधाओं के बग़ैर संभव होना मुश्किल था। बस्तियों के भौगोलिक वितरण का स्वरूप जल संसाधनों से जोकि प्राकृतिक और मानव निर्मित दोनों प्रकार के थे और भूदृश्य की कृषि क्षमता से संबंधित था। बी.पी. साहू का मत है कि सातवीं से दसवीं शताब्दी के बीच तमिलनाडु में कृषि कार्य में वृद्धि और नाडुओं की संख्या में वृद्धि के बीच कोई संबंध प्रतीत होता है। नदी घाटियों में अपेक्षाकृत छोटे नाडुओं के विपरीत, कम उर्वर क्षेत्रों की पहचान अपेक्षाकृत बड़े नाडुओं और कम सघन बस्तियों से होती है। नंदिनी सिन्हा का कहना है कि किसी पहले से बसे हुए गाँव में कुछ भूखंडों का दान करने से उसके संगठन में गाँव को संजाल के विस्तार होने के अतिरिक्त और कोई प्रमुख बदलाव नहीं आया।

प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में ग्रामीण बस्तियाँ जो *ग्राम, पल्ली* (जनजातीय गाँव), *पटका* (अपेक्षाकृत बड़े गाँव के नज़दीक एक खेड़ा), *पाढरा, घोसा* (चरवाहों का गाँव) इत्यादि कहलाती थी और सभी कार्यकलापों का केंद्र होती थी। प्रारंभिक मध्यकालीन गाँवों के नामों की उत्पत्ति अधिकतर स्थानीय वनस्पतियों, खनिज संसाधनों अथवा व्यवसायगत संबंधों से होती थी। सामान्य रूप से, ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण समुदायों के बीच अंतर किया जाता था जो एक-दूसरे से प्रशासन और सामाजिक व्यवस्था दोनों ही स्तरों पर भिन्न होते थे। बी. डी. चट्टोपाध्याय इसे ग्रामीण बस्तियों तथा सामाजिक संगठन की बढ़ती जटिलता के सूचक के रूप में लेते हैं।

ब्राह्मणवादी बस्तियाँ *ब्रह्मदेय अग्रहार* तथा *मंगलम* कहलाती है; जहाँ ब्राह्मण संभवतः प्रभावी श्रेणी रहे होंगे। अनेक गाँवों में स्वतंत्र, संपन्न किसान *ब्रह्मदेय* स्वामियों के साथ रहते थे। अधिकांश क्षेत्रों में ब्राह्मणवादी बस्तियाँ सिर्फ कुछ क्षेत्र के कुछ भागों में ही गठित हुई थी। नंदिनी सिन्हा ने अपने दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान के अध्ययन में दिखाया है कि चर्चित दस गाँवों में से सिर्फ एक में पूर्ण कर छूट के साथ *अग्रहार* गाँव था। ब्राह्मण गाँव स्तरीकृत थे और उनकी पहचान निजी स्वामित्व से होती थी। कभी-कभी दो या अधिक बस्तियों को मिलाकर एक *ब्रह्मदेय* अथवा एक *अग्रहार* बनाया जाता था जिसमें नए सिंचाई स्रोत निर्मित किए जाते थे। *ब्रह्मदेयों* ने शूद्रों तथा अन्य सबसे निम्न जातियों के बढ़ते कृषिकरण में अत्यधिक योगदान दिया था। कुछ छोटे ब्राह्मण अनुदान भोगी, काश्तकारों की अनुपस्थिति में, स्वयं किसान बन गए।

देवदान, यानी ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों दोनों के धार्मिक प्रतिष्ठानों को भूमि अनुदानों ने कृषि बस्तियों के केंद्रों और विभिन्न कृषक एवं जनजातीय बस्तियों के एकीकरण का भी काम किया। मंदिरों ने फसल में साझेदारी के लिए अपनी भूमि काश्तकारों को पट्टे पर दे दी। मंदिर और मठों की भूमि का पर्यवेक्षण ब्राह्मणों और भूसंपत्ति संपन्न गैर-ब्राह्मण संभ्रांत वर्ग के हाथों में था। गैर-ब्राह्मण बस्तियों में, मंदिर की भूमि का प्रशासन मंदिर की कार्यकारी समितियों द्वारा किया जाता था।

13.4.3 कृषि अर्थव्यवस्था

इतिहासकारों ने तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, बंगाल और असम की कृषि अर्थव्यवस्था के पहलुओं का विस्तार से पता लगाया है और आंध्र, उड़ीसा, और राजस्थान में पता किया जा रहा है। कृषि कार्यकलाप प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में प्रभावी थे। भूमि अनुदानों की प्रणाली ने कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का निर्माण किया और गैर-कृषि क्षेत्रों जैसे व्यापार, लंबी दूरी के वाणिज्य और शिल्पों का पतन हुआ। कृषि संपन्नता कृषि विस्तार और कृषि उत्पादन तथा फसलों की किस्मों में वृद्धि दोनों ही 700-1200 सी.ई. में हो रही थी। डी.डी. कोसाम्बी ने वितास्ता घाटी में उन्नत सिंचाई और फसल उत्पादन को सिद्ध किया है। बढ़ती कृषि उत्पादकता ने लगभग 10वीं शताब्दी से *हॉटों,* स्थानीय मेलों और केंद्रिक स्थानों के आविर्भाव के लिए आधार प्रदान किया, जिसमें वस्तुओं के विनिमय और वितरण को बढ़ावा मिला और इसने अंर्त-ग्रामीण संजालों का गठन किया। किसान भी कृषि में वृद्धि के साथ अवश्य ही संपन्न हुए होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि किसान भूस्वामियों की नियमित और अतिरिक्त माँगों को भी पूरा करने में सक्षम हो गए थे।

प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था अत्यधिक जटिल थी। इस पर सामंती अर्थव्यवस्था का अत्यधिक प्रभाव था, जिसके विषय में हम ऊपर के भागों में पढ़ चुके हैं। हमारे यहाँ स्वतंत्र कृषक समाज भी थे जिनकी ग्रामीण आत्मनिर्भरता की धारणा से उत्पत्ति हुई थी। उत्तर भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था अधिक से अधिक सामंतवादी हो गई थी, लेकिन दक्षिण

भारत ने स्वतंत्र कृषक क्षेत्रों जैसे *नाडुओं* को प्रस्तुत करता है। *नाडुओं* का प्रबंधन *नट्टारों* द्वारा होता था जिन्होंने स्वयं को सभाओं मे संगठित किया था। *नाडु* में भूमि अनुदान *नट्टार* की सहमति से किया जाता था और बाद में वे दान करने लगे थे। ब्राह्मण और प्रभावी कृषक *वेल्लाल* उत्पादन की प्रक्रिया में सहभागी थे। अतः, ब्राह्मणों, धार्मिक संस्थाओं जैसे मंदिरों और मठों, उच्चतर जातियों के पास अत्यधिक ज़मीनें और अधिकार थे और वे संपत्ति पर श्रेष्ठ अधिकारों के स्वामी होने के साथ प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था के संगठन और कार्य-प्रणाली में मुख्य व्यक्ति हो गए।

13.5 सारांश

भू-संपत्ति, राजस्व प्रणाली और कृषि संबंध लगभग 700-1200 सी.ई. में विकसित हुए सामंतवाद के अभिन्न भाग थे। इन क्षेत्रों में लगभग 600 सी.ई. में पाई जाने वाली स्थिति की तुलना में क्रांतिकारी बदलाव हुए थे, जिससे प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की सामाजिक. आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में व्यापक बदलाव आए। इस प्रकार से, हम भारतीय समाज में सहस्त्राब्दी की अपरिवर्तनशीलता की प्रचलित धारणा पर प्रश्न कर सकते हैं। इस काल में, भूमि राजनीतिक और आर्थिक दोनों रूप में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण संसाधन बन गई। भूमि अनुदानों ने नए धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष भू-संपत्ति युक्त मध्यवर्तियों और सामंतों को जन्म दिया। सभी शक्तियाँ भूमि की ओर आकर्षित थी और उसी भू-क्षेत्र के नए स्वामी बन गए। निजी जोत सामूहिक हो गई और राजसी तथा सामुदायिक भूमि निजी संपत्ति में परिवर्तित हो गई। किसान बहुत कम अपनी भूमि के स्वामी रह गए थे और लगभग श्रमिक/काश्तकार ही बन गए थे। कृषक अनेक वैधानिक और गैर-वैधानिक कर को भू. स्वामियों तथा राजाओं को अदा कर रहे थे, जिसमें *विष्टी* अथवा *बंधुआ* मज़दूरी भी सम्मिलित थी। राज्य अपने राजस्व संसाधनों को सामंती भूस्वामियों के साथ साझा करते थे।

भूमि अनुदानों से नई भूमियों की उपलब्धता बढ़ी जो अन्यथा अप्रयुक्त थीं। यह राज्य और किसानों दोनों के लिए लाभकारी था। राज्य को नए क्षेत्रों तक पहुंच और स्थानीय राजस्व आधार के द्वारा अधिक राजस्व मिलना आरंभ हो गया। राज्य अपने आधिपत्य का राज्य के हर कोने तक विस्तार करने लगे। राजा राजनीतिक और आर्थिक रूप से, अधिक शक्तिशाली हो गए। ऐसा राजसी अनुग्रह से लाभ प्राप्तकर्त्ताओं के निष्ठावान समूह के गठन से हुआ जिन्होंने अतिरिक्त सुविधाएँ जैसे सिंचाई के स्रोत उपलब्ध कराये। किसानों को खेती करने के लिए नई ज़मीनें भी मिली क्योंकि सामंती स्वामी, मंदिर और ब्राह्मण स्वयं कृषि कार्य नहीं करते थे। नई कृषि बस्तियों जैसे *ब्रह्मदेय, अग्रहार, मंगलम, देवदानों* और धर्मनिरपेक्ष अनुदानों ने किसानों को भूमि प्राप्त करके खेती करने के पर्याप्त अवसर प्रदान किए। इससे पूरे भारत में कृषि का विस्तार हो गया। कृषक एकमात्र उत्पादक बने रहे और प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था की दिशा को नियंत्रित करते थे।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही (√) और कौन-सा गलत (×) है :

   i) ब्राह्मणवादी और अन्य कृषि बस्तियों से कृषि का विस्तार और राज्य का सुदृढ़ीकरण हुआ। ( )

   ii) अनेक प्रारंभिक मध्यकालीन शासकों ने सिंचाई कार्यों के लिए बड़े जलाशयों, तालाबों, नहरों और कुँओं का निर्माण करवाया था। ( )

iii) कृषि संपन्नता, कृषि विस्तार और फसल उत्पादन तथा फसल की किस्मों में वृद्धि दोनों के ही संदर्भ में लगभग 700-1200 सी.ई. में सत्य हो गई थी।( )

iv) प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में ग्रामीण बस्तियाँ सभी कार्यकलापों का केंद्र नहीं थीं। ( )

2) भाग 'क' में सिंचाई के स्रोतों और भाग 'ख' में क्षेत्रों के नाम दिए गए हैं। अनुभाग-क का भाग-ख से मिलान कीजिए।

भाग 'क'		**भाग 'ख'**
क)	राजस्थान	i) अरधट, धिन्कू (कूप), तडग
ख)	गुजरात	ii) छोटे नदी-नाले, पोखर (*खत्ता*), कुएँ (*कूप*)
ग)	केरल और बंगाल	iii) वापी
घ)	कर्नाटक और तमिलनाडु	iv) तालाब और नहरें

3) 700-1200 सी.ई. के मध्य कृषि संबंधों का पाँच वाक्यों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4) प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की बस्तियों के बारे में उनके निरूपण और विस्तार का वर्णन करते हुए पाँच वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में कृषि विकास पर टिप्पणी करिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 शब्दावली

अग्रहार : ब्राह्मणों को जाने वाले भूमि अनुदान।

कृषिकरण : वह प्रक्रिया जिसके द्वारा जनजातियाँ कृषि कार्य का हिस्सा बन गई।

बटाईदार : एक किसान जो अपनी ज़मीन को लगान/काश्तकारी पर लेता है और अपनी फसल का एक भाग लगान के रूप में देता है।

13.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (i) सत्य, (ii) सत्य, (iii) सत्य, (iv) सत्य

2) भाग 13.2 को देखें।

3) उप-भाग 13.2.1 को देखें।

4) उप-भाग 13.2.1 को देखें।

बोध प्रश्न 2

1) (i) *भूमि* और *कृषि* (ii) किसान (ii) *अदि* अथवा *आदिकम* (ii) निम्नतम (v) *विष्टि*

2) उप-भाग 13.3.2 को देखें।

3) उप-भाग 13.3.2 को देखें।

बोध प्रश्न 3

1) (i) (ii) (ii) (iv)

2) (क) i, (ख) iii, (ग) ii (घ) iv

3) भाग 13.4 को देखें।

4) उप-भाग 13.4.2 को देखें।

5) उप-भाग 13.4.1 को देखें।

13.8 संदर्भ ग्रंथ

अल्टेकर, ए.एस. (1971) *अर्ली मेडिवल विलेज इन नॉर्थ-ईस्टर्न इंडिया : सी.ई. 600-1200*। कलकत्ता : पंथी पुस्तक।

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1990) : *अस्पेक्ट्स ऑफ़ रूरल सेटलमेंट्स एंड रूरल सोसायटी इन अर्ली मेडिवल इंडिया*। कलकता : के.पी. बागची एंड कंपनी।

..... (1994)। *द मेकिंग ऑफ़ अर्ली मेडिवल इंडिया*। दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

गोपाल, लल्लनजी (1989) *द इकोनोमिक लाइफ ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया सी.ई. 700-1200*। दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।

नंदिनी सिन्हा (1994) *''रूरल सोसायटी एंड स्टेट फॉर्मेशन इन अर्ली मेडिवल साउथ.वेस्टर्न राजस्थान'', इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स,* अलीगढ़ सत्र; पृ. 123-31।

इकाई 14 सामाजिक संरचना और लैंगिक सम्बन्ध : लगभग 700.1200 सी.ई.*

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के स्रोत

14.3 विभिन्न परिप्रेक्ष्य

14.4 सामाजिक रूपान्तरण

14.5 नई सामाजिक व्यवस्था-जातियाँ

- 14.5.1 पुरोहित वर्ग से ब्राह्मण उप-जातियों तक
- 14.5.2 शासक जातियों का उभरना
- 14.5.3 व्यापारिक जातियों या *वैश्यों* का प्रसार
- 14.5.4 *शूद्रों* का प्रसार
- 14.5.5 अछूत
- 14.5.6 नई जातियाँ : *कायस्थ* और *वैद्य*

14.6 जनजातियाँ

14.7 दास

14.8 *मलेच्छ*

14.9 लैंगिक सम्बन्ध

- 14.9.1 महिलाओं के संपत्ति अधिकार
- 14.9.2 विवाह और विवाह-विच्छेद
- 14.9.3 विधवापन और *नियोग*
- 14.9.4 सती प्रथा या विधवा-दाह
- 14.9.5 स्त्री शिक्षा
- 14.9.6 कुछ असाधारण भूमिकाएँ : राजनीति और प्रशासन में महिलाएँ

14.10 सारांश

14.11 शब्दावली

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.13 संदर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य इनका अध्ययन करना है :

- इस अवधि के सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोत;
- इस काल के सामाजिक जीवन की विशिष्ट विशेषताएं;

*श्री प्रेम कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांयकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय।

- विभिन्न सामाजिक समूहों और उनके बीच पारस्परिक संबंध;
- इस अवधि के दौरान सामाजिक संरचना और लिंग सम्बन्धों में परिवर्तन और निरंतरता के तत्व;
- सामाजिक परिवर्तन में विभिन्न संस्थाओं या कारकों की भूमिका; और
- सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप अर्थव्यवस्था, राजनीति और संस्कृति में उभरते रूझान।

14.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में 700 से 1200 सी.ई. की समयाविधि को 'प्रारंभिक मध्ययुगीन' कहा जाता है। इस अवधि का चरित्र न तो प्राचीन है और ना ही प्रारंभिक या मध्ययुगीन है। लेकिन यह पूर्व 600 सी.ई. अवधि से कुछ प्रस्थान-बिंदु और मध्ययुगीन तत्वों की शुरुआत को स्पष्ट रूप से दर्शाती है और इस प्रकार दोनों के बीच एक मध्यवर्ती स्थिति रखती है। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ शुरू होता है, और भारत में राजनीतिक इस्लाम के आने के साथ समाप्त होता है। प्रारंभिक मध्ययुगीन समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति की प्रकृति इतिहासकारों के बीच एक बहस का मुद्दा रहा है।

समाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि कुछ आर्थिक और राजनीतिक विकासों द्वारा तैयार की जाती है। उप-महाद्वीप में व्यापक भूमि अनुदान यकीनन सभी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक विकासों का मूल कारण बन गया। भूमि अनुदानों ने राज्य समाज को गैर-राज्य क्षेत्रों में फैला दिया और राजनीति के अभूतपूर्व प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

क्षेत्रीय, उप-क्षेत्रीय और अंर्त-क्षेत्रीय राजनीतिक संस्थाओं ने विकास के आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। *चर्तु-वर्ण* पर आधारित *ब्राह्मणवादी* सामाजिक आदर्श के स्थान पर एक अधिक जटिल, विषम और क्षेत्रीय रूप से नानारूप *जाति* या *जाति* व्यवस्था को जन्म दिया। जबकि चर्तु *वर्ण* व्यवस्था निर्देशात्मक *धर्मशास्त्रों* में जारी रही, वह इस अवधि के दौरान यह कभी भी वैसी नहीं रही जैसी की पहले थी। *वर्ण* व्यवस्था ने समाज में *ब्राह्मणवादी* विमर्श में सैद्धांतिक स्तर पर काम किया, जबकि *जाति* या *जाति* व्यवस्था ने कार्यात्मक पहलू प्रदान किया। दूसरे शब्दों में *वर्ण*-व्यवस्था *जाति*-व्यवस्था में समाहित हो गई। कभी-कभी, यहाँ तक कि *वर्ण* और *जाति* शब्द का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर इस्तेमाल किया जाता था, विशेष रूप से *ब्राह्मण जाति* के लिए।

प्रांरभिक मध्ययुगीन काल से ही *जाति* की पहचान प्रमुख थी। सामाजिक संरचना की बदलती प्रकृति ने आरोही और अवरोही दोनों प्रकार की सामाजिक गतिशीलता के लिए मार्ग प्रदान किया। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सामाजिक परिवर्तन को *कलियुग* या *कलियुग* के संकट के नाम से जाना गया, जिसके लक्षणों को वर्ग भेदों और पदानुक्रमों के विस्तार और महिलाओं की अधीनता के रूप में भी चित्रित किया गया था। *कलियुग* की धारणा वैदिक परंम्पराओं से एक महान प्रस्थान-बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है। दुर्भाग्य से, शुरुआती शोधों में महिलाओं और लैंगिक संबंधों पर बहुत कम ध्यान दिया गया था। इकाई का उद्देश्य न केवल सामाजिक संरचना का एक व्यापक वर्णन प्रदान करना है, बल्कि उस कालावधि के सामाजिक इतिहास में महिलाओं और लैंगिक संबंधों को भी शामिल करना है।

14.2 सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए स्रोत

संस्कृत पवित्रता के शिकंजे से निकल कर राजनीति और साहित्य की भाषा बन गई। उस काल के अंत तक, उभरती हुई देशी भाषाएं साहित्यिक रचना में संस्कृत के वर्चस्व को चुनौती देने लगीं। उस काल के दौरान विभिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का प्रस्तुतिकरण किया गया। इनमें धार्मिक ग्रन्थ, कविता और नाटक (*काव्य-नाटक*), दार्शनिक ग्रन्थ, गणित, व्याकरण, चिकित्सा, संगीत, स्थापत्य कला, शब्द-कोष आदि पर तकनीकी ग्रन्थ शामिल थे। क्षेत्रीय राज्यों के प्रसरण ने भी राजसी आत्मकथाओं जैसी रचनाओं के लिखे जाने में प्रमुख भूमिका निभाई जैसे *बाणभट्ट* की *हर्षचरित, संध्याकरनंदिन* की *रामचरित, पदमगुप्त* की *नवसंवत्सनाचारित,* बिल्हन की *विक्रमांकदेवचरित,* हेमचन्द्र की *कुमारपल्लचारित,* और अज्ञातकृत *पृथ्वीराजविजय,* चंदबरदाई की *पृथ्वीराजरासो* आदि। कल्हण ने कश्मीर के शासकों और राजवशों के बारे में भारत में सबसे पहले ज्ञात ऐतिहासिक इतिवृत्त *राजतरंगिणी* भी लिखा। *पुराणों* की रचना और संकलन प्रारंभिक मध्यकाल में जारी रहा। जबकि *भागवतपुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण* और *कालिकापुराण* लेखबद्ध किये गये, कुछ पुराने *पुराणों* को जोड़ा गया था, और कुछ *उपपुराणों* की उस काल में रचना की गई थी। कुछ *धर्मसूत्रों* को भी संकालित किया गया था जैसे कि *चर्तुविंशतिमाता,* लक्ष्मीधारा के *कृतयाकल्प*-तरू और देवन भट्ट की *स्मृतिचंद्रिका*। जीमूतवाहन ने *व्यवाहरमत्रिका* नामक कानून और *दयाभाग* नामक प्रभावशाली नीति-संग्रह भी लिखा। *स्मृति* और *मीमांसा* ग्रन्थों पर टिप्पणियों ने समय और स्थान के अनुसार नये सिरे से व्याख्याएँ प्रदान की जो उस काल के सामाजिक परिवेश को प्रभावित करती हैं।

संस्कृत के अलावा, अन्य भाषाओं ने भी साहित्य के विकास को देखा। कुछ जैन ग्रन्थ महाराष्ट्र की प्राकृत भाषा में लिखे गये थे। जैन ग्रन्थों में अपभ्रंश के प्रभाव का भी पता लगाया जा सकता है। दक्षिण भारत में, अलवार और नयनार संतों की कथाओं की रचना तमिल में की गई थी। दक्षिण के राष्ट्रकूट, होयसाल और चालुक्य राजसी घरानों ने भी कुछ कन्नड़ रचनाओं सहित साहित्य का संरक्षण किया। इन ग्रन्थों के अलावा, गुजरात से *लेखापद्यति* कानूनी और अन्य दस्तावेजों के प्रतिरूपों का एक संग्रह; *कृषि पराशर,* बंगाल से कृषि पर एक ग्रन्थ; *धर्मकथा* जैन कथाओं का एक संग्रह; और *महावीरचार्य* के *गणितसार संग्रह* और गणित पर *भास्कराचार्या* की *लीलावती* भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्रदान करते हैं।

चीनी और अरब यात्रियों के वर्णन भी उस काल के लिए जानकारी का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। चीन से जुआनजैंग और यिजींग ने भारत का दौरा किया, जबकि सूलेमान, अल मसुदी, अबू जैद, अल-बिदुरी, इब्न हकल, अल बिरूनी, मुहम्मद उफी और इब्न बतूला जैसे अरब यात्रियों ने भारत के विषय में अपने समृद्ध लेखा-वृत्तांत छोड़े।

बड़ी संख्या में साहित्यिक स्रोतों के अलावा, इस अवधि के शिलालेख सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए सूचना का एक प्रमुख स्रोत हैं। मंदिर और पुजारियों को दिए गए भूमि अनुदानों में इस काल के लिए सबसे बड़ी मात्रा में स्पष्ट रूप से दर्शाए गए पुरालेखी ऐतिहासिक आँकड़े होते हैं। पुरातात्विक और मुद्रा-शास्त्रीय आंकड़ों के कम होने से इस कालावधि के लिए उनकी उपयोगिता को साबित करना अभी बाकी है।

14.3 विभिन्न परिप्रेक्ष्य

यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन था, जिसने महिलाओं के मसले को केन्द्रीय स्थिति प्रदान की। सामाजिक-धार्मिक आंदोलन ने महिलाओं की स्थिति और कई पूर्व-औपनिवेशिक प्रथाओं जैसे सती या विधवा-दाह, ब्रह्मचर्य पर आधारित विधवापन, विधवा पुनर्विवाह पर रोक, बहु-विवाह, और बाल-विवाह के खिलाफ लड़ाई लड़ी। कई भारतीय सुधारवादी और बाद में, राष्ट्रवादी विचारधारा वाले इतिहासकारों ने प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर स्त्रियों की स्थिति पर लिखने का जोखिम उठाया। पहले के अध्ययन आमतौर पर कुछ चुनिंदा मापदंडों जैसे कि संपत्ति, शिक्षा और सभाओं में उनकी भागीदारी के साथ-साथ परिवार के सीमित संदर्भ में पुरुष रिश्तेदारों के सम्बन्ध में, महिलाओं की सामाजिक स्थिति की जाँच से संबंधित थे। आरंभिक महिलाओं पर अध्ययन मुख्य रूप से *ब्राह्मण* ग्रंथों पर आधारित थे, जिनके लैंगिकता पर आधारित पूर्वाग्रहों को अनदेखा किया गया। इन स्रोतों के चयनात्मक के अध्ययन और *व्याख्या* परिणाम स्वरूप, राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने आमतौर पर प्राचीन भारत में महिलाओं की उच्च स्थिति का अनुमान लगाया। ऐसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व अत्यन्त प्रभावशाली लेखन कार्य ए. एस. अल्तेकर की *द पोजिशन ऑफ़ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,* नामक रचना है। जिन्होंने आर. सी. दत्त जैसे पहले के इतिहासकारों के समान ही पारंपरिक विचार-पद्धति को अपनाया। उन्होंने साम्राज्यवादी लेखन को अस्वीकार करने के लिए भारतीय नारीत्व का महिमामंडन किया और हमेशा अपने दृष्टिकोण में चयनात्मक बने रहे। बाद में, अल्तेकरवादी प्रतिमान को लगभग सभी नारीवादी इतिहासकारों ने चुनौती दी, जिन्होंने इसे बहुत सीमित और पक्षपाती कहा। उदाहरण के तौर पर उमा चक्रवर्ती ने अपने लेख, '*बियोंड द अल्तेकेरियन पैरांडाइम टूवर्डस ए न्यू अंडरस्टेंडिग ऑफ़ जेंडर रिलेशन्स इन अरली इंडियन हिस्ट्री,* ने इस पर जोर दिया कि महिलाओं को न्याय दिलाने के लिए आगे बढ़ने और पुनर्लेखन की तत्काल आवश्यकता है। तब से, स्त्रीवादियों और अन्य इतिहासकारों द्वारा महिलाओं की स्थिति और लैंगिक संबंधों पर बड़ी संख्या में किताबें और लेख प्रकाशित किए गए हैं।

जहाँ तक सामाजिक वर्गों का सवाल है, राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने आमतौर पर *जाति,* दासता और अस्पृश्यता जैसी सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को नज़रअंदाज किया। हालाँकि, कुछ मार्क्सवादी इतिहासकारों जैसे डी. डी. कोसंबी और आर. एस. शर्मा ने *शूद्रों,* अछूतों, दास प्रथा और *जाति* व्यवस्था पर उत्कृष्ट कार्य किए। लेकिन वें उच्च जातियों और अंर्त-वर्गीय / *जातीय* संबंधों की व्यापक गतिशीलता के बजाए, निम्न जातियों की भौतिक परिस्थितियों और अक्षमताओं और उनके सामाजिक-आर्थिक संबंधों की प्रकृति पर अधिक केन्द्रीत थे।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने प्रारंभिक मध्ययुगीन काल को *कलि*-युग सामाजिक संकट के रूप में चित्रित किया, जिसके लक्षण थेः व्यापार और सिक्कों के प्रचलन में गिरावट और शहरी केन्द्रों का पतन, बस्तियों का ग्रामीणकरण, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संबंधों का सामंतीकरण, राजनीतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण और विचलन। सबसे महत्वपूर्ण बात थी एक शोषणकारी सांमती व्यवस्था का उदय। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बाद में अन्य इतिहासकारों द्वारा चुनौती दी गई, जैसे हरमन कुलके और बी. डी. चट्टोपाध याय ने विखंडीकृत और एकीकृत राज्य के नये प्रतिरूपों का इस्तेमाल इस काल के विकासों की व्याख्या के लिए किया। इन इतिहासकारों ने समान स्रोतों का उपयोग किया, लेकिन विभिन्न निष्कर्षों तक पहुँचे और उस काल के विषय में अधिक जानकारी हमें दी। हालांकि

स्रोतों की विशालता को ध्यान में रखते हुए प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के सामाजिक आयामों पर बहुत कम काम किये गये थे।

बोध प्रश्न 1

1) 700 से 1200 सी.ई. तक की अवधि के लिए सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न स्रोतों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारंभिक मध्यकाल में सामाजिक संरचना और लैंगिक संबंधों पर विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

14.4 सामाजिक रूपान्तरण

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल ने जातियों और उप-जातियों के प्रसार और उनकी सामाजिक गतिशीलता के साथ महत्वपूर्ण *परिवर्तनों* को देखा। इससे सामाजिक व्यवस्था पहले की तुलना में अधिक जटिल और अस्थिर हो गई थी। एक ओर, सामाजिक परिवर्तनों ने एक कठोर, एकपक्षीय सरलीकृत सामाजिक व्यवस्था की चर्तु-*वर्ण* व्यवस्था, जिसकी ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा वकालत की गई थी, के आदर्श में एक महत्वपूर्ण बदलाव को अंकित किया। दूसरी ओर ब्राह्मण ग्रन्थों ने ब्राह्मणवादी विचारों के आदर्श से विचलन के तौर पर *कलियुग* को अन्य तीन पूर्ववर्ती युग – *क्रेता, त्रेता* व *द्वापर* के विपरीत सामाजिक पतन की बुनियाद के रूप में पेश किया गया। *कलियुग* के विवरण महाकाव्यों और *पुराणों* में लगभग तीसरी शताब्दी से दिखाई देते हैं और कुछ प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों और शिलालेखों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। *कलियुग* का संकट न केवल ब्राह्मणवादी सामाजिक मानदंडों से विमुखता के साथ ब्राह्मणवादी ग्रन्थों के लेखकों के असंतोष की एक मज़बूत अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में बदलती सामाजिक स्थिति पर भी टिप्पणी करता है।

एक ओर, *वर्णाश्रम-धर्म* की ब्राह्मणवादी योजना या समाज के *वर्णों* में आदर्श विभाजन और *आश्रम* या अवस्था में व्यक्ति के जीवन को प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों जैसे स्मृतियों, टीकाओं (*टीका, भाष्य, वृत्ति*) में दोहराया जाना जारी रहा जो *धर्मशास्त्रों* और *पुराणों* के सार धर्मशास्त्र संग्रह (संचय) या नीति-*संग्रह* (*निबन्ध*) पर आधारित थी। लेकिन दूसरी ओर उन्होंने समकालीन सामाजिक परिवर्तनों को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका भी अदा

की। उन्होंने शुरुआती मध्ययुगीन काल के बदलते सामाजिक परिवेश के मद्देनज़र ताजा व्याख्याओं, सशोंधनों और कभी-कभी प्रतिस्थापन की पेशकश की। कई प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रंथों ने *ब्राह्मण* या *द्विज ब्राह्मण* (दो बार जन्में) और सभी गैर-*ब्राह्मण* या *अद्विज* (दो बार नहीं जन्में) के बीच दोहरे विभाजन को आधार बनाया। यहाँ *शूद्र* सभी गैर-*ब्राह्मणों* के लिए प्रयोग किया गया है। दोहरे विभाजन पर आधारित यह योजना बंगाल और तमिल भाषी क्षेत्रों में सुस्पष्ट थी। दिलचस्प बात यह है कि यह दोहरा विभाजन दो महत्वपूर्ण सामाजिक समूहों, *क्षत्रियों* और *वैश्य* की उपस्थिति को छोड़ देता है। पहले के ग्रन्थों की तरह, प्रारंभिक मध्ययुगीन ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी *वर्ण-संकर* की अवधारणा के संदर्भ में जातियों के प्रसार की व्याख्या की, जो *वर्णों* के बीच या *वर्णों* में और (*मिश्रित जातियों*) के बीच वैवाहिक सम्बंधों को दर्शाता है। *मिश्रित* जातियों या मिश्र जातियों की बहुलता का या *जाति* पदानुक्रम की विस्तार का परिणाम माना गया था। अंर्त*वर्ण*-विवाह या *अनुलोभ* विवाह और *प्रतिलोभ* विवाह की कल्पना की गई थी, जिससे *वर्णसंकर* या *मिश्रित वर्ण* की उत्पत्ति हुई, जबकि दोनों को मंजूरी नहीं दी गई थी, *अनुलोभ* सन्तानों को *वर्ण*-पदानुक्रम में *प्रतिलोभ* विवाहों से जन्मी संतानों के ऊपर रखा गया था। *जाति* के स्तर पर आने के बाद कुछ भी 'शुद्ध' नहीं रहा। ब्राह्मणवादी *वर्ण-जाति* व्यवस्था ने इसके भीतर विभिन्न सामाजिक समूहों को अंगिकार किया, लेकिन कई समूहों ने इससे बाहर रखा। कई जन*जाति*यों, सीमांत लोगों, विदेशी प्रवासियों, व्यवसायिक समूहों और धार्मिक संप्रदायों को *वर्ण-जाति* व्यवस्था में शामिल किया गया, जबकि अन्य को *मलेच्छ* के रूप में बहिष्कृत दिखाया गया है। हालाँकि, *वर्ण-जाति* योजना के भीतर समूहों का समावेश, बहिष्करण और श्रेणी-बद्धता सभी ग्रन्थों में कभी भी सुसंगत और समान नहीं थे। यह एक अत्यधिक अस्थिर और क्षेत्रीय रूप से अलग-थलग सामाजिक स्तरीकरण का सुझाव देता है और इस प्रकार *वर्ण-जाति* व्यवस्था के मूल समूहों पर ब्राह्मणवादी अनुभूतियों के अंतर को बताता है।

14.5 नई सामाजिक व्यवस्था : जातियाँ

इस अवधि में समाज के हर पहलू में महान परिवर्तन देखा गया। प्रारंभिक मध्ययुगीन प्रक्रियाओं ने *वर्ण* से लेकर *जाति* तक परिवर्तनों को जन्म दिया। जातियों का प्रसार समाज की एक विशिष्ट विशेषता बन गया। समाज *द्विज* और *अद्विज* के दोहरे विभाजन से परे हो गया। वर्ण-व्यवस्था के भीतर संयोजन और परिवर्तन ने *मिश्रजाति* या मिश्रित जातियों के प्रसार की प्रक्रिया शुरू की। यह *राजतरंगिणी,* कश्मीर से 12वीं शताब्दी के इतिवृत सहित विभिन्न स्रोतों द्वारा अच्छी तरह से जाना जाता है। *जाति* ने विभिन्न स्तरों पर पदानुक्रम बनाए। अंतर्मिश्रित के तख्त पर ही तीन श्रेणियाँ बनाई गई थी : *उत्तमसंकर, मध्यमसंकर* और *अधमसंकर*। *जाति* व्यवस्था ने सरल गतिहीन समाजों को और आर्थिक जटिल अंतर्विवाही समूहों में बदल दिया। *जाति* व्यवस्था के भीतर विभिन्न स्तरों पर व्यावसायिक, देशी और गैर-स्वदेशी समूहों को शामिल किया गया था। *जाति* के साथ-साथ *गोत्रों* का प्रसार भी जारी रहा और 14वीं शताब्दी तक इनकी संख्या 500 तक पहुँच गयी।

14.5.1 पुरोहितीय *वर्ण* से ब्राह्मण उप-जाति की ओर

ब्राह्मणों ने एक अखंड या समरूप समूह का गठन नहीं किया। वे कई *गोत्रों, प्रवरों, वंशों, पक्षों, अनव्यों, गणों, गामीयों* आदि में विभक्त थे। शिलालेखों में *श्रोतिय, आचार्य, पुरोहित, पंडित, महाराज, पंडित, पाठक, त्रिपाठी, द्विवेदी, त्रिवेदी, चर्तुवेदी, दीक्षित, याज्ञनिक, शुक्ला, अग्निहोत्री, अवसथिक, अवस्थी* का प्रयोग किया गया है। वे यह भी संकेत करते हैं कि उनकी पहचान उनके अलग-अलग क्षेत्रीय या प्रादेशिक मूल, कुल या वंश, वैदिक शिक्षा के मत और पुरोहिती कार्यों आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न थी। इन अंतरों के बावजूद उनकी

वर्ण आधारित पहचान बनी रही। *ब्राह्मण* उप-जातियों के प्रसार ने प्रारंभिक मध्यकाल में *गोत्रों* में एक महत्वपूर्ण वृद्धि की। उत्तर-दक्षिण दोहरे विभाजन ने अपने क्षेत्र से जुड़े दो अलग-अलग *ब्राह्मणों* के समूह का निर्माण किया : *पंच गौड़* (उत्तरी समूह) और *पंच द्रविड़* (दक्षिणी समूह)। उनकी क्षेत्रीय सम्बंधता महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्रों तक सीमित नहीं थी, बल्कि अपने पैतृत्क गांवों तक थी। उदाहरण के लिए बंगाल और मिथिला में, *ब्राह्मणों* को उनके *गामियों* और *मूलों* के आधार पर कई उप-जातियों में विभाजित किया गया था।

उन्होंने भूमि अनुष्ठान और शास्त्रों में अपनी शक्ति के माध्यम से प्रारंभिक मध्ययुगीन समाज के ऊपरी सोपानों पर कब्ज़ा कर लिया। क्षेत्रीय राज्यों के प्रसार ने भी *ब्राह्मणों* के उद्देश्य को पूरा किया। सत्ता और वैधता के संघर्ष में, *ब्राह्मणों* ने उभरते हुए सत्तारूढ़ परिवारों से उन्हें महाकाव्य और पौराणिक नायकों और देवताओं से जोड़ते हुए, मनगढंत वंशावली बनाने के बदले में और उनके लिए भव्य बलिदान करने के लिए संरक्षण प्राप्त किया। राजनीतिक स्तर पर, *ब्राह्मण* राजनीतिक शक्ति के वैचारक और वैधता प्रदान करने वाले रूप में उभरे। उन्हें राजकोषीय, प्रशासनिक और न्यायिक अधिकारों के साथ भूमियाँ दी गई थी। ऐसे भूमि अनुदान न केवल व्यक्तिगत रूप से बल्कि सामूहिक या संस्थागत रूप से भी दिये गये थे।*ब्राह्मण* और उनके धार्मिक प्रतिष्ठान जैसे मंदिर या मठ भूमि अनुदान के सबसे बड़े लाभार्थी के रूप में उभरे। राज्य-व्यवस्थाओं के प्रसार से नये क्षेत्रों में भूमि-अनुदान दान में तेजी आई और भूस्वामियों (*ब्राह्मण अग्राहरियों*) का एक अलग विशिष्ट वर्ग बनाया, जो ना तो सामंती थे और ना ही कृशक। इस अर्थ में वे शासक को बिना कर या उपहार चुकाए, बिना भूमि को जोते, भूमि और राजस्व का आनन्द लेते थे। दूसरे शब्दों में वे बिना सांमती ज़िम्मेदारियों के सामंती शासक बन गये।

प्रारंभिक मध्यकाल से ही *ब्राह्मण* ग्रामीण समाज या कृषि समुदाय में शामिल हो गए थे। वे प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में प्रमुख भू-स्वामी समुदाय या ग्रामीण भू-आभिजात्य वर्ग के रूप में उभरे। उन्होंने भूमि-अनुदान, प्रवासन, *ब्राह्मणवादी* मंदिरों और मठों के प्रशासन और सत्तारूढ़ विशिष्ट वर्ग के साथ संबंध के माध्यम से खुद को सशक्त किया। उन्होंने उपमहाद्वीप के विभिन्न समाजों में परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया। इस काल में वे भूमि अनुदान और प्रवासन के माध्यम से ग्रामीण समाज में गहरे प्रवेश कर गये। भूमि अनुदानों के अध्ययन से सकेंत मिलता है कि अधिकांश मामलों में *ब्राह्मण* ही दान लेने वाले दिखाई दिए। उन्हें *अग्रहार* और *गैर-अग्रहार* दोनों बस्तियों में प्रतिनिधित्व दिया गया और उन्होंने कृषि विस्तार में भी मदद की। वे न केवल नई बस्तियाँ स्थापित करने में सहायक थे, बल्कि उन्होंने नई बस्तियों में वर्ग और *जाति* से भी समाज का परिचय कराया। चाहे वे खुद जमीन पर खेती करतें हों या नहीं, यह पता नहीं लगाया जा सकता, लेकिन यह निश्चित है कि वे किसान परिवार का हिस्सा बन गए हैं। वे प्रभावशाली भू-सम्पत्तिवान वर्ग के रूप में उभरे और उन्होंने *महात्मों, कुटुम्बिन, कायस्थों* आदि जैसे अन्य सामाजिक समूहों के साथ सांठगांठ करके अपना अधिकार जमा लिया। इससे अनुष्ठान, शास्त्र और भूमि के आधार पर उनकी शक्ति में और वृद्धि हुई। दूसरी ओर, सत्ताधारी कुलीनों नें भी *ब्राह्मणों* के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में अपने अधिकार को पुनर्स्थापित किया, और ग्रामीण समाज में उप-सामंतीकरण को आगे बढ़ाया। क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं के प्रसार ने भी उन्हें न केवल भूमि-अनुदान के माध्यम से अपनी स्थिति को आगे बढ़ाने में मदद की, बल्कि संसाधनों और अधिकारों की एक विशाल श्रृंखला के रूप में व्यापक विशेषाधिकार भी प्राप्त किये। इस प्रक्रिया में दोनों ने एक दूसरे को वैधता प्रदान की। विशाल संसाधनों और श्रमिकों पर अपनी पकड़ के साथ, *ब्राह्मणों* ने ग्रामीण समाज में अपनी स्थिति को मज़बूत किया। व्यापक देशान्तर जाल, नातेदारी संबंधों, शैक्षणिक योग्यता, और राजसी संपर्क ने *ब्राह्मणों* के वर्चस्व का क्षेत्र बढ़ाया। यह कालअवधि उपमहाद्वीप में *ब्राह्मणवादी* धार्मिक

केन्द्रों या परिसरों के उद्भव का भी गवाह बनी। ग्रामीण क्षेत्रों में *ब्राह्मण*वाद के विस्तार ने पुरोहितों के महत्व को असाधारण अनुष्ठानों, *वृतों* और *प्रायचितों* के द्वारा बढ़ाया। भूमि अनुदानों के अतिरिक्त, उनको सामान्य लोगों को दी गई सेवाओं के बदले में दान और दक्षिणा भी प्राप्त होती थी।

वैदिक बलि के अनुष्ठानों में कमी आने से *ब्राह्मणों* के लिए नये मार्ग खुल गये। भूमि-अनुदानों प्रवासन, राज्य-निर्माण और कृषि विस्तार ने *ब्राह्मणों* के लिए कृषि, व्यापार, प्रशासनिक और सैन्य सेवाओं जैसे गैर-धार्मिक व्यवसायों को अपनाने के लिए अनुकूल वातावरण बनाया। ब्राह्मणों के द्वारा कई तरह के व्यवसाय अपनाने के पुरालेखों और साहित्यिक स्रोतों में कई उदाहरण हैं क्षेमेन्द्र की *दशावतारचरित* (11वीं शताब्दी सी.ई.) में कुछ *ब्राह्मणों* द्वारा कारीगरों, नर्तकों, शराब, मक्खन, नमक विक्रेताओं आदि के अपमानजनक व्यवसायों को अपनाने का वर्णन किया गया है, और यह भी वर्णन है अन्य *ब्राह्मण* लोग अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को छोड़ने से कैसे 'पदच्युत' हो रहे हैं। यह हालांकि, यह संकेत नहीं करता की उन्होंने पूरी तरह से अपने पुरोहितीय कार्यों को छोड़ दिया था। *भक्ति* पंथ के प्रसार से नई पूजा-विधि, तीर्थों, पूजाओं, व्रतों, तपस्याओं और *पुराणों* के सस्वर पाठ में आय के अच्छे स्रोत के साथ उनकी कमाई जारी रही। उन्होंने सत्ताधारी कुलीनों, सामंतों के साथ अपने संबंधों भूमि-अनुदानों और अन्य प्रकार के उपहारों के कारण काफ़ी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त की।

ब्राह्मणों ने न केवल कृषि को अपनाया, जो *वैश्य-शूद्रों* का प्राथमिक व्यवसाय था, बल्कि व्यापार सहित विभिन्न गैर-पारंपरिक व्यवसायों को भी अपनाया। चारुदत्त, *मृच्छकटिक* नाटक का नायक, पेशे से एक व्यापारी और *जाति* के एक 'धर्मपरायण *ब्राह्मण*' हैं। यह सामान्य तौर पर नहीं कहा जा सकता है कि पुरोहित वर्ग के सभी सदस्यों ने भौतिक समृद्धि का आनंद लिया, उनमें से कुछ ने निम्न स्तर के कार्यों का भी सहारा लिया। *जजमानी* प्रणाली के विकास के कारण *ब्राह्मण* भी स्थिर हो गये और स्थानीय सामाजिक समूहों से जुड़ें रहे, जिन्होंने *ब्राह्मणों* द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के बदले में उन्हें संरक्षण प्रदान किया। ब्राह्मणवादी ग्रन्थ यह प्रमाणित नहीं करते कि *ब्राह्मणों* की सेवाओं को कुछ मिश्रित जातियों तक पहुँचाया गया। जिन *ब्राह्मण* लोगों ने उनको सेवा दी उन्हें मिश्रित जातियों के बराबर पदच्युत और *पतित* घोषित किया गया। अल-बरूनी ने भी ईरानी मूल के *मग* या *शकद्वीपी* ब्राह्मण नामक एक पदच्युत *ब्राह्मण* का उल्लेख किया है। *राज-ब्राह्मण, क्षत्रिय-ब्राह्मणों, वैश्य-ब्राह्मणों* और *शूद्र ब्राह्मणों* के रूप में सरासर व्यावसायिक विविधता और सामाजिक स्थिति का स्पष्ट वर्गीकरण आरोही और अवरोही गतिशीलता को दिखाता है। *ब्राह्मणों* का एक वर्ग भू-आभिजात्य वर्ग से आगे चला गया और प्रादेशिक शक्तियों को प्राप्त कर *क्षत्रिय* दर्जे का कुलीन शासक बन गया। *ब्राह्मण-क्षात्र* का संयोजन एक अनिर्णित स्थिति नहीं थी, इसलिए उन्होंने *ब्राह्मण* को छोड़कर विशुद्ध रूप से *क्षत्रिय* मूल का दावा किया। राजस्थान के उभरते सत्तारूढ़ परिवारों जैसे चाहमानों, प्रतिहारों और गुहिलों ने पहले अपने *ब्राह्मण* मूल के कारण दो *वर्णों* के मिलन से अपनी वंश-परम्परा का दावा किया, लेकिन *क्षेत्रियों* की भूमिका निभाई। लेकिन एक बार उन्होंने खुद को स्थापित कर लिया तो उन्होंने पूरी तरह से *ब्राह्मणीय* दर्जा छोड़ दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्थाओं के क्षेत्र में प्रसार के कारण *ब्राह्मणों* की स्थिति अधिक जटिल और अस्थिर हो गई। *ब्राह्मणों* के बीच संस्कृति-सक्रंमण, एकीकरण, वर्गीकरण और पदानुक्रम के प्रभावों से *ब्राह्मणों* की कई उप-जातियों का उदय हुआ। भूमि-अनुदान के माध्यम से नई भूमि की खोज, ब्राह्मणवादी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक तह के भीतर लोगों के एकीकरण ने *ब्राह्मणों* को भारतीय उप-महाद्वीप में सम्पन्न जातियों में से एक के रूप में उभारने में मदद की।

14.5.2 शासक जातियों का उभरना

क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्था या सत्ताधारी घरानों के प्रसार ने कई सामाजिक परिवर्तन किए। पारंपरिक *क्षत्रिय वर्ण* आदर्श स्थिति में चला गया और नए वंशों पर आधारित सामाजिक समूहों को रास्ता दिया, जिन्हें प्रारंभिक मध्यकाल का ''*राजपुत्र* या *राजपूत*'' कहा जाता था। आरंभिक मध्यकाल के ग्रन्थ जैसे *कुमारपालचरित, वर्णरत्नाकर, राजतरंगिणी,* आदि में राजपूतों के छत्तीस कुलों का उल्लेख है। लेकिन 36 *राजपूत* कुलों की सूची ग्रन्थ से ग्रन्थ में भिन्न होती है। जबकि *चाहमानों* और *प्रतिहारों* जैसे कुछ कुलों को बहिष्कार का सामना नहीं करना पड़ा और सूची में नियमित रूप से शामिल हुए।

राजपूत की उत्पत्ति एक बहुत ही विवादित विषय है, फ़िर भी यह निष्कर्ष निकालना मुष्किल है कि वे विदेशी आप्रवासी थे या देशी जनजातियाँ या पुराने *क्षत्रिय* या *ब्राह्मण* या वर्गीकृत किए गए सामंत या सभी। *राजपूतों* का विस्तार विविध मूलों की ओर संकेत करता है। 8वीं शताब्दी के बाद से पश्चिमी और मध्य भारत में ऐसे कई समूह उभरे और वहाँ राजनीतिक स्थान पर कब्ज़ा कर लिया। बाद में इसी प्रक्रिया को भारतीय महाद्वीप के कई हिस्सों में दोहराया गया जिसने इसे उस समय की विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया बनाया। 'राजपूतीकरण' की प्रक्रिया के माध्यम से कई नये वंशों को राजनीतिक स्थिति में शामिल किया गया। राजपूतीकरण की प्रक्रिया 7-8वीं शताब्दी सी.ई. में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। राजपूतों ने मिथकों, विवाह गठबंधन, *ब्राह्मणों* के समर्थन, संप्रदाय *भक्ति* पंथ के माध्यम से अपनी शक्ति और स्थिति को बढ़ाया। राजपूतों के कई नए वंश उभरे। कई प्रमुख वंश छोटे कुलों में विभाजित हो गए। बी. डी. चट्टोपाध्याय प्रारंभिक मध्ययुगीन प्रक्रियाओं के साथ राजपूत की उत्पत्ति के बारे में बताते हैं जैसे कि भूमि-अनुदान के माध्यम से नए क्षेत्रों का उपनिवेशीकरण, बड़े स्तर पर क्षेत्रीय संरचना में एकीकरण, कृषि का विस्तार, गाँव की अर्थव्यवस्था का विस्तार, जातियों का प्रसार आदि। एक तरफ 'मेड़' जैसा कबीला एक आदिवासी पृष्ठभूमि से राजपूत वर्ग में पहुँच गया। दूसरी तरफ, हूणों जैसे विदेशी आप्रवासी भी राजपूत वर्ग में शामिल किये गए। आरोही गतिशीलता ने कई समूहों को राजपूत या *क्षत्रिय* स्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा करने का अवसर दिया।

भूमि अनुदानों से भी नए वर्गों का उदय हुआ। सामंती शासक या कुलीन एक अलग वर्ग के रूप में उभरे। भट्ट भुवनदेव (12वीं शताब्दी) के *अपराजितप्रच्छा* में सामंतों की आठ श्रेणियों को सामंती जागीरें प्रदान की जाती हैं, और *महामण्डलेश्वर, मण्डलिका, महासामन्त, सांमत* और *लघुसांमत* सहित उनके पदानुक्रम के अनुसार घरों की योजना वितरित की जाती है। यह बताता है कि सम्राट जो *महाराजाधिकार परमेश्वर* की उपाधि धारण करते हैं, उनके पास चार *मंडलेश्वर,* 12 *मंडलीक,* 16 *महासामंत,* 32 *सामंत,* 160 *लघुसामंत* और 400 *चर्तुसिका* उनके दरबार में होने चाहिए, जिनके नीचे अन्य सभी राजपुत्र कहलाते हैं। यह स्पष्ट रूप से पता नहीं लगाया जा सकता है कि इन सामंती राजाओं ने *क्षेत्रिय* या राजपूत का दर्जा रखा था या नहीं। लेकिन यह स्पष्ट है कि शुरू में राजपूतों को सामंती पदानुक्रम के निचले क्रम पर रखा गया था। अन्य एक अन्य समकालीन ग्रन्थ *मानसार* इंगित करता है कि *वर्णों* के बावजूद सामंती पदानुक्रम में दो सैन्य पद *प्रहारका* और *अस्त्रग्राहिन,* सभी *वर्णों* के लिए खुले थे। रैंक में कम होने के बावजूद, अस्त्रग्राहिन 500 घोड़ों, 5000 हाथियों, 50,000 सैनिकों, 5000 महिलाओं और एक रानी के अधिकारी थे। भूमि और शक्ति उभरते सामाजिक और राजनीतिक वर्गों का आधार बन गयी। शुरुआती मध्यकाल में कुछ *वाणिज्य* अथवा व्यापारिक जातियों और कारीगरों को भी सैन्य और प्रशासनिक पद का सकेंत देते हुए सामंती खिताब दिये गए थे। इन प्रशासनिक पदों ने पद धारण करने वालों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाया। *ठाकुर, राउत* और *नायक* जैसी उपाधियाँ ना केवल राजपूतों

और *क्षेत्रियों* को दी जाती थी, बल्कि *कायस्थों* या अन्य जातियों के सदस्यों को भी दी जाती थीं। *राजपुत्र, राजकुल* या *रानाका* जैसे नए शीर्षकों को अपनाना न केवल राजपूत वंशों तक सीमित था, बल्कि कुछ बाहरी लोगों के लिए भी खोला गया था। ये उपाधियों सामंती उपाधियों जैसे *सामंत, महासामंत, लघुसामंत* आदि से पूरी तरह अलग थीं। आधुनिक समय में विभिन्न जातियों द्वारा इन उपाधियों को अपनाने से प्रारंभिक मध्ययुगीन घटना प्रमाणित होती है।

प्रारंभिक चरण में सभी प्रमुख राजपूत वंशों जैसे प्रतिहारों, गुहिलों और चहमानों ने स्थापित राजवंशों के तहत सामंती स्थिति का दावा किया। उन्होंने ना केवल स्वतंत्र शक्ति की घोषणा करके अपनी राजनीतिक स्थिति को बदल दिया, बल्कि राजपूत दर्जे का दावा करके सम्मानजनक सामाजिक वंश का दावा भी किया। उन्होंने अपनी वंशावली गढ़ी और पौराणिक अतीत की *क्षत्रिय* स्थिति का दावा किया। 11-12वीं शताब्दी सी.ई. में राजपूत वंशों का प्रसार एक व्यापक सामाजिक घटना का परिणाम था जिसे राजपूतीकरण कहा जाता हैं। मुख्य कुलों से उप-कुलों या मामूली कुलों का गठन भी राजपूतों के प्रसार की प्रक्रिया को तेज कर देता है। डोड़ा, परमारों का एक उप-कबीला, पीपड़िया, मंगलाय, गुहिलों के उप-वंश, देवड़ा, मोहिला और सोनी, चहमानों के उप-समूह, और दाधीच, समय के साथ राठौरों का एक उप-कबीला बना। कई कारकों ने इस उप-कबीले के गठन में योगदान दिया जैसे की प्रत्यक्ष विभाजन, स्थानीयता और वैवाहिक गठबंधन।

शूद्रों सहित *राजपूतों* के नई सामाजिक-राजनीतिक गठजोड़ में विविध सामाजिक समूह सम्मिलित हो गए। इसलिए *बृहद धर्म पुराण* ने *राजपूतों* को मिश्रित *जाति* माना और *शूद्र* महिला के मिलन से पैदा हुई मिश्रित *जाति* उग्र के समकक्ष माना। अरब यात्री इब्न खुदार्द्बा के वर्णनों (10वीं शताब्दी सी.ई.) में दो प्रकार के *क्षत्रियों* का पता चलता है। *सत-क्षत्रिय* और *असत-क्षत्रिय*। शुद्ध और अन्य *क्षत्रियों* के बीच यह द्विआधारी विभाजन 12वीं शताब्दी सी. ई., की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गया, जो कई ग्रन्थों और शिलालेखों द्वारा सत्यापित है, जो कि विभिन्न शासक कुलीन वर्गों और अन्य लोगों के बीच श्रेष्ठ कुलों को अलग करने के लिए हैं।

14.5.3 व्यापारिक जातियों अथवा *वैश्यों* का प्रसार

वैश्य वर्ण में भी प्रारंभिक मध्यकाल में परिवर्तन आया। जातियों के प्रसार के कारण *वैश्य वर्ण* के भीतर कई व्यवसायों का समावेश हुआ। उस काल के दौरान *वैश्य वणिज* या व्यापारी का पर्याय बन गए। कृषि के विस्तार और कृषि के साथ *शूद्रों के विशिष्ठ* जुड़ाव ने *वैश्यों* को *श्रुति* साहित्य द्वारा सौंपे गए अपने पारंपरिक कर्त्तव्यों को छोड़ने के लिए मजबूर किया। हमारे पास उनकी बस्तियों के संदर्भ हैं जिन्हें *वाणिज्य-* ग्राम के नाम से जाना जाता है। शिल्प और विभिन्न प्रकार के कारीगरी उत्पादनों के प्रसार के कारण मुख्य रूप से रत्नों, मोती, मूँग, धातु, बुने हुए कपड़े, इत्र और मसालों से संबंधित *वणिज* जातियों का विस्तार हुआ। प्रारंभिक मध्यकाल तक *वणिज* की पहचान वैश्य के बजाए, एक प्रमुख अस्मिता के रूप में उभरी या जानबूझकर उन्होंने अपनी *वर्ण* पहचान को छोड़ दिया। पश्चिमी भारत के कुछ *वणिज* परिवारों ने अपनी समृद्धि स्थापित की और धार्मिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को संरक्षण देना शुरू कर दिया। 9वीं शताब्दी के सियाड़ोनी शिलालेख से पता चलता है कि एक नमक व्यापारी या *नेमाका-वणिज,* जिनके पिता भी *नेमाका-वणिज* थे और जिन्होंने धार्मिक प्रतिष्ठानों को कई दान दिए और आखिर में *नेमाका-जाति* के सदस्य बन गए। इस प्रकार एक वशांनुगत पेशा जो *वर्ण* की बजाए *जाति* की स्थिति में बदल गया।

14.5.4 *शूद्रों* का प्रसार

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के साथ-साथ *चौथे वर्ण* में भी महान परिवर्तन देखा गया। प्रारंभिक मध्ययुगीन प्रक्रियाओं ने निम्न या निम्नतम *शूद्र*-जातियों या मिश्रित जातियों की संख्या के प्रसार को भी बढ़ावा मिला। इतने बड़े समूह का उदय न तो एक समान है और न ही स्थिर। कुछ पुराने पुराने नाम जारी रहे, जबकि कुछ नए अलग-अलग नाम अंतराल पर जोड़े गये। बंगाल से 10वीं से 15वीं शताब्दी सी.ई. के बीच *ब्रह्मवैवर्त-पुराण* में 17 *सत्-शूद्र* जातियों और विभिन्न *असत-शूद्र* जातियों के नाम दर्ज हुए, जिनके साथ पतित और अधम् का दर्जा उनके अशुद्ध और अछूत स्थिति पर दिया गया। 12वीं-13वीं शताब्दी के बंगाल के वृहद्धर्मपुराण में 36 मिश्रित-जातियों या गैर ब्राह्मण स्थिति के मिश्रित *शूद्रों* को दर्ज किया गया था। उन्होंने आगे चलकर उन्हें 22 *उत्तम,* 12 *मध्यम* और 9 *अधम* अथवा *अंत्यज* श्रेणियों में विभाजित किया। ऐसा लगता है कि 36 मध्ययुगीन समय में विशेष रूप से वर्ग और जातियों के संबंध में रूढ़िवादी घिसा-पिटा आँकड़ा उभरा। प्रारंभिक मध्ययुगीन साहित्य में राजपूतों के 36 कुलों का उल्लेख काफ़ी महत्वपूर्ण हो गया। जातियों की संख्या हजारों तक बढ़ गई या शुरुआती मध्ययुगीन काल में गणना की दृष्टि से बहुत अधिक थी। *विष्णुधर्मोत्तारपुराण* (8वीं शताब्दी सी.ई.) में हजारों मिश्रित-जातियों का उल्लेख है। चीनी यात्री जुआनजेंग भी अनेकों जातियों को उल्लेख करता है।

14.5.5 अछूत

कभी-कभी अछूतों को पाँचवा *वर्ण* भी कहा जाता था। कुछ समूहों को सामाजिक पदानुक्रम के सबसे निचले तल पर रखा गया था, इसलिए *वर्ण-जाति* व्यवस्था में उन्हें गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक अलगाव और भेद-भाव का सामना करना पड़ा। यह धारणा वैदिक काल की तरह पुरानी है। उन्हें पहली बार 600 सी.ई. में *चांडाल, मगध* और *पौलकसा* के रूपों में देखा गया था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उस दौरान यह प्रचलित था या नहीं। लेकिन यह स्पष्ट है कि उनके साथ अलग तरह से व्यवहार किया गया था। लगभग 200 सी.ई. में इस धारणा ने आरंभिक *धर्मसूत्रों, अर्थशास्त्र* और *मनुस्मृति* में एक निश्चित आकार लिया। *चांडाल* अछूत का पर्याय बन गया और ब्राह्मणवादी, बौद्ध और जैन ग्रंथों द्वारा समान रूप से व्यवहार किया गया। *चांडाल* के साथ-साथ *श्वापक* और *अन्तयावासाईन* मलीनता के स्थायी स्रोत बन गये और उन पर कई तरह की अक्षमताऐं थोपीं गई। उन्हें निम्न स्तर के या अशुद्ध व्यवसायों को भी सौंपा गया जैसे कि श्मशान, सफाई कर्त्ता और जल्लाद।

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में अस्पृश्यता का प्रचलन तेज हो गया। *विष्णुस्मृति* और *कात्यायन स्मृति* जैसी ब्राह्मणवादी विधि की पुस्तकों में पहली बार '*अस्पृश्य* शब्द का प्रयोग किया गया। सूची में और समूहों को जोड़ा गया था लेकिन *चांडाल* और *श्वापक* को अछूत माना जाता रहा और उन्हें और अधिक पाबन्दीयों से लाद दिया गया। वे *शूद्रों* से भी अलग थे। चीनी यात्री फॉ-सियन भी *चांडाल* के सामाजिक, व्यवसायिक और शारीरिक के अलगाव को प्रमाणित करते हैं। बौद्ध और जैन ग्रन्थों द्वारा भी उनके साथ समान बर्त्ताव किया गया। 12वीं शताब्दी में अस्पृष्यता अपने चरम् पर पहुँच गई। नए क्षेत्रों में ब्राह्मणवादी समाज के विस्तार के कारण विभिन्न व्यवसायिक समूहों और जनजातियों को अछूतों में शामिल किया गया। अनुष्ठान की शुद्धता और अशुद्धता की धारणा और तेज हो गई, और यह दृष्टि, छाया, पानी और भोजन के माध्यम से भी संक्रामक बन गई। *चांडाल* सबसे बुरी तरह प्रभावित थे। कुछ सह-भोज का प्रतिबंध झेलने वाले निम्न स्तरीय वाले समूहों को भी अछूतों के रूप में नामित किया गया जिनमें *चर्मकार, राजका, बुखड़, नट, चकरी, ध्वजी, शौडिंका, शिकारी,*

मछुआरे, कसाई, जल्लाद और *मेहतर* शामिल थे। गौ-मांस खाने वाले या *गवासनों* को पहली बार अछूत बनाया गया। कई आदिवासी जन *जातियाँ* जैसे कि *भील, कैवर्त, मेद* और *कोलिकों* भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था को अस्वीकार करने के कारण अछूत बना दिया गया। लेकिन उन्हें मुख्यधारा के अछूतों जैसे *चंडाल* और *श्वापक* जैसे बर्ताव का सामना नहीं करना पड़ा। सभी *ब्राह्मण* ग्रंथों में *कैवर्त* और *निषाद* को अछूत के रूप में दर्ज नहीं किया गया था। ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोध के कारण कुछ कृषि जातियों को भी अछूत करार दिया गया। विभिन्न समूहों से जुड़ी अस्पृश्यता की श्रेणी के आधार पर अछूतों के बीच पदानुक्रम बनाने के प्रयास भी किए गए थे। कभी-कभी *शूद्रों* को अछूतों के रूप में भी पहचाना जाता था, विशेष रूप से *असत-शूद्रों* को। संक्षेप में अस्पृश्यता को एक तरफ बहिष्कार के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया था, दूसरी ओर, इसका इस्तेमाल असन्तुष्टों की आवाज़ दबाने के लिए किया जाता था। लेकिन सभी अछूतों को समाज से बाहर नहीं किया गया था। कुछ प्रारंभिक मध्ययुगीन *ब्राह्मण* ग्रन्थ असाधारण उद्धरण प्रदान करते हैं। *स्मृतिअर्थसार* अछूतों को मन्दिर में प्रवेश की अनुमति देता है। *अत्रिस्मृति* और देवन भट्ट की *स्मृतिचन्द्रिका* कई अवसरों पर अछूतों के साथ मेल-जोल करने की अनुमति देती है जैसे कि त्योहारों, युद्धों और धार्मिक जुलूसों में; और देश और गाँवों की विपदाओं और आक्रमणों के दौरान। दूसरी ओर *राजतंरगिंणी* भी विपरीत तस्वीरें पेश करती हैं, जहाँ *डोम्ब* और *चंडाल* दरबार की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं; हालाँकि कल्हण ने अपने काल में बढ़ती अस्पृश्यता की विभीषिका का भी खुलासा किया।

14.5.6 नई जातियाँः *कायस्थ* और *वैदय*

कायस्थों के समुदाय के रूप में कायस्थ का उदय काल का एक अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक विकास है। भूमि अनुदानों के प्रसार ने शिलालेख या दस्तावेज लेखकों या अभिलेखकों के देखभाल करने वालों का एक वर्ग बनाया। वे *कायस्थ, करण, कर्णिका, आधिक, पुश्तपालक, चित्रगुप्त, लेखक, द्विरा, धर्मलेखिन, अक्षरकान, अक्षपातालिक* और *अक्षपातालाधिकृता* के रूप में विभिन्न नामों से जाने जाते थे। इन दर्जन श्रेणियों में से, उन्होंने *कायस्थों* के एक वर्ग का गठन किया। प्रारंभ में ऊपरी *वर्णों* के साक्षर व्यक्तियों को *कायस्थ* के रूप में नियुक्त किया गया था; बाद में, दस्तावेज लेखन सभी के लिए खुले पेशा बन गया। जब यह पेशा वशांनुगत हो गया तो इसने एक *जाति* का रूप ले लिया जहाँ उन्होंने सवर्गीय विवाह और विजातीय विवाह की धारणा को अपनाया। कायस्थों का *द्विजों* और *अद्विजों* अथवा *शुद्रों* के साथ संसर्ग के कारण कायस्थ *वर्ण* एक संघ के रूप में स्थापित नहीं हो सका।

ब्राह्मणवादी निर्देशात्मक ग्रन्थों ने *अम्बाष्ठ* या *वैद्यों* या चिकित्सकों को *शुद्ध* घोषित किया और द्विजों को इसे अपना पेशा बनाने से रोक दिया। इसके विभिन्न कारण हो सकते हैं– शायद उनकी विज्ञान चेतना के कारण या शायद बौद्ध मठों के साथ उनके संसर्ग के कारण। प्रतिबंधों के बावजूद, कई समूहों ने पेशे को अपनाया और निर्देशात्मक ग्रन्थों की उपेक्षा करके चिकित्सक बन गये। हमेशा की तरह अभ्यास वशांनुगत हो गया और पेशा *जाति* में बदल गया। जब *ब्राह्मणों* ने खुद ब्राह्मणवादी मठों में इस पेशे का अभ्यास करना शुरू कर दिया, तो पेशे के खिलाफ पूर्वाग्रह में काफ़ी कमी आई। चिकित्सा, वनस्पति विज्ञान और पशु-चिकित्सा विज्ञान में पुस्तकों की रचना ने भी पेशे और *जाति* का दर्जा उपर उठा दिया।

14.6 जनजातियाँ

ग्रामीण इलाकों के साथ-साथ आंतरिक ग्रामीण इलाकों के लिए दिये गये भूमि अनुदानों के कारण राज्य समाज के साथ वहाँ की जंगलों में रहने वाली जनजातियाँ आमने-सामने आती

हैं। कई शिलालेखों से संकेत मिलता है कि पूर्व-राज्य समाज से राज्य समाज या कृषिकरण तक परिवर्तन बिल्कुल भी शांतिपूर्ण नहीं था। उन्होंने राज्य और नई विचारधारा दोनों का विरोध किया, लेकिन दोनों ही जनजातियों को ब्राह्मणवादी सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था के अंतर्गत वशीभूत करने और बदलने में सफल रहे। बदले में *ब्राह्मणों* ने आदिवासी पंथों को ब्राह्मणवादी श्रेणी में डाल दिया। पंथों के अपनाने की प्रक्रिया ने शासक वर्ग के राजनीतिक उद्देश्य को भी पूरा किया। पुरी का जगन्नाथ पंथ आदिवासी एकीकरण का सबसे अच्छा उदाहरण है, जो प्रारंभिक मध्ययुगीन उड़ीसा में गंगा वशं (11-15वीं शताब्दी) के संरक्षण में उभरा। संपूर्ण जनजाति, जाति या वर्ण में परिवर्तित नहीं हुई, बल्कि विभिन्न स्तरों पर हुई एक ही जन *जाति* के कुछ समूहों को उच्चतम् स्तर पर (अर्थात् *ब्राह्मण क्षत्रिय* के रूप में) या निम्नतम् स्तर पर (अर्थात् शूद्र या अछूत के रूप में) शामिल किया गया था। *अभीर ब्राह्मण, अम्बास्थ ब्राह्मण* और *बोया ब्राह्मण* जैसे ब्राह्मणकृत जनजातीय समूहों के कुछ बेहतरीन उदाहरण हैं। बोया जो कि दक्कन के नेलनूर-गुटूंर क्षेत्र में प्रमुख आदिवासी समुदाय थे, *ब्राह्मणों* में बदल गये और दक्कन की प्रमुख स्थानीय शक्ति के रूप में उभरे।

14.7 दास

वैदिक काल से ही दास्ता का अस्तित्व था, लेकिन दासों को कभी भी उत्पादन-संबंधी गतिविधियों में शामिल नहीं किया गया और वे तथाकथित अशुद्ध घरेलू कार्यों जैसे कि झांडू लगाने, मानव मल हटाने और व्यक्तिगत सेवाओं को स्वामी तक पहुँचाने तक ही सीमित थे। दास कभी एक समान वर्ग के नहीं थे। अर्थशास्त्र पाँच प्रकार के दासों की गणना करता है; *मनुस्मृति* सात प्रकार के, और *नारदस्मृति* पद्रंह प्रकार के। उनके जन्म, क्रय, बंधक, उपहार, विरासत, स्वैच्छिक दासता, युद्ध में बंदक, ऋृणगस्तता आदि के आधार पर दासों के बीच अन्तर थे। गुलाम या *दास* किराए के नौकरों से अलग थे। *शूद्रक की मृच्छकटिका* में दासता की जीवंत तस्वीर पेश की गई है। दास क्रय और विक्रय की वस्तु थे। दासपुत्र या *दास के पुत्र* और *दास पुत्री* या दास की बेटी, को बार-बार अपशब्दों के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। *लेखापदयति,* 13वीं शताब्दी का ग्रन्थ, घरेलू और खेतों में महिला दास के कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन करता है और उन्हें विदेश भेजने की अनुमति भी देता है। दास पूरी तरह से अपनी आजीविका के लिए अपने स्वामी पर निर्भर थे। उनके पास किसी तरह का स्वामित्व का हक नहीं था। उनका शारीरिक शोषण किया गया। *लेखापद्यति,* एक महिला दास को यातना देने और आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करने का एक उल्लेख करती है। लेकिन उनकी मुक्ति संभव थी। *नारद स्मृति* इसके लिए विस्तृत प्रावधान प्रदान करती है।

संगम काल के बाद से दक्षिणी भारत में दासता का अस्तित्व था। दक्षिण भारत में दासों को निजी सम्पत्ति माना जाता था। शिलालेख बताते हैं कि पुरुष और महिला दोनों को मन्दिरों में बेच दिया गया था जहाँ महिला को 'मंदिर-महिला' के रूप में नियोजित किया गया था। विवाह में दहेज के एक भाग के रूप में भी दास हस्तांतरणिय थे। कुछ मामलों में दासता स्वैच्छिक थी, जहाँ पद-दलित परिवारों ने खुद को मंदिरों को सौंप दिया।

14.8.1 मलेच्छ

यह अवधारणा नई नहीं थी; प्रारंभिक मध्यकाल से बहुत पहले इसे पेश किया गया था। यह आमतौर पर उन लोगों के लिए उपयोग किया जाता था, जो ब्राह्मणवादी समाज के प्रमुख मूल्यों, विचारों या मानदंडों को स्वीकार नहीं करते थे। यह मुख्य रूप से विदेशियों और देशी

जन-जातियों के लिए इस्तेमाल किया गया था। इस ढाँचे का उपयोग ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए किया गया था, और सुसंस्कृत और बर्बर या *मलेच्छों* के बीच एक विभाजन करने के लिए कोई धारणा तय नहीं की गई थी, लेकिन समय और स्थान पर यह भिन्न थी। *मलेच्छ* स्वभाविक रूप से विविध थे। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में, विभिन्न स्तरों पर बड़ी संख्या में जनजातियों को ब्राह्मणवादी समाज के विस्तार में शामिल किया गया था। हालाँकि उनमें से कुछ ने ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था का या राज्य समाज के विस्तार का प्रतिरोध किया, वे बाहर रहे और उन्हें *मलेच्छ* के रूप में नामित किया गया। कई प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों में जैसे *ब्रहद्धर्मपुराण, वर्णरत्नाकर* आदि में मलेच्छों के बारे में बताया गया है। इन साहित्यों में कुछ जनजातियों जैसे *भील, पुलिन्द,* और *विंध्यन घाटी के सबरों* को असामाजिक तत्वों के रूप में दर्शाया गया है। *राजतरंगिनी* कुछ *मलेच्छ* प्रमुखों को कश्मीरी संस्कृति की सीमा से बाहर पिछड़े और बाहरी तत्वों के रूप में पेश करती है।

बोध प्रश्न 2

1) प्रारंभिक मध्ययुगीन सामाजिक वर्गों के लिए कौन सा कथन सही या गलत है? इसके आगे लिखो।

   क) मध्ययुगीन काल में ब्राह्मण ग्रामीण प्रभावशाली भू-स्वामी के रूप में उभरे ( )

   ख) मध्ययुगीन काल में कायस्थ और वैद्य नई जातियों के रूप में उभरे ( )

   ग) दास भी उत्पादन कार्यों में लगे हुए थे ( )

   घ) सभी जनजातियों को शूद्र या अछूत के रूप में शामिल किया गया था ( )

   ड़) प्रारंभिक मध्यकाल में *मलेच्छ* की धारणा का पतन हो गया था। ( )

2) इस काल में अछूतों की स्थिति पर चर्चा करें?

.....

.....

.....

.....

.....

3) प्रारंभिक मध्यकाल में शूद्रों की बदलती स्थिति पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.9 लैंगिक सम्बन्ध

मध्ययुगीन काल के दौरान कृषि अर्थव्यवस्था के विस्तार के साथ, 'भू-संपत्ति', दौलत का सबसे मूल्यवान रूप बनकर उभरी। नए उभरते राज्यों या क्षेत्रीय राज्य व्यवस्था ने बहुत अधिक शक्ति का धारण किया और प्रत्येक प्रकार की भूमि पर सर्वोच्च अधिकारों का प्रयोग किया। क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय स्तर पर व्यापक भूमि अनुदान दिये गए, जिससे न केवल राज्य समाज का विस्तार हुआ, बल्कि नए राज्य द्वारा कृषकों का पारंभिक अधिकारों से भी निष्कासन हुआ। *ब्राह्मणों* ने भूमि-अनुदान के माध्यम से नये क्षेत्रों में प्रवेश किया और गैर-*ब्राह्मणों* के इशारों पर विशाल भूमि को अपने अधिकार में ले लिया। उपर्युक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास ने प्रारंभिक मध्यकाल में लैंगिक सम्बन्धों को और अधिक जटिल बना दिया। अपनी संम्पत्ति के अधिकारों, विवाह में स्वेच्छा, विधवापन, सती-व्यवस्था, शिक्षा और राजनीति या प्रशासन में कुछ असाधारण भूमिकाओं के संदर्भ में पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन करके लैंगिक सम्बन्धों को आसानी से उकेरा जा सकता है।

14.9.1 महिलाओं के संपत्ति अधिकार

ब्राह्मणवादी विधि-शास्त्रों ने पुरुष उत्तराधिकारियों के ना होने की स्थिति में संपत्ति के उत्तराधिकार में महिलाओं के अधिकार को मान्यता दी। स्त्रियों का इस का सम्पत्ति पर अधिकार, सम्पत्ति पर परिवार के नियंत्रण को दर्शाता है, और राज्य द्वारा इसके जब्त होने की संभावनाओं को कम कर देता है। जीयूतवाहन के *दयाभाग* (12वीं शताब्दी सी.ई.) और विज़्नानेश्वर के *मिताक्षर* (11वीं शताब्दी सी.ई.) ने भी विधवा के उत्तराधिकार के अधिकार को मान्यता दी। लेकिन पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में इसका प्रचलन नहीं था। गुजरात के राजा कुमारपाल का शिलालेख 1150 सी.ई. में विधवा के अधिकार को उसके पति की भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार के रूप बताता है। राजदित्य चोल द्वितीय का अचलापुरम का शिलालेख तमिलनाडू के एक *ब्रह्मदेय* गाँव की *सभा* के फैसले के बारे में बताता है जो एक विधवा को अपने पति की भूमि और अन्य सम्पत्तियों को विरासत में देने की अनुमति देती है।

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में *स्त्रीधन* के रूप में स्त्रियों के अधिकारों का विस्तार होता है। प्रारंभिक मध्ययुगीन टीकाओं और नीति संग्रहों में *स्त्री धन* का विषय क्षेत्र व्यापक होता है। *मिताक्षर* महिलाओं से संबंधित किसी भी प्रकार की सम्पत्ति के रूप में इसकी व्याख्या करता है। लेकिन परिभाषा सभी ग्रन्थों में एक समान नहीं है। *दयाभाग* और *स्मृति-चन्द्रिका* जैसे कुछ ग्रन्थों ने *स्त्री धन* को बहुत सीमित दायरे को मान्यता दी। प्रारंभ में, *स्त्री धन* काफ़ी हद तक चल सम्पत्ति तक सीमित था। लेकिन महिलाओं को विक्रय ऋण या उपहार के माध्यम से सम्पत्ति को देने का निरपेक्ष स्वामित्व का अधिकार नहीं था। महिलाओं को केवल चल सम्पत्ति रखने का अधिकार था। अचल सम्पत्ति पर परिवार का श्रेष्ठतर अधिकार था।

प्रारंभिक मध्ययुगीन शिलालेख यह भी संकेत देते हैं कि सामंतों की कुछ रानियाँ और पत्नियाँ अपने सहयोगियों के जीवन काल में जागीरधारक बन गई। उनमें से कुछ ने मंदिरों और ब्राह्मणों को अपनी जागीरें धर्म लाभ के लिए दान कर दी। उनमें से कुछ ने धार्मिक वास्तुशिल्प के लिए दान दिया और मंदिर और तालाबों के निर्माण, मरम्मत और नवीनकरण का काम किया। इससे पता चलता है कि उच्च वर्ग की महिलाओं के पास अपने सम्पत्ति व्यय में काफ़ी अधिकार और संसाधन थे। चोल रानियों और राजकुमारियों के बीच यह प्रथा बहुत आम थी, यह दर्शाता है कि उन्होंने व्यक्तिगत भत्ता या व्यक्तिगत सम्पत्ति का आनन्द

लिया होगा। मंदिर में नृत्य करने वाली या *तेवरातियाल* को मंदिर भूमि, राजस्व और करों में भी हिस्सा दिया गया। उन्हें मंदिर की भूमि में भू-स्वामित्व का अधिकार था। महिलाओं के भूमि के अधिकार उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न थे। *राजतरंगिणी* में कश्मीर में महिला शासकों (सुगन्धा, दिद्दा और सूर्यमती सहित कई महिला दाताओं और भवन निर्माण कर्त्ता का भी उल्लेख है, जैसे रानी (रत्नादेवी) और कुछ गैर-राजसी परिवारों की स्त्रियाँ (जैसे सुसाला, चिन्ता, वलगा और सांबावती)।

जबकि महिलाओं का संसाधनों पर सीमित अधिकार था, पुरुषों को भूमि और अन्य संसाधनों पर निर्विवाद अधिकार थे, उन्होंने इसे परिवार, जागीर और राज्य प्रणाली के माध्यम से नियंत्रित किया। ब्राह्मणवादी निर्देशात्मक विधि महिलाओं के अधिकारों पर पुरुषों के प्रभुत्व से सम्बंध-विच्छेद करके देखते हैं। लैंगिक समानता की अवधारणा लगभग अदृश्य थी। कश्मीर की कहानी असाधारण है, जहाँ पुरुषों और महिलाओं दोनों ने पारंपरिक रूप से मान्यता प्राप्त भूमिकाओं की उपेक्षा करते हुए दान और भवनों के निर्माण की समान परियोजनाओं को अपनाया।

14.9.2 विवाह और विवाह-विच्छेद

महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार के अलावा, घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की स्थिति भी पुरुष लोगों की तुलना में उनके लैंगिक संबंधों को दर्शाता है। विवाह परिवार की जड़ है, जहाँ से लैंगिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। पहले के दौर में जहाँ *अनुलोभ* विवाह को प्रोत्साहित और *प्रतिलोभ* विवाह का दृढ़ता के साथ विरोध किया जाता था। लेकिन इन दोनों विवाहों के परिणामस्वरूप *वर्ण* और जातियों का अंतर्मिश्रण हुआ। उसी रीति पर, शुरुआती मध्ययुगीन काल में *द्विज* या *द्विजाति* के पुरुषों को अन्य लड़कियों के साथ विवाह के लिए अयोग्य ठहराया गया। कुछ ग्रन्थों ने मिलन को अनुमति दी, लेकिन केवल यौन सन्तुष्टि के लिए, उससे परे नहीं। कुछ असाधारण परिस्थितियों में ऐसे मेल को अनुमति दी गई थी। *स्मृतिचन्द्रिका* ने इस तरह के मिलन और वंश के लिए विरासत के नियम बनाए। ऐसे मामलों में सन्तानों को उनके माता-पिता के समान सामाजिक दर्जा नहीं दिया जाता था, बल्कि उनसे (*अनुलोभ विवाह*) से कम। *प्रतिलोभ* विवाह के मामलें में, उनकी *वर्ण-जाति* की स्थिति के बावजूद संतानों का *शूद्र* का दर्जा या उससे कम दर्जा दिया जाता था। लेकिन विवाह के नियम तय नहीं किये गये थे, यह अनुमान से अधिक लचीला था।

प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों ने तेजी से लड़कियों की विवाह योग्य आयु को कम किया, जबकि पुरुषों के लिए कोई नियम निर्धारित नहीं थे। यौवन-पूर्व विवाह को आम बना दिया गया था। अल-बरुनी ने हिन्दुओं और *ब्राह्मणों* में वधु के लिए उम्र 12 साल की उम्र को दर्शाया जो दोनों में समान थी। प्रारंभिक विवाह ने लड़कियों को पितृसत्तात्मक वर्चस्व के प्रति अधिक असुरक्षित बना दिया। लेकिन यौवन पूर्व विवाह की प्रथा का सभी वर्गों और जनसंख्या के स्तर में सार्वभौमिक रूप से पालन नहीं किया गया था। दक्षिण भारत में भी, पूर्व यौवन विवाह और वधु-मूल्य (दहेज) समाज के आदर्श बन गए। परिवार में एक लड़की के जन्म का स्वागत नहीं होता था। निम्न वर्गों की तुलना में उच्च वर्गों में बालिकाओं के प्रति भेदभाव तीव्र था। विवाहों के सरल रूप के लिए स्वभाविक परिणाम यह था कि पुनर्विवाह असंभव या केवल असाधारण परिस्थितियों में किया गया था।

14.9.3 विधवापन और नियोग

ब्रह्मपुराण बाल-विधवा की अनुमति देता है/अथवा जबरन् छोड़ दी गई या अपहरण किए जाने पर, पुनर्विवाह की अनुमति देता है। जबकि मेधातिथि जो *मनुस्मृति* पर टीका है, और

अन्य ग्रंथ विधवा विवाह को अस्वीकार कर देते हैं। निम्न जातियों के बीच यह समान व्यवहार देखने को नहीं मिलता। *लेखापद्धति* बताती हैं कि विवाह-विच्छेद समाज के निचले तबकों के बीच बहुत आम था, जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों में विवाह विच्छेद के नियमों को प्रतिष्ठापित नहीं किया गया था। इस प्रकार उच्च-जाति के पुरुषों ने विवाह और विवाह-विच्छेद के निषेध के माध्यम से अपनी महिलाओं पर मज़बूत नियंत्रण किया।

ब्राह्मणवादी साहित्य ने *नियोग* की पहले की रीति को भी अस्वीकार कर दिया और *नियोग* से पैदा हुए बच्चे के पितृत्व के मुद्दे पर भी उनके विचार विभाजित थे। कुछ ने पितृत्व का उत्तरदायित्व जैविक पिता को और कुछ ने पतियों या दोनों को दिया। प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान यह प्रथा गहरी और जटिल हो गई और ऐसा लगता है कि महिलाओं ने अपनी प्रजनन क्षमता पर अपना नियन्त्रण खो दिया। इसके अलावा, *नियोग,* विशेष रूप से एक महिला का अपने छोटे देवर के साथ, लैंगिक पदानुक्रम के लिए और दूसरी ओर नातेदारी पदानुक्रम के लिए चुनौती बना। ऐसी परिस्थितियों में जटिल उत्तराधिकार के कानूनों के साथ, प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में *नियोग* की प्रथा तेजी से परित्याग कर दिया गया।

मध्ययुगीन काल में महिलाओं की दुर्दशा बढ़ गई। प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों में विधवापन पर अधिक प्रतिबन्ध जोड़े गये थे। उन्होंने विधवाओं के सिर के मुंडन के साथ-साथ उनके लिए कठोर, तपस्वी और ब्रह्मचारी जीवन को निर्धारित किया। वे आहार, पोषाक और आत्म-अलंकरण पर भी प्रतिबन्ध लगाते हैं। दक्षिण भारत में, ब्राह्मणवादी प्रभाव के तहत् 7वीं शताब्दी सी.ई. के बाद स्थिति खराब हो गई। सिर का मुन्डन शुरुआत में तमिल प्रथा था, जिसे बाद में उत्तर भारत में अपनाया।

14.9.4 सती प्रथा या विधवा-दाह

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में विधवा-दाह या *सती* प्रथा का अधिक स्पष्ट रूप देखने को मिला। मूलग्रन्थ और शिलालेख इसे दिखाते हैं, लेकिन यह मुख्य रूप से समाज के ऊपरी वर्ग तक ही सीमित थी, विशेष रूप से शासक और सैन्य अभिजात्य वर्ग के लिए। यह प्रथा पितृसत्तात्मक और पितृ-स्थान आधारित समाज की उपज थी, जहाँ स्त्रियों और उनकी लैंगिकता को समाज के लिए खतरा या डर माना जाता था। शरीर और आत्मा दोनों की यातना के लिए लंबे समय तक या स्थायी विधवापना की तुलना में आत्म-दाह के माध्यम से शारीरिक मृत्यु को आसान माना जाता था। इस प्रथा को साहस और निष्ठा की अभिव्यक्ति के कार्य के रूप में भी गौरवन्वित किया गया था। उत्तर भारत में, उत्तर-पश्चिम, राजस्थान और मध्यप्रदेश में *सती प्रथा* अधिक प्रचलित थी। ब्राह्मण ग्रंथों में इस विषय पर अलग-अलग राय थी। मेधातिथि इस प्रथा को अस्वीकार कर देती है। लेकिन *सती* प्रथा प्रचलित हो गई। गैर-धर्म वैधानिक ग्रन्थ और शिलालेख आँकड़ें भी इसे प्रमाणित करते हैं। *राजतरंगिनी* कश्मीर के राजसी परिवारों में *सती* प्रथा के कई उदाहरण भी दर्ज करती है। यहाँ न केवल राजसी महिलाएँ बल्कि करीब की रिश्तेदार, राज्यपदाधिकारी, उप-पत्नियाँ और उपचारिका भी अपने स्वामी की चिता पर आत्म-दाह करती थी।

बान भी *हर्षचरित* में इस प्रथा की बात करता है। पश्चिमी मध्य प्रदेश और राजस्थान से *सती* स्मारक और अहिछछत्र से प्राप्त *सती सत्ता* की पट्टियाँ इस प्रथा को स्वीकार करती हैं। इस प्रथा को पूरे भारत में महिमामडिंत किया गया था, लेकिन यह सभी समुदायों के एक आम रिवाज़ की तुलना में एक प्रतिष्ठा का सूचक अधिक था। वीर-पाषाणों की तरह, सती पत्थर महिलाओं की वीरता का प्रतीक बन गया।

14.9.5 स्त्री शिक्षा

महिलाओं को औपचारिक शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था। *मिताक्षर* की टीका बताती है कि चूँकि महिलाएँ *शूद्र* की तरह हैं, इसलिए उन्हें *उपनयन* संस्कार का कोई अधिकार नहीं है, जो महिलाओं को शैक्षिक जीवन में प्रवेश करने से रोकता है। *नारदस्मृति* पर 8वीं शताब्दी के टीकाकर असहा ने इस आधार पर महिलाओं की निर्भरता को उचित ठहराया है कि उनके पास उचित शिक्षा, और अच्छी तरह से विकसित समझ का अभाव था, और इन पाठ्य परंपराओं के बावजूद कुलीन आभिजात्य वर्ग की महिलाओं की, शिक्षा और सैन्य प्रशिक्षण तक कुछ पहुँच थी। निम्न *जाति* की महिलाओं को उनके *जाति* आधारित व्यवसायों, शिल्प और लोक ज्ञान का पारंपरिक प्रशिक्षण था। संस्कृत कवियत्रियों के कुछ छुट पुट उद्धरण हैं। 9वीं शताब्दी के प्रख्यात कवि राजशेखर कुछ कवियत्रियों को उल्लेखित करते हैं, जैसे कि शिलाभट्टारिका, विजिका, प्रभुदेवी, विकटनीतम्बा और सुभ्रदा। उनका कहना है कि पुरुषों की तरह महिलाएँ भी *कवि* हो सकती हैं। कवि धनदेव ने कुछ कवयित्रियों जैसे मोरिका और मारूला का भी उल्लेख किया है, जो कविता लिखने में निपुण हैं, और जिन्होंने शिक्षा हासिल की है, बहस जीती हैं और सब कुछ बोलने में दक्षता हासिल की है। हालाँकि हमें किसी भी कवयित्री द्वारा लिखित एक भी *काव्य* नहीं मिला; यहाँ तक कि उनके द्वारा रचित छंद भी संख्या में सीमित हैं। (लगभग 140 छंद 33 कवियत्रियों के बताए गए हैं) इन छन्दों के लेखकों को आसानी से निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वो किसी विशिष्ट *काव्य* का हिस्सा नहीं हैं। *नाटय* साहित्य के अध्ययन से समाज में महिलाओं की स्थिति को समझा जा सकता है। *नाटय* साहित्य में, यहाँ तक कि उच्च वर्ग की महिलाओं को संस्कृत में वार्तालाप से वचिंत किया जाता है जो भाषा आमतौर पर उच्च जन्म के पुरुषों के लिए मानी गई थी। *मृच्छकटिका* में, असाधारण स्थिति में *गणिका* वंसतसेना संस्कृत में बात करती है, जबकि अन्य उच्च श्रेणी की महिलाएँ भी संस्कृत की बजाय अन्य बोलियों में बोलती हैं। *श्रृगांर-मंजरीकथा* में, भास ने विद्या और संस्कृति के प्रतीक के रूप में *गणिका* श्रंगारमंजरी का वर्णन किया है। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल का संस्कृत साहित्य साक्षर महिलाओं की बहुत हासिये की स्थिति दर्शाता है।

14.9.6 राजनीति या प्रशासन में कुछ असाधारण भूमिकाएँ

सिर्फ संस्कृत साहित्य नहीं, बल्कि हर तत्व को लिंग-भेद के आधार पर देखा गया – पृथ्वी, क्षेत्र सभी के लिए स्त्रीयोचित चरित्र निर्धारित किया गया। राजनीतिक क्षेत्र अनिवार्य रूप से पौरुश आधारित बना रहा, लेकिन महिलाओं ने विभिन्न क्षमताओं में काम किया जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में लैंगिक संबंधों की एक विशिष्ठ विशेषता को चिन्हित करता है। जहाँ ब्राह्मणवादी साहित्य ने पुरुष का पक्ष लिया, वहीं *राजतरंगिनी* ने प्रारंभिक मध्ययुगीन काल की महिला शासकों के सर्वोत्तम उदाहरणों का खुलासा किया। ग्रन्थ ने केवल प्रभुताशाली महिला शासकों पर बल्कि सिंहासन के पीछे से प्रभावित करने वाली महिलाओं के वर्ग पर भी प्रकाश डालता है। ग्रन्थों में 104 पुरुष शासकों के विपक्ष में कश्मीर की तीन महिला शासकों (यशोवती, सुगन्धा और गोंडा की दिद्रा उत्पल और यशकर राजवंश से संबंधित) के शासन काल का वर्णन है। यह ग्रन्थ भी दैवीय अनुमोदन, लोकप्रिय माँगों और सिहाँसन के लिए अल्पव्यस्क उत्तराधिकारी होने पर राजप्रतिनिधि की आवश्यकता के संदर्भ में महिला शासक को सही ठहराता है। शासकों के अलावा, बड़ी संख्या में महिलाओं ने भी रानी, राजकुमारी, निम्न *जाति* की पत्नियाँ, उप-पत्तियाँ और परिचारिका कन्याओं के रूप में विभिन्न क्षमताओं में राज-दरबार की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया। इन राजसी महिलाओं के अलावा, दरबार की विधवाओं, मन्दिर की नर्तकियाँ, पत्नी और माँ को भी राज-दरबार की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाने के लिए चित्रित किया गया था। राजनीति

के अलावा, कुछ राजसी और गैर-राजसी महिलाओं को भी धार्मिक इमारतों और अन्य गतिविधियों का संरक्षण करते हुए दिखाया गया था। हालांकि, कुछ गैर-पितृसत्तात्मक संभावनाओं के साथ समाज और राज्य की प्रकृति स्वभाव में पितृसत्तात्मक ही थी। इन राजसी महिलाओं की शक्ति अनिवार्य रूप से प्रकृति में पितृसत्तात्मक और पौरुशता आधारित बनी रही। यह सिर्फ कश्मीर से नहीं आया है जहाँ महिलाएँ पुरुष उत्तराधिकार के अभाव में सिहांसन पर बैठी, बल्कि उप-महाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में भी सिंहासन पर बैठीं हैं। वेगंई के पूर्वी चालुक्यों में अपने पति की मृत्यु के बाद विजयमहादेवी शासक बनी। दिवाब्बारसी ने कर्नाटक में वनवासी के कदंबों के लिए अपने नाबालिक बेटे के स्थान पर शासन किया। हम उड़ीसा के भौमाकरों और वारंगल (आंध्रप्रदेश) के काकेतीय लोगों से भी संदर्भ ले सकते हैं, जहाँ महिलाएँ शासक बन गई थी। शासकों के अलावा राजसी महिलाओं में कुछ को राज्यपाल, प्रशासन, ग्राम सरपंच, सलाहकार आदि के रूप में नियुक्त किया गया था। कुछ महिलाएँ पुरुषों के वैचारिक गढ़ को तोड़ने में सफल रहीं। शाब्दिक प्रतिनिधित्व और वास्तविक प्रथाओं के बीच के अंतर को लैंगिक कल्पना को उल्टा करके इनमें सामन्जस्य स्थापित किया गया। क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं और उसके विकेन्द्रीकरण की प्रकृति के प्रसार ने महिलाओं के शासन के उद्देश्य को पूरा किया। राजनीति और नातेदारी के अति व्यापक होने से महिलाओं को कई अवसरों पर विभिन्न क्षेत्रों में सर्वोच्च अधिकार का उपयोग करने में सक्षम बनाया। राजसी परिवारों के बीच चचेरे ममेरे भाई-बहिनों में विवाह और राजसी परिवारों के वैवाहिक गठबंधनों ने महिलाओं को शादी के बाद भी राजनीतिक और सामाजिक रूप से अपने मातृ संबंधों का उपयोग करने की अनुमति दी। फ़िर भी शुरुआती मध्ययुगीन समय और स्थान में सत्ता की राजनीति में महिलाओं की भागीदारी एक समान नहीं रही।

बोध प्रश्न 3

1) प्रारंभिक मध्ययुगीन लैंगिक संबंधों के लिए कौन सा कथन सही या गलत है? इसके आगे लिखोः

   क) दयाभाग और मिताक्षर ने विधवा के उत्तराधिकार के अधिकार को मान्यता दी। ( )

   ख) मंदिर की नर्तकियों को मंदिर की भूमि, राजस्व और करों में हिस्सा नहीं दिया गया। ( )

   ग) ब्राह्ममणवादी साहित्य ने नियोग का पक्ष लिया। ( )

   घ) महिलाओं को औपचारिक शिक्षा लेने के लिए उपयुक्त माना जाता था। ( )

   ड़) महिला शासक दिद्दा यसाकारा राज-वंश की थी। ( )

2) इस काल के लिए विधवाओं की स्थिति पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) राजनीति और प्रशासन में राजसी और गैर-राजसी महिलओं की भूमिकाओं पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

14.10 सारांश

इस काल की सामाजिक संरचना और लैंगिक संबंधों का अध्ययन निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालता है :

- प्रारंभिक मध्ययुगीन समाज गतिहीन नहीं था, परिवर्तनशील था।
- सामाजिक संरचना के परिवर्तन में समाज की अस्थिर प्रवृत्ति अच्छी तरह से प्रमाणित हुई।
- सामाजिक संरचना के सभी स्तरों पर अधिकारों और पदों का एक पदानुक्रम मौजूद था।
- भूमि अनुदान ने ग्रामीण क्षेत्रों में ब्राह्मणों की स्थिति को मज़बूत किया, और वे इस अवधि में वे भू-स्वामी के रूप में उभरे।
- ब्राह्मण *वर्ण* भी विभिन्न उप-जातियों में विभाजित हो गया, जो कि शिक्षाओं, स्थानीयता, गाँव-क्षेत्रों आदि के साथ अपने सम्बन्धों पर आधारित थी।
- प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में राजपूतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से एक नये शासक वर्ग का उदय हुआ।
- राजपूत सजातीय समूह नहीं थे, लेकिन कई कुलों में विभाजित थे।
- धीरे-धीरे वैश्यों ने कृषि छोड़ दी और एक व्यापारिक समुदाय बन गए। कई नई वणिज जातियों नए व्यवसायों के समावेश के कारण उभरीं।
- इस काल में शूद्रों के लिए आरोही सामाजिक गतिशीलता देखी गई। नए क्षेत्रों में कृषि के विस्तार के कारण शूद्र कृषक बन गए। शूद्रों में नई जातियों को जोड़ा गया।
- और अधिक अछूत जातियों को सूची में जोड़ा गया। ब्राह्मणवादी साहित्य ने उन पर अधिक प्रतिबंध लगाये।
- इस काल में कुछ नई जातियों जैसे कायस्थ और वैद्यों का उदय भी हुआ, जो वर्णों और जाति व्यवस्था में व्याप्त थी।
- दूरस्थ क्षेत्रों को राज्य समाज के तहत लाया गया, जिससे देशी जनजातियों की अधीनता या ब्राह्मणवादी व्यवस्था में शामिल हो गए। अंसतुष्ट समूहों को शूद्र आ अछूत का दर्जा देकर दबा दिया गया।
- दासता अस्तित्व में थी लेकिन घरेलू कामों तक ही सीमित थी।
- मलेच्छ की धारणा का उपयोग उन लोगों के लिया किया गया था जो या तो ब्राह्मणवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं करते या इसके बाहर बने रहते थे।

- इस काल में स्त्रियों की स्थिति बदतर हो गई। हालांकि नीतिविदों ने पुरुष उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति में संपत्ति के उत्तराधिकार के लिए महिलाओं के अधिकार को मान्यता दी। इस काल में स्त्रीधन की धारणा का भी विस्तार हुआ।
- लड़कियों की विवाह योग्य आयु यौवनारम्भ से भी कम मान ली गई थी। नीतिविदों ने विवाह-विच्छेद के लिए कानून नहीं बनाया। अनुलोभ विवाह को प्रोत्साहित किया गया, और प्रतिलोभ विवाह को समाप्त कर दिया।
- विधवाओं पर अधिक प्रतिबंध लगा दिए गए, और विधवा दाह या सती प्रथा बन गई – ब्राह्मणवादी साहित्य ने नियोग को बढ़ावा दिया।
- महिलाओं को औपचारिक शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था।
- कुछ उच्च वर्ग की महिलाओं का संसाधनों पर बहुत नियन्त्रण या पहुँच थी, और उन्होंने राजनीति या प्रशासन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालाँकि, ये असाधारण उदाहरण थे जिनका उपयोग महिलाओं की स्थिति को व्यापक स्तर पर देखने के लिए नहीं किया जा सकता था।

14.11 शब्दावली

द्विज : शाब्दिक अर्थ 'दो बार पैदा हुआ'।

गोत्र : ब्राह्मणों का कबीला तंत्र, बाद में गैर-ब्राह्मणों पर भी लागू होता है।

अनुलोभ : उच्च जातीय पुरुष और निम्न *जाति* की स्त्री के बीच विवाह।

प्रतिलोभ : अनुलोभ का उल्टा। निम्न *जाति* के पुरुष और उच्च *जाति* की स्त्री के बीच विवाह।

पित्तृसत्ता : एक सामाजिक व्यवस्था जहाँ पुरूष महिलाओं पर वर्चस्व रखते हैं।

अग्रहार : किसी राजा द्वारा भेंट की गई भूमि या गाँव।

नियोग : एक प्राचीन परंपरा है जिसमें एक महिला को अपने मृतभाई के साथ यौन संबंध बनाने की अनुमति होती है।

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अपने उत्तर को भाग 14.3 के आधार पर देखें।

2) अपने उत्तर को भाग 14.4 के आधार पर देखें।

बोध प्रश्न 2

1) (1) सत्य (2) सत्य (3) गलत (4) गलत (5) गलत

2) अपने उत्तर को उप-भाग 14.6.5 के आधार पर देखें।

3) अपने उत्तर को उप-भाग 14.6.4 के आधार पर देखें।

बोध प्रश्न 3

1) (1) सही, (2) गलत, (3) गलत, (4) गलत और (5) सही।

2) अपने उत्तर को उप-भाग 14.10.3 के आधार पर देखें।

3) अपने उत्तर को उप-भाग 14.10.7 के आधार पर देखें।

14.13 संदर्भ ग्रन्थ

चक्रवर्ती, रनबीरः *एक्सपलोरिंग अर्ली इंडिया,* दिल्ली : मेकमिलन, 2010।

चट्टोपाध्याय, बी. डी. : *द मेकिंग ऑफ़ अरली मेडिवल इंडिया,* न्यू दिल्ली : 1994.

झा, डी. एन. : *द फ्यूडल ऑर्डर,* न्यू दिल्ली : मनोहर, 2000.

रॉय, कुमकुम (इडीएस.) *वूमन इन अर्ली इंडियन सोसायटी,* दिल्ली :मनोहर, 1999.

शर्मा, आर. एस. : *शूद्रराज इन एनसिएंट इंडिया,* दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1990 (थर्ड एडीसन)

शर्मा आर. एस. : *अर्ली मेडिविल इंडियन सोसायटी,* दिल्ली : ऑरियन्ट लोंगमेन, 2003.

शर्मा, आर. एस. : *रीथिनकिंग इंडियाज़ पास्ट,* न्यू दिल्ली : ओ यू पी, 2009.

श्रीमाली एंड शर्मा (ईडीएस.) *ए काम्परीहेनसिव हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,* वॉल. IV भाग 2, दिल्लीः मनोहर, 2008.

सिंह, उपन्दिर (ईडीएस.) : *रीथिकिंग अर्ली मेडिविल इंडिया,* न्यू दिल्लीः ओ यू पी, 2012.

सिंह, उपन्दिर : *ए हिस्ट्री ऑफ़ एनसियन्ट एंन्ड अरली मेडिविल इंडिया,* दिल्ली : पर्सन लोगंमेन, 2009.

वेलूथर, केशवन : *द अर्ली मेडिविल इन साउथ इंडिया,* न्यू दिल्ली : ओ यू पी, 2009.

यादव, बी. एन. एस. : *सोसायटी एंड कल्चर इन नार्थन इंडिया,* प्रयागराजः सेन्ट्रल बुक डिपो, 1973.

इकाई 15 कला, भाषा और साहित्य का विकास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक*

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 कला की वृद्धि/विकास

15.2.1 स्थापत्य कला

15.2.2 मूर्तिकला/तक्षणकला

15.2.3 चित्रकला

15.3 भाषा का विकास

15.4 साहित्य का विकास

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.8 संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नांकित पहलुओं के बारे में जानेंगे :

- संस्कृति के क्षेत्र में गुप्त काल को ''स्वर्ण काल'' क्यों माना जाता है;
- गुप्त शासकों द्वारा कला, भाषा व साहित्य के क्षेत्र में प्रदान किया गया सक्रिय संरक्षण;
- गुप्त काल में स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्र कला के क्षेत्र मे अभूतपूर्व विकास;
- इस काल में संस्कृत भाषा द्वारा प्राप्त की गई उन्नति व परिष्कार; और
- साहित्यिक गतिविधियों का प्रस्फुटन व इस युग के साहित्य द्वारा प्रभावशाली प्रतिमानों की स्थापना।

15.1 प्रस्तावना

गुप्तकाल को इसकी सांस्कृतिक विरासत के कारण अक्सर ''स्वर्ण युग'' के रूप में उल्लेखित किया गया है। यह कला, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में महान उपलब्धियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार, गुप्तकाल, विशेष रूप से भारत के सांस्कृतिक इतिहास में, कलात्मक एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति द्वारा स्थापित प्रभावशाली प्रतिमानों के कारण पूर्ववर्ती ऐतिहासिक कालों से महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय विगम प्रस्तुत करता है। गुप्त शासक हिन्दु देवी व देवताओं की उपासना करते थे। वे संस्कृत विद्वानों को संरक्षण देते थे और कलाकारों को उदारतापूर्वक दान/वैभव प्रदान करते थे। पूर्ववर्ती शासकों से भिन्न, उनके अधीन कला व साहित्य ने उत्कृष्टता का स्तर प्राप्त किया। यह सत्य है कि वाकाटकों द्वारा कला व स्थापत्य कला को प्रोत्साहित व प्रेरित किया गया था, परन्तु गुप्त शासकों के समय में यह एक व्यापक प्रवृत्ति बन गई। तार्किक अनुमानुसार राजाओं, कुलीन व समृद्ध लोगों

*डॉ. अभिषेक आनंद, सलाहकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।

के पास इतनी संपन्नता थी कि वे अपनी आय का एक पर्याप्त भाग साहित्य व कला में संलग्न लोगों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए निवेश करते थे।

इस इकाई में हम कला, भाषा और साहित्य के सूचकों के माध्यम से गुप्त शासकों के सांस्कृतिक विकास एवं सांस्कृतिक विरासत को समझाने का प्रयास करेंगे। गुप्त शासकों ने विस्तृत पैमाने पर सांस्कृतिक उद्यमों को सहयोग या संरक्षण दिया। जिसके परिणाम साहित्यिक एवं पुरातात्विक उत्कृष्ट कलाकृतियों के रूप में स्पष्ट हैं, हम जिन पर अब प्रकाश डालेंगे।

15.2 कला की वृद्धि/विकास

इस खंड में हम आपको स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला के संदर्भ में इस काल में हुई उल्लेखनीय प्रगति से परिचित करवाने का प्रयास करेंगे।

15.2.1 स्थापत्य कला

गुप्त काल ब्राह्मणवादी धर्म के पुनरुत्थान काल के रूप में जाना जाता है। गुप्त शासकों को मंदिर निर्माण व मंदिरों में ईष्ट देवता की प्रतिमा स्थापित करने में गहरी दिलचस्पी थी। *भक्ति* विचारधारा व मूर्ति पूजा की बढ़ती महत्ता के परिणामस्वरूप मुक्त रूप से खड़े व आन्तरिक कक्ष, जिसे *गर्भगृह* कहा जाता था, वाले मंदिरों का निर्माण हुआ। इस काल के ऐसे कई मंदिरों की जानकारी उपलब्ध है। इनके निर्माण का माध्यम प्रस्तर खण्ड या ईंटें थीं। प्रारंभ में, ये छोटे आकार के होते थे जिनमें *गर्भग्रह,* छत व जल के निस्तारण के लिये निकासी होती थी। सांची में *चैत्य* मण्डप के समीप मंदिर संख्या 17 गुप्त काल का सबसे प्राचीन मंदिर है। यह उचित रूप से अभिकल्पित है। वर्गाकार कक्ष के रूप में समावृत *गर्भग्रह* व स्तम्भ युक्त मण्डप मौजूद है। यह परवर्ती गुप्तकाल व उत्तर गुप्तकाल में मंदिर-निर्माण का आधारभूत नमूना बन गया।

गुप्तकालीन मंदिर-निर्माण गतिविधि पूर्व परम्परा के पत्थर से काटे मंदिरों के क्रमिक विकास को प्रदर्शित करती है जो कि अब एक अलग ही स्तर पर पहुंच गई थी। यह मंदिर निर्माण के रचनात्मक काल को चिन्हित करती है, परन्तु इस महत्वपूर्ण काल ने मध्यकाल तक मंदिर निर्माण गतिविधि को प्रभावित किया। इस युग ने भविष्य की अपरिमित सम्भावनाओं के लिये आधार प्रस्तुत किया जिसने भारतीय मंदिर स्थापत्य कला की विशिष्ट शैलियों की नींव रखी।

गुप्त काल सौन्दर्य के प्रति रचनात्मक उत्साह और गहन संवेदन व अभिज्ञता को दर्शाता है। ये निम्न दिये गये जीवंत उदाहरणों से सुस्पष्ट है :

- झाँसी जिले (उ. प्र.) के देवगढ़ में *दशावतार* मंदिर,
- कानपुर (उ. प्र.) के निकट भीतरगाँव मंदिर,
- तिगावा का विष्णु मंदिर (जबलपुर, म. प्र.),
- भूमरा (सतना, म. प्र.) व खोह (भरतपुर, राजस्थान) के शिव मंदिर,
- नाचना-कुठारा का पार्वती मंदिर (पन्ना, म. प्र.),
- आश्रमक स्थित सूर्य देवता को समर्पित मंदिर (सतना, म.प्र.) व एक और सूर्य मंदिर (मंदसौर, म. प्र.),
- ग्वालियर (म. प्र.) के निकट पद्मावती (आधुनिक पवाया) स्थित *यक्ष* मंदिर,

- भीटारी (ग़ाज़ीपुर, उ. प्र.) स्थित मंदिर,
- एरण (सागर जिला, म. प्र.) में एक बड़ा मंदिर परिसर और साथ में मूर्तियां।

यह ध्यान देने योग्य है कि आसाम के वर्तमान जिले दर्रंग में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे यद्यपि विनष्ट स्थिति में परन्तु अत्यधिक कलात्मक उत्कृष्टता व महत्व उजागर करता मंदिर पाया गया है जो यह प्रदर्शित करता है कि मंदिर निर्माण गतिविधि गुप्त शासकों के भौगोलिक केन्द्र तक ही सीमित नहीं थी।

इनमें से कुछ मंदिर उभरी हुई सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत हैं। ये देखने में बेढंगे नहीं दिखते क्योंकि इनका अलंकरण मंदिर की स्थापत्य योजना के सम्पूरक है। टूटा हुआ देवगढ़ मंदिर, जो मुख्य रूप से विष्णु को समर्पित किया गया है, अलंकृत, उभरी मूर्तियों की संकल्पना के कारण चित्ताकर्षक है। जैसे -

- *नर-नारायण* की उत्कीर्ण मूर्ति,
- *गजेन्द्र मोक्ष* की उत्कीर्ण मूर्ति,
- शेषशायी विष्णु की उत्कीर्ण मूर्ति इत्यादि।

इसके चौकोर कक्ष में मुख्य देव-प्रतिमा अवस्थित है। इसके चबूतरे के चारों कोनों पर एक सहायक मंदिर है जिसमें गौण/द्वितीयक देवता की मूर्ति को रखा गया है। यह मंदिर *पंचायतन* (पाँच मंदिर) शैली का प्रारंभिक प्रमाण है, जिसका कालांतर में वृहद स्तर पर निर्माण किया गया। इसने हिन्दु देव समूह में देवी-देवताओं के बढ़ते क्षेत्र को प्रदर्शित किया। इस प्रकार के कई मंदिरों में मूर्ति पट्टिकायें मिली हैं जिनमें मुख्य देवता को केन्द्रीय स्थिति में दिखाया गया है व अन्य गौण देवता उसे घेरे हुये हैं। और कई उदाहरणों में मुख्य देवता आकार व पैमाने में गौण देवताओं से बड़ा है।

यद्यपि ऊंचे और सुपरिष्कृत उत्कीर्ण *शिखरों* का प्रकटन अभी नहीं हुआ था, परन्तु इस विचार का उद्भव भीतरगाँव के ईटों से निर्मित मंदिर व लघु रूप में मंदिरों की मूर्ति पट्टिकाओं में प्रदर्शित मंदिरों में देखा जा सकता है।

भवन निर्माण के साथ-साथ गुहा स्थापत्य भी प्रचलन में था। अजन्ता गुफा की विस्मयकारी सौंदर्य युक्त चित्र कला इसी काल की मानी जाती है। विदिशा (म. प्र.) के निकट उदयगिरी स्थित गुहा मंदिर भी इस काल से ही सम्बंधित है। गुफा में पत्थर काटकर 20 कक्ष निर्मित किये गए थे। इनमें से दो कक्षों से प्राप्त अभिलेख चन्द्रगुप्त II के शासन काल में दिनांकित हैं। गुफा में किया गया यह तक्षण महत्वपूर्ण है क्योंकि ये भारत में हिन्दू कला के प्राचीनतम अवशेष हैं, जो इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि बहुत से हिन्दू मूर्ति-निर्माण संबंधी विचार आरंभिक पाँचवी शताब्दी सी.ई. में सुस्थापित हो चुके थे।

यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हालांकि बहुत सी स्थापत्य गतिविधियां मुख्य रूप से ब्राह्मणवादी धर्म के चारों ओर केन्द्रित थीं परन्तु ये केवल यहीं तक सीमित नहीं थीं। हमारे समक्ष गुप्त काल के निम्नलिखित बौद्ध स्थलों से प्राप्त भव्य *स्तूप, चैत्य* और *विहारों* के भग्नावशेष साक्ष्य मौजूद हैं :

- सारनाथ (उ. प्र.),
- नालंदा (बिहार),
- राजगीर (नालंदा, बिहार),
- जौलियां और मोहरामरदू (दोनों तक्षशिला के समीप पाकिस्तान में),

- पुष्कलावती (वर्तमान पाकिस्तान स्थित प्राचीन गांधार क्षेत्र) इत्यादि।

सारनाथ का धार्मिक *स्तूप* विभिन्न प्रकार के ज्यामितीय स्वरूपों व कलात्मक आकृतियों के कारण अत्यधिक आकर्षक है। नालंदा स्थित बौद्ध विश्वविद्यालय का आरंभिक ईंट निर्मित ढांचा, जिसकी स्थापना कुमारगुप्त I द्वारा की गई थी, इसी काल से सम्बंधित है। नालंदा स्थित 300 फीट ऊंचा बौद्ध मंदिर इस काल का एक अन्य स्थापत्य कला का प्रमाण है। इस तथ्य के ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं कि पश्चिमी महाराष्ट्र के बौद्ध *चैत्य,* गुहा निर्माण व कन्हेरी, भाजा, जुन्नार, बेडसा और महार (सभी महाराष्ट्र में स्थित) न केवल कुलीन उच्च वर्ग द्वारा बनवाये गये थे बल्कि ये समृद्ध *श्रेणियों,* व्यापारियों, कलाकारों द्वारा भी निर्मित करवाये गये थे। इसी प्रकार, आन्ध्र देश (वर्तमान आंध्र प्रदेश, तेलंगाना और कर्नाटक के विभिन्न हिस्से) में कई *स्तूपों* व *विहारों* का निर्माण हुआ। राजगीर का मनी नाग जैन मंदिर इसी काल से सम्बंधित है।

15.2.2 मूर्तिकला/तक्षण कला

गुप्तकालीन मूर्तियां कुशल निष्पादन और उच्च स्तरीय कौशल को व्यक्त/प्रदर्शित करती हैं। इस युग का प्रमुख योगदान ब्राह्मणवादी धर्म व बौद्ध धर्म दोनों से सम्बंधित उत्तम मूर्तियों का विकास है। दर्शक को ऐसा लगता है जैसे मूर्तिकार ने अपनी छेनी से पाषाण को स्थायी सौन्दर्य व लालित्य के सृजन में रूपान्तरित कर दिया हो। यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि निश्चित, कुशल और पूर्ण सुबोधता; मूलभूत सिद्धातों की समझ; मूर्ति के यथार्थ उद्देश्यद्ध अत्यधिक विकसित सौंदर्य का बोध व सधे हुये हाथों की कुशलता इस काल की मूर्ति-निर्माण गतिविधि की विशेषतायें हैं।

असंख्य ब्राह्मणवादी देव समूह की मूर्तियां जैसे विष्णु, शिव, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य इत्यादि, साथ ही साथ बौद्ध व जैन मूर्तियां जैसे बुद्ध, *बोधिसत्व, तीर्थंकर* इत्यादि इस काल से सम्बंधित हैं।

वैष्णव मत व शैव मत लोकप्रिय सम्प्रदाय थे जिन्हें गुप्त शासकों का संरक्षण प्राप्त था। मूर्तिकारों ने अपने मुख्य देवताओं की मूर्तियां नियमित रूप से बनाईं जो कि पौराणिक कथाओं को उकेरने की उनकी दक्षता को प्रदर्शित करता है। विष्णु के अवतारों से सम्बंधित पौराणिक कथायें, साथ ही साथ वैष्णव मत के गौण देवताओं की कथायें मूर्तियों को बनाने में सहायक थीं। देवगढ़ के मंदिर की मूर्तियों में राम व कृष्ण के जीवन का सफलता के साथ प्रभावकारी निरूपण किया गया है। हरि-हर (विष्णु व शिव का समन्यवयात्मक मेल) की मानवाकार मूर्ति मध्य प्रदेश से प्राप्त हुई है। संयुक्त चित्रण के दो हिस्से मुकुट व अन्य लक्षणों की भिन्नता के आधार पर आसानी से पहचाने जा सकते हैं। अर्रा (वाराणसी, उ. प्र.) से कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने[2] की घटना को उकेरती उत्कृष्ट मूर्ति प्राप्त हुई है। ऐरण से प्राप्त अभिलेखीय साक्ष्य समुद्रगुप्त काल से लेकर 6वीं शताब्दी सी.ई. के आरम्भ में हुणों के आक्रमण तक तीव्र कलात्मक गतिविधियों को प्रमाणित करते हैं। यहां पर वराह (विष्णु का वराह अवतार)[3] की विशाल मूर्ति प्राप्त हुई है जिसका शीर्ष वराह का है व शरीर मानव का है। इसमें उसे समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी (मानवाकार में देवी पृथ्वी) को अपने अग्रदंतों पर उठाते व बचाते हुये दर्शाया गया है। यह एक पौराणिक कथा की कलात्मक अभिव्यक्ति है। एक स्तम्भ के शीर्ष पर दो तरफा गरूढ़ की मूर्ति भी यहाँ से प्राप्त हुई है। उसके पैरों के पास दो शेर मौर्यकाल स्तंभ का सिंह शीर्ष (Lion Capital) सदृश्य प्रतीत होते हैं। यह प्रदर्शित करता है कि सम्भवतः कुछ पूर्व प्रचलित कला परम्परायें या उनसे संबंधित विचार गुप्त काल तक भी जारी रहे।

[2] व्रंदावन के लोगों को मूसलाधार वर्षा, जिसे इंद्र ने अपनी उपेक्षा से क्रोधित होकर भेजा था, बचाने हेतु।

[3] *विष्णु पुराण* में इसका उल्लेख है।

शैव मत अभी भी लिंग पूजा के चारों ओर केन्द्रित था। हमें उदयगिरी व खोह के मंदिरों में आकर्षक *एक मुखी शिवलिंग* मिले हैं। हालांकि, हमें उदयगिरी, विदिशा और ऐरण जैसे स्थानों से शैव देवताओं जैसे स्कंद की कई मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं। देवी लक्ष्मी, दुर्गा और पार्वती की प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। बंगाल के वर्तमान क्षेत्रों में सूर्य पूजा प्रचलित थी। यहां पायी गई सूर्य देवता की मूर्तियों से यह तथ्य प्रमाणित होता है।

हमने पिछले उपखण्ड में स्थापत्य कला के विशिष्ट दृष्टिकोण से उदयगिरी गुहा स्थल के महत्व पर प्रकाश डाला था। यहां मूर्तिकला की दृष्टि से इसकी महत्ता को बताना प्रासंगिक है। आप यह अध्ययन कर चुके हैं कि यह स्थल दर्शाता है कि आरंभिक 5वीं शताब्दी सी.ई. तक हिन्दु प्रतिमा विद्या विकसित हो चुकी थी। यह इसलिये कहा गया है क्योंकि इस गुहा स्थल में व्यापक रूप से देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ हैः

i) *मकर* वाहिनी देवियां जो कि *मकरवाहिनी* गंगा और *कूर्मवाहिनी* यमुना की अग्रगामी मानी जाती हैं।

ii) दरवाज़े के अग्रभाग के दोनों बगलों की रक्षा करते हुये दो *द्वारपालों* (रक्षक) की मूतियां।

iii) गणेश।

iv) महिशासुरमर्दिनी रूप में दुर्गा (दुर्गा द्वारा महिश का वध)। यह बारह भुजा धारी प्रतिमा है जो कि विभिन्न अंगों के चित्रण के माध्यम से देवताओं की विविध शक्तियों व कार्यों को प्रतिबिंबित किये जाने के प्रचलन की ओर इंगित करती है।

v) विष्णु के दो चित्रण।

vi) *सप्त मातृका* (सात मातायें) – विभिन्न मुख्य देवताओं की पत्नियाँ जिन्होंने शिव की विभिन्न रूपों व आकृतियों वाले एक असुर, जिसका नाम अन्धक था, को मारने में सहायता की थी।

vii) वराह की विशाल मूर्ति व इससे जुड़े दृश्य। यह असाधारण रूप से ऐरण के वराह के समान है।

viii) वराह के पीछे की दीवार के दोनों तरफ नदी देवियाँ – गंगा और यमुना।

x) *एकमुख लिंग*

ऊपर चर्चा की गयी ब्राह्मणवादी धर्म से सम्बंधित देवताओं की मूर्तियों के अलावा विभिन्न पाषाण व कांस्य निर्मित बुद्ध की मूर्तियां भी उत्खनित स्थानों से प्राप्त हुई है। जैसे :

- नालंदा (बिहार),
- मथुरा (उ. प्र.),
- सारनाथ (उ. प्र.),
- पहाड़पुर (बिहार),
- अजंता (महाराष्ट्र),
- नागार्जुनकोण्डा (आंध्र प्रदेश) इत्यादि।

ये ब्राह्मणवादी धर्म को मानने वाले गुप्त शासकों द्वारा भिन्न मतों को प्रदान की जाने वाली आदर्श सहनशीलता के प्रमाण हैं कि इन भिन्न मतों द्वारा ब्राह्मणवादी धर्म के साथ शांतिपूर्ण सह अस्तित्व व धार्मिक स्वतंत्रता का उपभोग किया गया था। यह इस विचार का भी सूचक

है कि गुप्त काल बौद्ध कला के लिये भी स्वर्ण युग था। समृद्ध बौद्ध और जैन अनुयायी बुद्ध, *बोधिसत्व* और जैन *तीर्थंकरों* की विस्मय प्रेरक मूर्तियां स्थापित करने में पीछे नहीं रहे। ये मूर्तियां आध्यात्मिक भाव को बल देते हुये अन्तरस्थ भावना और बाहरी रूप से पूर्ण संयोजन को प्रदर्शित करती हैं। गुप्त काल के कारीगरों ने बुद्ध की मूर्तियों की बनावट में कुछ नये तत्वों को प्रारम्भ किया। कालांतर में, ये नव प्रवर्तन इस काल के प्रमाणिक चिन्ह बन गये। उदाहरणार्थ :

- कुषाण कालीन मुंडे हुये सिर वाली बुद्ध की मूर्तियों के स्थान पर घुंघराले केश,
- मुद्राओं के विभिन्न प्रकार, जैसे हस्तमुद्राएं,
- गुप्त कालीन मूर्तिकार नैतिकता के प्रति जागरूक थे। कुषाण कला में वस्त्रविन्यास का उपयोग देह की मोहकता को प्रदर्शित करने के लिये किया जाता था। परन्तु गुप्त काल में वस्त्र विन्यास का उपयोग देह को छुपाने हेतु किया गया। इस काल में किसी भी प्रकार की नग्नता समाप्त कर दी गई।
- पूर्ववर्ती काल की गांधार कला व मथुरा कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों की तुलना में गुप्त काल में बुद्ध की मूर्तियों में अधिक आध्यात्मिक शांति दिखाई देती है।
- गांधार शैली में दृष्टिगोचर यूनानी प्रभाव गुप्त काल में पूर्ण रूप से त्याग दिया गया।

सारनाथ से प्राप्त असंख्य बुद्ध मूर्तियों में से सबसे अद्‌भुत मूर्ति रत्न जड़ित सिंहासन पर विराजमान करूणामयी बुद्ध की अपना पहला उपदेश (*धर्मचक्र प्रवर्तन*) देते हुये की है। यह अपनी निश्चत मुस्कुराहट और निर्मल ध्यानशील मुद्रा के कारण ध्यान देने योग्य है। इस सारनाथ शैली का प्रभाव पूर्वी एवं पश्चिमी भारत के साथ-साथ दक्कन पर भी पड़ा। मथुरा से प्राप्त खड़े बुद्ध की मूर्ति भी यहां पर उल्लेखनीय है।

लगभग छः फीट ऊंची कांस्य निर्मित बुद्ध की मूर्ति भागलपुर (बिहार) के निकट सुल्तानगंज से प्राप्त हुई है। यह एक टन से भी अधिक भारी है। फाह्यान ने 82 फीट ऊँची विशाल ताम्रनिर्मित बुद्ध की मूर्ति का उल्लेख किया है, परन्तु यह प्राप्त नहीं हुई है। गुप्त कारीगरों ने लौह, ताम्र और कांस्य में मूर्तियां निर्मित कीं जो कि उनकी धातु विज्ञान में निपुणता एवं विकसित धातु तकनीक के ज्ञान को प्रदर्शित करता है। इस काल में व्यापक रूप से कांसे में मूर्ति-निर्माण के समुचित प्रमाण उपलब्ध हैं। मैहरोली लौह स्तम्भ (कुतुब मीनार के निकट, दिल्ली) लौह तकनीक में श्रेष्ठता अर्जित किये जाने का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यह शुद्ध लौह से निर्मित मज़बूत स्तम्भ है जिसका भार लगभग छः टन है। 4वीं शताब्दी सी.ई. के आसपास दिनांकित यह स्तम्भ धूप, वर्षा, तूफ़ान के बावजूद 1,500 वर्ष पश्चात् भी जंगरहित व क्षय रहित है। किस प्रकार इसका निर्माण हुआ यह आज भी रहस्य है। यह गुप्तकालीन तकनीकी विकास के अनुरकरणीय स्तर का पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। लगभग एक सदी पूर्व तक इस प्रकार की विशेषताओं वाले स्तम्भ का निर्माण पश्चिम में किसी भी लोहे के ढलाई खाने में नहीं हुआ था। यह उत्कृष्ट उदाहरण गुप्त कालीन कारीगरों के प्रभावशाली धातु कर्म कौशल का सूचक है।

विदिशा के निकट दुर्जनपुर से प्राप्त तीन जैन मूर्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें से सर्वाधिक संरक्षित मूर्तियों में एक *ध्यान-मुद्रा* में लीन मुख्य आकृति है। शारीरिक संरचना पूर्ववर्ती कुषाण आदर्शों के सदृश्य प्रतीत होती है परन्तु शीश के पीछे प्रभामण्डल का अलंकरण गुप्त प्रतिमान की ओर संक्रमण की तरफ इंगित करता है। सभी तीनों मूर्तियां अभिलेखों के आधार पर गुप्त शासक राम गुप्त के समय में दिनांकित हैं। इस प्रकार, अपनी कलात्मक उपयोगिता के अतिरिक्त ये गुप्त इतिहास के लेखन हेतु भी महत्वपूर्ण हैं।

अजंता गुफायें अपने अलंकृत चित्रों के लिये विश्व विख्यात हैं। हालांकि इन गुफाओं में मूर्तियां भी हैं जो कि गुप्त कला के वैभव के लिये समान रूप से मुखरित हैं। उदाहरणार्थ, गुफा-9 में अपनी पत्नी के साथ बैठे नागराजा की मूर्ति।

खैरीगढ़ (उ. प्र.) से प्राप्त असाधारण, विशाल अश्व मूर्ति, इसके साथ-साथ प्राप्त अत्यधिक नष्ट हो चुके अभिलेख के आधार पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह समुद्रगुप्त द्वारा *अश्वमेध यज्ञ* के लिये उपयोग में लाये गये यज्ञीय अश्व को दर्शाती है। *अश्वमेध यज्ञ* की छवि उसके सिक्कों पर भी उत्कीर्ण है। यह मूर्ति मटमैले बलुआ पत्थर से निर्मित है। गुप्त-लिच्छवी सम्बंधों के संदर्भ में खैरीगढ़ क्षेत्र महत्वपूर्ण था।

15.2.3 चित्रकला

गुप्तकाल में चित्रकला ने विकास की नयी रूपरेखा आरंभ की जैसी पहले कभी नहीं की थी। प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्तकालीन चित्रकला की शोभा और भव्यता अद्वितीय है। हमारे समक्ष विभिन्न स्थानों से प्राप्त धूमिल अवशेषों के अतिरिक्त इसके विख्यात उदाहरण अजंता भित्ति चित्रों (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), बाघ (धर, म. प्र.) के गुहा चित्र और बादामी/वातापी (बागलकोट, कर्नाटक) से प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अंजता का स्थान प्रकृति और इसकी प्राकृतिक सुंदरता के महान दूरदर्शी और सराहना करने वालों द्वारा चुना गया था। अजंता गुफायें गहरी घाटी की ओर झुके हुए अश्वाकार पर्वत पर अवस्थित हैं। ये संख्या में 29 हैं जिनमें से हमारे लिये गुप्तकालीन चित्रकला की उत्कृष्टता का मूल्यांकन करने हेतु गुफा संख्या 1, 2, 16, 17,19 बची हुई हैं। यद्यपि ये भिति चित्र पहली से लेकर साँतवी शताब्दी सी.ई. की विस्तृत समयावधि में दिनांकित हैं, परन्तु इनमें से अधिकतर गुप्तकाल से सम्बंधित हैं।

अजंता भिति चित्रों की विषय-वस्तु को निम्न में विभाजित किया जा सकता हैः

i) बुद्ध और *बोधिसत्वों* का चित्रण;

ii) बुद्ध के जीवन के दृश्य व घटनायें;

iii) *जातक* कथायें (बुद्ध के पूर्वजन्म की कथायें);

iv) प्रकृति का चित्रण जैसे फूल, पेड़ और पशु;

v) पौराणिक आकृतियाँ जैसे *यक्ष, अप्सरा, गंधर्व* इत्यादि।

ये भित्ति चित्र धार्मिक एवं लौकिक जीवन के चित्रण से परिपूर्ण हैं। यद्यपि इनकी मुख्य विषय-वस्तु धार्मिक है परन्तु लौकिक जीवन के लगभग सभी पक्षों का चित्रण किया गया है जो कि अत्यधिक सजीव एवं सहज हैं। अद्वितीय कौशल के साथ फूल-पत्तियों और जीव जन्तुओं को स्वतंत्र रूप से चित्रित किया गया है। विशाल पर्वतों, प्रचुर व सरस वनस्पति, जंगलों और उद्यानों, खिलते पुष्पों, अलंकृत लतायें, पुष्पाच्छादित वृक्षों, बहती धाराओं, उड़ते पक्षियों, लड़ते या उछलते पशुओं, घूमते शिकारी पशुओं, एक शाख से दूसरी शाख पर कूदते वानरों, निष्कपट जीवों जैसे हिरण और हाथी को चित्रित किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि कितने ध्यान से चित्रकार ने अपने चारों ओर के विश्व और प्रकृति को देखा, समझा, अनुभव व सुबोध किया है। यहां यदि एक तरफ हमें धनाढय लोगों की समृद्धता की सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त होती है तो दूसरी ओर हम भिक्षुओं और भिखारियों के जीवन के दृश्यों को भी देखते हैं।

दृश्यात्मक रूप से विस्तृत व अद्वितीय चित्रण में ध्यानस्थ बुद्ध, *बोधिसत्व* अवलोकितेश्वर और पद्मपाणी, राजा और रानियाँ, राजकुमार और राजकुमारियां, कुलीन वर्ग, योद्धा, ऋषि,

शिकारी, कसाई, *अप्सराओं* और *नायिकाओं* के रूप में सुन्दर व आकर्षक स्त्रियाँ इत्यादि भी सम्मिलित हैं। ये हमें कलाकार के मस्तिष्क में उपजे अद्भुत विविध विचारों एवं कल्पनाओं का विवरण प्रदान करते हैं। सौन्दर्य युक्त स्त्रियों की मूर्तियां एवं चित्र, दोनों ही, उनकी वेशभूषा, केशों की सजावट, उनके द्वारा पहने जाने वाले विभिन्न बनावट के आभूषणों का सुचित्रित वर्णन प्रस्तुत करते हैं। अजंता स्थित नारी चित्रण अक्सर साहित्य में वर्णित नारी सौन्दर्य के अनुरूप है।

छतों, पीठिकाओं, स्तम्भों, भवनों के अग्रभागों, द्वार-मार्गों, खिड़की की चौखटों पर किया गया अलंकरण चित्रकार की अद्भुत कल्पनाशीलता व तकनीक का प्रमाण प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने इन गुहा स्थलों को अपनी निपुणता, कुशलता एवं कारीगरी का सर्वोच्च नमूना बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

अजंता की वर्तमान विनष्ट स्थिति इनके अनुपम सौन्दर्य को नहीं छिपा सकती है। 1500 वर्षों के पश्चात भी इसके रंगों की चमक क्षीण नहीं हुई है। अजंता की चित्रकला ने समकालीन चित्रकला के लिए उत्कृष्ट प्रतिमान व आदर्श स्थापित किए। विशेष रूप से गुफा संख्या 1 में त्याग की घोषणा करते *बोधिसत्व* और गुफा संख्या 17 में तुशीता स्वर्ग में बुद्ध से मिलने हेतु उड़ते देव इंद्र और उनके परिचारक गण देखने लायक दृश्य हैं।

बाघ की गुफाओं के चित्र भी अपने सशक्त निष्पादन व आकर्षक स्वरूपों और कटावदार रूपरेखाओं जैसे अलंकारिक चित्रों के कारण प्रभावशाली हैं। अपने समकक्ष अजंता के विपरीत ये अपनी विषय-वस्तु में अधिक लौकिक हैं।

हमें साहित्यिक स्रोतों से उल्लेख मिलता है कि तूलिका को कुशलता से उपयोग करने की योग्यता को केवल पेशेवर कलाकारों द्वारा ही हृदयांगम नहीं किया जाता था, बल्कि उच्च वर्ग के स्त्री एवं पुरुष भी इस योग्यता को अविरत प्रयास से सीखते थे।

बोध प्रश्न 1

1) गुप्त कालीन मूर्तिकला या गुप्त कालीन मंदिर स्थापत्य कला पर प्रकाश डालिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2) अजंता चित्रों को गुप्त काल की कला का सर्वोत्म उदाहरण क्यों कहा जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.3 भाषा का विकास

जिसे हम ''शास्त्रीय (classical) संस्कृत'' के रूप में जानते हैं वह गुप्त काल में विकसित हुई। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को व्यापक संरक्षण दिये जाने के कारण उसके समय में संस्कृत को गंभीर असफलता का सामना करना पड़ा।

परन्तु अब गुप्त काल में इसे नया जीवन प्राप्त हुआ। गुप्त शासकों ने इसे अपने राजदरबार की आधिकारिक भाषा बनाया और उदारतापूर्वक इसके प्रयोग को प्रोत्साहित किया। उनके सभी शिलालेख संस्कृत में लिखे गये हैं। पाली, प्राकृत एवं *अर्धमागधि* जैसी मौखिक बोलियों को प्रोत्साहित करने वाली गुप्त काल से पूर्व की बौद्ध और जैन परंपराओं के प्रभाव के कारण संस्कृत भाषा को नज़रअंदाज़ किया गया था। परन्तु गुप्त शासकों के समय में संस्कृत भाषा का पुनरूत्थान हुआ। इसी के कारण, इस काल में यह सम्पूर्ण उत्तर भारत की व्यापक भाषा बन गई। यहाँ तक कि मुख्य रूप से *महायान* बौद्ध धर्म से सम्बंधित बौद्ध विद्धानों ने भी अपने ग्रंथों की संस्कृत में रचना प्रारंभ की। इसी प्रकार, जैन मत के कई ग्रंथ जैसे *न्यायवतार* और *तत्वार्थधिगम-सूत्र* प्राकृत के स्थान पर संस्कृत में रचित किये गये। यह तथ्य अन्य भाषाओं पर, पूर्व में जिनका प्राचीन भारत के भाषायी परिदृश्य पर वर्चस्व था, पर अब संस्कृत की अच्छी स्थिति को प्रदर्शित करता है। संस्कृत भाषा ने धार्मिक ग्रंथों, अभिलेखों एवं सिक्कों पर उन भाषाओं का स्थान ले लिया।

संस्कृत के कई महान कवि, नाटककार तथा व्याकरणाचार्य इसी काल से सम्बंधित हैं। गुप्त राजदरबार के मंत्री राजनीति शास्त्र और युद्ध सेना सम्बंधी अध्ययन में निपुणता के अतिरिक्त ख्याति प्राप्त कवि और रचनाकार भी थे। समुद्रगुप्त के राज्य में अधिकतर कवि राजकीय संरक्षण प्राप्त थे। हरिषेण ने समुद्रगुप्त के सम्मान में *प्रयाग प्रशस्ति* की रचना की। यह उसके जीते हुये प्रदेशों, पराक्रम, विजयों के विवरण युक्त स्तम्भ अभिलेख है। इतिहासकारों ने मैहरोली स्तम्भ पर अंकित *प्रशस्ति* वीरसेन या शाब, जो कि चन्द्रगुप्त II का प्रिय एवं निपुण कवि था, द्वारा रचित होने की सम्भावना जताई है।

गुप्त शासकों के काल में ब्राह्मणवादी धर्म को समर्थन प्राप्त हुआ और उनके संरक्षण एवं प्रोत्साहन के कारण संस्कृत भाषा पुनः गर्व के साथ विकसित हुई। बौद्ध धर्म को शासकीय संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ और उसने अपने राजकीय धर्म होने का दर्जा एवं स्तर खो दिया। हालांकि यह नहीं समझा जाना चाहिये कि बौद्ध धर्म पर अत्याचार किये गये। यदि ऐसा होता तो हमें साक्ष्य के रूप में बड़ी मात्रा में बौद्ध निर्माण एवं बौद्ध मूर्तियां प्राप्त नहीं होतीं। अतेव यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि बौद्व धर्म ब्राह्मणवादी धर्म के साथ-साथ उन्नति कर रहा था। और गुप्त शासक इसके प्रति सहनशील थे।

भारतीय मस्तिष्क और कौशल और फला-फूला और विलक्षण बौद्धिक विकास हुआ। बहुत से प्रसिद्ध, उच्च स्तरीय साहित्यिक ग्रंथों की रचना की गई। कालिदास जैसे कवियों की प्रसिद्धि दूर तक एवं व्यापक रूप से फैली। प्रसिद्ध नाटककार जैसे विशाखदत्त और शुद्रक ने अपने ग्रंथ संस्कृत में लिखे व इस प्रकार संस्कृत भाषा को अपने मौलिक योगदान से समृद्व किया। उनके साथ-साथ, इस काल में लोकप्रिय बौद्ध दार्शनिक और रचनाकार जैसे वसुबंधु, असंग, दिगनाग, आर्यदेव और जैन विद्वान सिद्धसेन पनपे।

वैज्ञानिक विषयों जैसे खगोल शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, गणित पर कथेत्तर साहित्य को भी संस्कृत में लिपिबद्ध किया गया। कुछ *पुराणों* एवं महाकाव्यों को अंतिम रूप से संकलित किया गया और उन्हे वर्तमान रूप जिसने वे हमें प्राप्त हुये हैं, इस काल में ही प्रदान किया गया।

15.4 साहित्य का विकास

गुप्त शासकों द्वारा संस्कृत को उत्साही संरक्षण प्रदान किये जाने से संस्कृत साहित्य का व्यापक विस्तार हुआ। धार्मिक साहित्य का उत्फुल्लन/विकास देखा गया। इस काल के बौद्धिक वर्ग ने *स्मृतियों*[4], *पुराणों*[5] और महाकाव्यों के रूप में नव-हिन्दुवाद के सिद्धांतों, धर्मादेशों, दार्शनिक विचारों, नैतिकता आदि को लेखबद्ध किया और उन्हें समझाने का प्रयास किया। इन शास्त्रों की रचना लोगों को शिक्षा, उपदेश देने तथा उनका संस्कृतिकरण करने हेतु किया गया। इस काल में नैतिकता एवं सामाजिक व्यवहार पर बहुत से ग्रंथ/संग्रह लिखे गये, जैसे *विष्णु स्मृति, नारद स्मृति, याज्ञवलक्य स्मृति, कात्यायन स्मृति* और *बृहस्पति स्मृति*।

प्रारम्भ में *पुराण* चारणों द्वारा रचित साहित्य से सम्बंधित थे परन्तु गुप्तकाल एवं उत्तर गुप्तकाल में ये *ब्राह्मण* रचनाकारों के हाथों में आ गए जिन्होंने इनमें राजवंशों के इतिहास और त्रिदेव – विष्णु, शिव और ब्रह्ममा – के महिमा मंडन, प्रशंसा और उनके प्रति सम्मान के अंशों को भी जोड़ दिया। इस काल के दौरान 18 *महा-पुराणों* में सबसे महत्वपूर्ण *पुराणों* को उनका अंतिम स्वरूप प्रदान किया गया। ये थे :

i) *मार्कण्डेय पुराण,*

ii) *ब्रह्माण्ड पुराण,*

iii) *विष्णु पुराण,*

iv) *भागवत पुराण,* एवं

v) *मत्स्य पुराण*।

इस काल में संस्कृत के उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई। लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी सी.ई. के आसपास महाकाव्यों *रामायण* और *महाभारत* का संकलन किया गया ऐसा माना जाता है। *महाभारत,* जिसकी रचना का श्रेय परम्परागत रूप से वेद व्यास को दिया जाता है, का विस्तार 24,000 श्लोकों से बढ़कर 100,000 श्लोकों तक हो गया था। इसने *पंचम वेद* का स्थान प्राप्त कर लिया था। इस महाकाव्य में व अन्य शास्त्रों में बहुत से तथ्य समान हैं। उदाहरणार्थ, *मनुस्मृति* के कुछ अंश *महाभारत* के *शांतिपर्व* से हूबहू मेल खाते हैं।

संस्कृत के महानतम कवि कालिदास, जो कि चन्द्रगुप्त II के राजदरबार के *नवरत्नों* में से एक थे, ने *अभिज्ञान शकुंतलम्, मालविका अग्निमित्रम, विक्रमोवर्षीयम* जैसे नाटकों और *रघुवंशम्, रितुसंहार, कुमारसम्भवम* और *मेघदूतम्* जैसे काव्यों की रचना की, जो कि इस काल के दौरान अद्वितीय, अतुलनीय साहित्यिक प्रतिमानों की स्थापना को प्रदर्शित करते हैं। ये अपने शाब्दिक एवं छंदोबद्ध उत्कृष्टता में अनुपम हैं।

---

[4] कानूनसाजी गंथ जिनमें सामाजिक एवं धार्मिक आदर्श पद्यबद्ध किए गये। ये सामान्य लोगों के साथ-साथ राजा और उसके अधिकारियों के लिये नियमों एवं कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं। इनकी रचना लगभग 200 बी.सी.ई. से 900 सी.ई. के मध्य हुई। ये विवाह एवं सम्पत्ति सम्बंधी नियमों को भी निर्धारित करते हैं। ये चोरी, हमला, हत्या, व्याभिचार इत्यादि के अपराधी व्यक्तियों के लिये दंड भी निर्धारित करते हैं।

[5] हिन्दु ग्रंथों का एक समूह जिसको व्यास से सम्बद्ध माना जाता है। ये गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में दिनांकित हैं। कुल 18 *महापुराण* एवं कई *उपपुराण* (*पुराणों* के अनुपूरक या परिशिष्ट) हैं। इनकी विषय सूची इनके विविध होने एवं विभिन्न विषयों पर विविध लोगों द्वारा विश्वकोषीय रचनाएं होने की ओर इंगित करती है। उदाहरणार्थ, *अग्नि पुराण* (लगभग 8वीं-11वीं शताब्दी सी.ई.) द्वारा विभिन्न विषयों को सम्मिलित किया गया है, जैसे अनुष्ठान पूजा, ब्रह्मण्ड विज्ञान, ज्योतिष शास्त्र, पौराणिक कथायें, वंशावलियाँ, कानून, राजनीति, शिक्षा व्यवस्था, मूर्ति विज्ञान, कर सम्बंधी सिद्धांत, युद्ध एवं सेना का गठन, युद्ध के उचित कारण सम्बंधी सिद्धान्त, युद्ध कलाएं (martial arts), कूटनीति, स्थानीय कानून, लोक परियोजनाओं का निर्माण, जल विभाजन की पद्धति, पेड़ और पौधे, दवाईयां, आकृति एवं स्थापत्य शास्त्र, रत्नविज्ञान, व्याकरण, माप पद्धतियां, कवितायें, भोजन और कृषि, धार्मिक क्रियायें, भूगोल, मिथिला (बिहार एवं पड़ोसी राज्य) जाने की यात्रा संदर्शिका, सांस्कृतिक इतिहास इत्यादि।

ऐसा कहा जाता है कि कालिदास *ब्राह्मण* विद्या की विभिन्न शाखाओं से परिचित थे। माना जाता है कि उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक ग्रंथो, *योग* एवं *सांख्य* जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ-साथ ललित कला जैसे चित्रकला, संगीत आदि का ज्ञान अर्जित कर लिया था।

यदि एक तरफ शकुन्तला एवं उसके प्रेमी राजा दुश्यंत के परम पुनर्मिलन की कथा उनकी सर्वोत्तम कृति है जो प्राचीन भारतीय साहित्य और नाट्य शिल्प की सर्वोच्च उपलब्धि रही है, तो दूसरी तरफ उनकी *मेधदूतम्* संस्कृत में लिखी जाने वाली सबसे अधिक आकर्षक काव्य रचना है। *अभिज्ञान शंकुतलम* को विश्व की 100 महानतम रचनाओं में से एक माना जाता है। यह यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद की जाने वाली आरंभिक साहित्यिक रचनाओं में से एक है और दूसरी ऐसी रचना *भगवद्गीता* है जिसे यूरोपीय भाषाओं में अनुवादित किया गया। यह रोचक बात है कि *भगवद्गीता महाभारत* का ही एक भाग है जिसे भी गुप्त काल ही में संकलित किया गया था जैसा कि पूर्व में बताया गया है।

मेधदूतम् 100 श्लोकों में लिखी गई काव्यात्मक रचना है। इस अदभुत साहित्यिक रचना में निर्वासित यक्ष बादल के माध्यम से अपना प्रेम, अपना दाम्पतिक अनुराग, अपनी प्रिय पत्नी से अलग होने की विरह वेदना को प्रकट करता है। यह मानव भावनाओं और आकर्षक अलंकारों से सुसज्जित है। उसके द्वारा दी गई उपमाओं, कल्पना की विशेषताओं, विविधता एवं उपयुक्तता के कारण यह कृति पाठक और श्रोता को आकर्षित करती है।

भावनाओं, अनुराग, अनुभूतियों के वर्णन में यह अतुलनीय है। *रघुवंशम्* में कालिदास राम की चहुं ओर विजय की प्रशंसा करता है। और ऐसा कहा जाता है कि ऐसा करते समय वह अप्रत्यक्ष रूप से कुछ गुप्त शासकों की विजय की ओर भी ध्यान दिलाता है। *कुमार सम्भवम्* शिव और पार्वती के प्रेमालाप एवं उनके पुत्र स्कन्द के जन्म की कथा है। *रितुसंहार* छः ऋतुओं का उल्लेख करता है। यह रचना श्रृंगार रस (सजावट और अलंकरण) से ओत-प्रोत है। इसके अतिरिक्त कालिदास का *मालविका अग्निमित्रम्* नाट्य की पूर्ण परिभाषा एवं कुशल नर्तक की विशेषताओं का वर्णन करता है।

भास ने 13 नाटक लिखे। अन्य महान कवि भैरवी इसी काल से सम्बंधित हैं। इन्होंने *किर्तार्जुनियम्* की रचना की। विशाखदत्त अपने *मुद्राराक्षस* के लिये जाने जाते हैं जिसकी कथा चतुर चाणक्य के चातुर्य एवं योजनाओं पर आधारित है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है, वात्स्यायन ने *कामसूत्र* की रचना की जो कि *काम* विद्या पर सम्पूर्ण प्रबन्ध है। शुद्रक को राजवंश का माना जाता है, उसने *मृछकटिकम्* (मिट्टी की गाड़ी) की रचना की। इसकी विषय-वस्तु गरीब *ब्राह्मण* चारूदत और सौन्दर्या, सुसंस्कृत, प्रवीण व समृद्ध गणिका वसंतसेना के मध्य प्रेम सम्बंध है। *मृछकटिकम्* के अपवाद को छोड़कर राजदरबार का जीवन इन संस्कृत कविताओं एवं नाटकों में उचित रूप में परिलक्षित होता है।

इस काल में पाणिनी (लगभग 6-4 शताब्दी बी.सी.ई.) व पतंजली (लगभग दूसरी शताब्दी सी.ई.) द्वारा तैयार आधारशिला पर संस्कृत व्याकरण का विकास एवं शोधन हुआ। कोषकार अमर सिंह, जो कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजदरबार का एक और गर्व था, ने अत्यधिक लोकप्रिय संस्कृत कोष *अमरकोष* की रचना की, जिसे *नमलिंगानुशासन* भी कहा जाता है। यह हमारे समय तक में भी संस्कृत का परमावश्यक कोष है। इसको आज भी संस्कृत सीखने वाले छात्र एवं शिक्षक कंठस्थ करते हैं।

उच्च स्तरीय बौद्धिक अभिरुचियों के अतिरिक्त, गुप्तकालीन भारतीय लोग अन्वेषण की वैज्ञानिक भावना रखते थे। और वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन में संलग्न रहते थे। इस काल में वैज्ञानिक अध्ययनों पर बल दिया गया। शून्य और कालान्तर में दशमलव प्रणाली का उद्भव इस काल की पथ प्रवर्तक खोज थी। ब्रह्मगुप्त, आर्यभट्ट और वराहमिहिर यथार्थ

रूप में विश्व के आरंभिक और प्रथम गणितज्ञ और खगोल शास्त्री थे। वराह मिहिर ने *ब्रहत संहिता* लिखी जो खगोल विद्या, ज्योतिष शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, प्राकृतिक इतिहास और भौतिक भूगोल का वर्णन करती है। उसकी *पंचसिद्धांतिका* पांच खगोलीय सिद्धांतों पर प्रकाश डालती है, जिनमें से दो सिद्धान्त यूनानी खगोलीय सिद्धांतों/कार्यों से पूर्ण समानता एवं सदृश्यता रखते हैं। जन्मपत्री विज्ञान (horoscope) पर उसके दो ग्रन्थ *लघु जातक* एवं *ब्रहत जातक* गुप्त काल के पश्चात भी व्यापक रूप से विमर्शित किये गये।

आर्य भट्ट ने ज्यामिति, बीज गणित, अंक गणित और त्रिकोणमिति के प्रसिद्ध ग्रन्थ *आर्यभट्टीयम* की रचना की। वह पाटलीपुत्र का वासी था। वह विभिन्न प्रकार की गणनाओं में निपुण था। उसने क्षेत्र विशेष के भारतीय पुरगामियों के साथ-साथ यूनानी खगोल विद्यों के कार्यों एवं पद्धतियों का सुक्ष्मता पूर्वक अध्ययन किया। परन्तु उसने उनका अन्ध रूप से अनुगमन नहीं किया। उसने स्वयं की अवधारणाओं और तथ्यों को विकसित किया। उसके शब्दों में, ''मैंने सत्य और असत्य खगोलिय सिद्धांतों के महासागर में डूबकी लगाई और मैने अपनी स्वयं की बुद्धि की नाव के माध्यम से डूबे हुये कीमती सत्य ज्ञान के रत्न को बचाया/मुक्त किया''। उसने अपने *सूर्य सिद्धान्त* में सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के कारणों का विश्लेषण एवं वर्णन किया। उसने पृथ्वी के आकार की लगभग सही गणना की। विद्यमान विश्वासों के विपरीत, वह प्रथम व्यक्ति था जिसने पता लगाया और घोषणा की कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है और अपने अक्ष/धुरी पर घूमती है। उसने ग्रहों की गति में परिवर्तन और सूर्य चन्द्रमा की प्रासंगिक जानकारी पर प्रकाश डाला। वह ज्या (Sine) के प्रयोग और गणना में उसके उपयोग करने की पद्धति को विकसित करने वाला पहला व्यक्ति था। उसके पथ प्रशस्त करने वाले प्रयासों के परिणामस्वरूप खगोल विज्ञान एक अलग विषय बन गया जबकि पहले यह गणित का ही एक हिस्सा था। वह दशमलव स्थानीय मान (decimal place-value) सिद्धांत का प्रयोग करने वाला प्रथम व्यक्ति था।

चिकित्सा के सम्बंध में *चरक संहिता* और *सुश्रुत संहिता* महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इस काल में साहित्य और ज्ञान-उत्पादन के क्षेत्र में समग्र विकास हुआ। महर्षि पालकप्य द्वारा रचित *हस्तयुर्वेद* पशु चिकित्सा विज्ञान की प्रथम व्यवस्थित कृति है।

यह काल दार्शनिक विचारों के उद्भव में मील का पत्थर बना। निरंतर चल रहा दार्शनिक वाद-विवाद अब दार्शनिक शास्त्रार्य विचारों के निम्न सिद्धांतों पर केन्द्रित हो गयाः

1) *न्याय* (विश्लेषण),
2) *वैशेशिक* (व्यक्तिगत विशेषतायें),
3) *सांख्य* (गणना),
4) *योग* (संप्रयोग),
5) *मीमांसा* (अनुसंधान), और
6) *वेदान्त* (वेदों का अंतिम भाग)।

इस काल में जैन प्रचारकों, जिनमें से भद्रबाहु II सबसे प्रमुख थे, ने अपने पवित्र प्रबंधों पर टीकायें (commentaries) लिखना आरंभ किया जो *निर्युति* व *चूर्णि* कहलाये।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस काल ने शास्त्रीय (classical) साहित्य के इतिहास में एक प्रमुख मानदण्ड स्थापित किया। संस्कृत ने एक अलंकृत शैली विकसित की जो सरल, सामान्य व पुरातन संस्कृत से भिन्न थी।

बोध प्रश्न 2

1) संस्कृत भाषा में कालिदास के योगदान का वर्णन कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्न से कौन से कथन सही (✓) या गलत (✗) हैं ?

i) विद्यमान गुप्त मंदिरों मे देवगढ़ मंदिर सबसे प्राचीन है। ( )

ii) गुप्त काल भारत में मंदिर निर्माण का परिपक्व काल है। ( )

iii) गुप्त काल के शिव मंदिर भूमरा और खोह से प्राप्त हुये हैं। ( )

iv) भीतरगांव मंदिर में *नर-नारायण* उत्कीर्ण मूर्ति, *गजेन्द्र मोक्ष* उत्कीर्ण मूर्ति और शेषशायी विष्णु उत्कीर्ण मूर्ति विद्यमान है। ( )

v) नालंदा स्थित नालंदा विश्वविद्यालय समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित किया गया था।( )

vi) हरि-हर मूर्ति विष्णु और शिव के समन्वयात्मक संयोग को दर्शाती है। ( )

vii) ऐरण एवं उदयगिरी के वराह में अद्भुत समानता है। ( )

viii) बुद्ध की मूर्ति के घुंघराले बाल कुषाण शैली की विशेषता थी। ( )

ix) दुर्जनपुर से प्राप्त जैन मूर्तियां चन्द्रगुप्त II के राज्यकाल से सम्बंधित हैं। ( )

x) अजंता भित्ति चित्र गुप्तकालीन चित्रकला के सर्वोत्तम नमूने हैं। ( )

xi) अजंता चित्रों में *जातक* कथायें सम्मिलित नहीं है। ( )

xii) यहां तक कि बौद्ध विद्वानों, विशेष रूप से *महायान* बौद्ध धर्म से सम्बंधित विद्वानों, ने गुप्तकाल में अपने ग्रन्थ संस्कृत में लिखने प्रारंभ कर दिये। ( )

xiii) *अभिज्ञान शकुंतलम* और *भगवद्गीता* को यूरोपीय भाषाओं में अनुवादित किया गया। ( )

xiv) आर्यभट्ट ने *बृहत संहिता* लिखी। ( )

xv) *चरक संहिता* और *सुश्रुत संहिता* गुप्त काल में गणित और खगोल विज्ञान की महत्वपूर्ण रचनायें हैं। ( )

15.5 सारांश

हमने देखा कि गुप्त शासकों का काल सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रसिद्धि और महत्ता के लिये जाना जाता है। उनके समय में भारत ने सभ्यता एवं संस्कृति के नये युग में प्रवेश किया। भारतीय बौद्धिक ज्ञान अपने सर्वश्रेष्ठ स्तर पर प्रदर्शित हो रहा था। यह कला, भाषा एवं साहित्य, जो कि इस समय की बहु आयामी सांस्कृतिक उपलब्धियों के बारे में जानकारी प्रदर्शित करते हैं, के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व उन्नति में परिलक्षित होता है। मानवीय विचारों ने स्वतंत्रतापूर्वक

विचरण किया जिसके परिणामस्वरूप बहुत सी साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों का सृजन हुआ जैसा कि हमने इस इकाई में अध्ययन किया है।

मंदिर स्थापत्य प्रारम्भ हुआ और व्यवस्थित रूप से मूर्तिकला की परम्परा आरंभ हुई। निश्चित प्रकारों एवं शैलियों का विकास हुआ, तकनीक में पूर्णता प्राप्त हुई। सटीकता के साथ सौन्दर्य के आदर्शों की स्थापना हुई। गुप्त कालीन मूर्ति कला एक नये स्तर पर पहुंच गई। यह अन्तर्भावना की गहराई और महान कौशल के संयोग में प्राप्त निपुणता को दर्शाती है। बौद्ध एवं ब्राह्मणवादी धर्म से सम्बंधित मूर्तियां सौन्दर्य, मोहकता और लालित्य व उत्कृष्टता से परिपूर्ण हैं। जो मानवीय भावनाओं पर लयात्मक प्रवीणता को दर्शाती हैं। गांधार कला पर दिखाई देने वाला विदेशी प्रभाव पूर्ण रूप से त्याग दिया गया। मूर्तिकला ने पूर्ण रूप से भारतीय चरित्र प्राप्त कर लिया। अजन्ता भित्ति चित्र मानव आकृतियों के मनोभाव और मुद्रा के संदर्भ में अद्वितीय परिष्करण, सौन्दर्य एवं आकार के तालमेल को प्रदर्शित करते हैं। साथ ही, धार्मिक और इसमें लौकिक जीवन के विभिन्न दृश्यों का उत्कृष्ट निरूपण किया गया है। अजंता चित्रों ने पशुओं और मानव आकृतियों के चित्रण में प्राप्त सम्पूर्ण कुशलता के साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। इन चित्रों को देखते ही विभिन्न वर्गों के लोगों के जीवन का परिदृश्य प्रकाश में आ जाता है। पाली और प्राकृत भाषाओं के प्रयोग को निरूत्साहित किया गया एवं संस्कृत भाषा को उदारता से प्रोत्साहित किया गया। गुप्त शासकों के सत्तारूढ़ होने के साथ ही संस्कृत को वृद्धि और विकास के लिये अनुकूल वातावरण मिला। वे संस्कृत के उत्साही प्रशसंक एवं संरक्षक थे। बौद्धिक प्रवृत्ति, जो इस काल की विशेषता है, को संस्कृत भाषा में लिखे गये बहुत से कथा साहित्य और गैर-काल्पनिक लेखों में देखा जा सकता है। कालिदास यथार्य रूप में इस काल के रत्न थे। वैज्ञानिक विषयों में प्रभावशाली विकास वराह मिहिर और आर्यभट्ट के ग्रन्थों से प्रमाणित होता है।

15.6 शब्दावली

बोधिसत्व : कोई व्यक्ति जो बौद्धत्व (बुद्ध का स्तर/प्रबोध न/जीवन की परम स्थिति) के मार्ग की ओर अग्रसर हो। इसका अर्थ ''प्रबुद्ध'' भी है। *महायान* बौद्ध धर्म में इसका तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो सचेतन/प्रबुद्ध है, जो *निर्वाण* प्राप्त करने में सक्षम है परन्तु उसने अपने लक्ष्य को पीड़ित जनों के दुख के प्रति करूणामय होकर कुछ समय के लिये रोका है।

ब्राह्मणवाद : *ब्राह्मणों,* उनके सिद्धान्तों, ज्ञान बोध चरित्र/प्रकृति, पूजा पद्धति से सम्बंधित।

भित्ति-चित्र (frescoe): रंग को पानी या चूने के पानी में घोलकर गीले लेप (plaster) की सतह पर चित्र बनाने की तकनीक; इस प्रकार की तकनीक से बनाया गया चित्र।

म्यूरल (mural) : चित्रित या सीधे ही दीवार या छत पर लगाया हुआ बड़ा चित्र।

तीर्थंकर : जैन उपदेशक जिन्होंने परम ज्ञान की प्राप्ति की।

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 15.2.1 या 15.2.2 देखें।

2) उप-भाग 15.2.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 15.4 देखें।

2) (i) × (ii) × (iii) ✓ (iv) × (v) ×
(vi) ✓ (vii) ✓ (vii) × (ix) × (x) ✓
(xi) × (xii) ✓ (xiii) ✓ (xiv) × (xv) ×

15.8 संदर्भ ग्रन्थ

गांगुली, डी. के. (1987). *द इम्पिरीयल गुप्ताज़ एण्ड देयर टाइम्स,* नई दिल्ली।

गुप्ता, परमेश्वरी लाल (1979). *द इम्पिरीयल गुप्ताज़ : कल्चरल हिस्ट्री,* विश्वविद्यालय प्रकाशन।

हंटिगटन, सुज़ैन एल. (1985). *द आर्ट ऑफ़ एंशियंट इंडिया : बुद्धिस्ट, हिन्दु, जैन.* वैदरहिल।

विलियम्स. जे. जी. (1982). *द आर्ट ऑफ़ गुप्ता इंडिया : ऐम्पायर एण्ड प्रोविन्स.* प्रिसंटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 16 धर्म एवं धार्मिक प्रवृत्तियाँ : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक*

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 पौराणिक हिन्दू धर्म

16.2.1 वैष्णववाद

16.2.2 शैववाद

16.2.3 शक्तिवाद

16.3 *भक्ति* आन्दोलन

16.3.1 *नयनार* और *अलवार*

16.3.2 *वीर शैव*

16.4 *भक्ति* परंपरा में लिंग-भेद

16.5 *भक्ति* आंदोलन का पतन

16.6 तन्त्रवाद

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.10 संदर्भ ग्रंथ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में धर्म के क्षेत्र में परिवर्तनों को पेश करना है। यह *भक्ति* आंदोलन और तन्त्रवाद पर केन्द्रित है। इस इकाई के माध्यम से आप निम्न बिन्दुओं को समझने में सक्षम होंगे।

- पौराणिक हिन्दू धर्म के विभिन्न रूपों के उदय होने की समझ;
- उन परिस्थितियों की समझ, जिन्होंने *भक्ति* आंदोलन को जन्म दिया;
- *भक्ति* आंदोलन के प्रक्षेप पथ की समझ;
- यह समझना कि कैसे अंततः *भक्ति* आंदोलन सामाजिक परिस्थितियों में भारी बदलाव नहीं ला पाया;
- तन्त्रवाद के उदय और उसके समावेश की समझ; और
- यह समझना की विभिन्न परंपराओं में तन्त्रवाद की स्थाई विरासत कैसे है।

16.1 परिचय

आपने पिछली इकाइयों में हिंदू धर्म के विकास के बारे में पढ़ा। छठी शताब्दी बी.सी.ई. में बौद्ध-धर्म, जैन धर्म और *अजिविक* जैसी कई वैधार्मिक परंपराओं का उद्य हुआ। बाह्मणवाद

*सुश्री जोइता पाल, पी.एच.डी. छात्रा, इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

का प्रसार पूरे महाद्वीप में भी जारी रहा। इससे पहले की अवधि में स्थानीय और जनजातीय देवताओं को पौराणिक ब्राह्मणवादी देव-गणों में शामिल किया गया था। ब्राहमणवाद को प्रबल किया गया और *ब्राह्मणों* को शासकों द्वारा भूमि-अनुदान के माध्यम से आगे बढ़ाया गया। इससे आदिवासी क्षेत्रों में उनका प्रवेश हुआ और राज्य और प्रशासन का विस्तार हुआ। ब्राह्मणवाद के भीतर कुछ तत्व दमनकारी हो गये थे और धार्मिक प्रथा बाहरी संस्कारों पर केन्द्रित थी। इस धार्मिक उत्पीड़न को निम्न जातियों और सामान्य रूप से स्त्रियों को झेलना पड़ा। इन परिस्थितियों में *भक्ति* और तन्त्रवाद की उत्त्पत्ति हुई।

यह विचारणीय है कि ऐसी दमनकारी व्यवस्था कैसे अस्तित्व में आई और उसने कैसे स्वयं को मज़बूत किया। भूमि संसाधनों के प्रचलित आवंटन ने समाज के एक आभिजात्य वर्ग के आधित्य का समर्थन किया। इस प्रकार आर्थिक शोषण सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में भी फैला। स्त्रियों को अपवित्र माना जाता था, उन्हें काम-इच्छा और प्रजनन की क्षमता के कारण पुरुषों की आध्यात्मिक प्रगति में बाधा के रूप में देखा गया। इस तरह के पितृ-सत्तात्मक विश्वासों के लगातार बने रहने के कारण उनकी अनुष्ठानिक जीवन और अन्य क्षेत्रों में भागीदारी कम हो गई।

भक्ति और तन्त्रवाद दोनों की विविध प्रकार की अभिव्यक्तियाँ थी और ये इस व्यापक घटना के लिए एक व्यापक पारिभाषिक शब्द की तरह हैं। इतिहासकारों के इस पर विभिन्न मत हैं कि इन पारिभाषिक शब्दों के अन्तर्गत क्या शामिल किया जाए। फ़िर भी कुछ सामान्य सूत्रों में इसको समझा जा सकता है। भक्ति के विभिन्न आंदोलनों ने जाति, वर्ग और लिंग के भेद से ऊपर उठने का लक्ष्य अपने सामने रखा। मोक्ष के साधन के रूप में पाठ्यज्ञान के स्थान पर प्रेम और भक्ति पर जोर दिया गया। तन्त्रवाद ऐसे विश्वासों और प्रथाओं की एक श्रृंखला के रूप में शुरू हुआ जिसमें प्रकृति और देवी के सिद्धान्त रूप में स्त्री-पूजा पर ध्यान केन्द्रित किया गया। बाद में इसका मुख्यधाराओं की विभिन्न परम्पराओं में विलय हो गया।

16.2 पौराणिक हिन्दू धर्म

वैदिक ब्राह्मणवाद के पतन के साथ कई सम्प्रदाय उभरे जिन्होंने मिलकर पौराणिक हिन्दू धर्म का गठन किया। पौराणिक हिन्दू धर्म इसलिए एक विश्वास प्रणाली है, जिसमें औपचारिक रूप से कई धाराएँ हैं, जो स्थानीय धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं को आत्मसात और संश्लेशित करती है। इससे इसे विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न सामाजिक समूहों को अपने में आत्मसात करने में मदद मिली। हम जानते हैं कि पौराणिक हिन्दू-धर्म की विभिन्न धाराओं का निर्माण अनेक देवी-देवताओं के समूह से हुआ है। पौराणिक हिन्दू-धर्म का अस्तित्व तांत्रिक मान्यताओं और प्रथाओं के साथ-साथ अस्तित्व में था।

उस समय के मौजूदा वैदिक ब्राहमणवाद से पौराणिक हिन्दू धर्म में परिवर्तन अचानक नहीं हुआ था, बल्कि यह स्थानीय पंथों को आत्मसात करके उनसे वार्तालाप करने और उन्हें स्वयं में समाहित करने की एक धीमी प्रक्रिया थी। एक नयी प्रणाली में परिवर्तन का मतलब यह नहीं था कि वैदिक ब्राहमणवाद से जुड़े सभी पुराने विचारों को पूरी तरह से छोड़ दिया गया था, फ़िर भी वैदिक ब्राहमणवाद और पौराणिक हिन्दू धर्म के बीच अंतर आसानी से पहचाना जा सकता है जब हम दोनों के वर्णन ग्रन्थों में पढ़ते हैं। आपने पिछली इकाइयों में वैदिक ब्राहमणवाद के स्रोतों की जाँच की है। पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्रोत ग्रन्थों का एक ऐसा स्रोत है जिन्हें *पुराण* कहा जाता है। पुराणों की रचना तीसरी और चौथी शताब्दी सी.

ई. से हुई थी। उनकी रचना प्रारंभिक आधुनिक काल तक जारी रही। इसलिए हम वैदिक ब्राहमणवाद में परिवर्तन को वेद-शास्त्रों और पुराणों के बीच अन्तर से समझ सकते हैं। चूंकि पहले से मौजूदा विचार पूरी तरह से गायब नहीं हुए थे, इसलिए कहा जा सकता है कि वैदिक ब्राहमणवाद पौराणिक हिन्दू धर्म के एक घटक के रूप में बना रहा।

आप सवाल पूछ सकते हैं कि इस तरह का समावेश और आत्मसात क्यों आवश्यक था। इस प्रसंग का एक उत्तर उस समय की प्रचलित आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। ब्राहमणों को *ब्रहमदेय* के रूप में भूमि अनुदान प्राप्त होते थे और उनके लिए महत्वपूर्ण था कि वे स्थानीय लोगों से काम लें, और उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं को आत्मसात करें। इसलिए स्थानीय देवी-देवताओं को स्वीकारना और इन्हें हिन्दू धर्म में सम्मिलित करना ब्राहमणवाद के विस्तार की एक प्रमुख विधि थी और यह हिन्दू धर्म में अनेक देवी-देवताओं के होने के कारण था।

पौराणिक कथाओं और लोक-साहित्य भी विभिन्न मतों को ब्राहमणवाद के तहत लाने के लिए महत्वपूर्ण साधन थे। हम ये जानते हैं क्योंकि पुराण ऐसी पौराणिक कहानियों से भरे पड़े हैं जो एक व्यापक श्रौतागण को लुभा सकती हैं। पुराणों की विषय वस्तु उपदेशात्मक की अपेक्षा लोकप्रिय ज़्यादा है।

वैदिक ब्राहमणवाद से पौराणिक हिन्दू धर्म से परिवर्तन के दौर में धार्मिक गतिविधियों में कई परिवर्तन हुए। इस अवधि में अनुष्ठानों की गतिविधियाँ बढ़ी और अब ये अनुष्ठान वैदिक अनुष्ठानों से अलग थे। बलि के महत्व को कम होने के कारण पूजा और सामूहिक अनुष्ठानों की भूमिका मुख्य हो गई। मूर्ति-पूजा और मन्दिरों के भीतर पूजा भी महत्वपूर्ण हो गई। पूजा की गतिविधियों में वन-क्षेत्रों में पाये जाने वाले पौधों के पत्तों और फूलों को शामिल करना ब्राहमणवाद और उन मतों के बीच सम्बन्ध को दर्शाता है जिनको इसने आत्मसात किया। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों पर जाने और तीर्थ स्थलों को महत्वपूर्ण बनाने का कार्य हुआ। पुराणों में तीर्थ-स्थलों की एक विशाल संख्या का उल्लेख है। ऐसे तीर्थ-स्थलों का स्थान-नियोजन रणनीतिक था, क्योंकि वे विशेष रूप से केन्द्रीय ब्राहमणवादी क्षेत्रों से दूर के क्षेत्रों में स्थित थे। यह स्थानीय पंथों के साथ ब्राहामणवाद के जुड़ाव की दिशा में एक कदम था।

पौराणिक हिन्दू धर्म के मुख्य सम्प्रदायों की यहाँ चर्चा की जाएगी, वे शैववाद, वैष्णववाद व शक्तिवाद हैं। तीनों अनेक स्थानीय पंथों और परंपराओं को अपने अन्दर समाहित करने में सक्षम थे। स्थानीय देवताओं को तीन मुख्य देवताओं के अवतार के रूप में दर्शाया गया था।

16.2.1 वैष्णववाद

विष्णु का पहला उल्लेख वेदों में आता है। जहाँ उन्हें कुछ स्तुति स्तोत्र समर्पित हैं। ब्राहामण ग्रन्थों के एक वर्ग में उनका अधिक उल्लेख है। ये ग्रन्थ विष्णु को सर्वोच्च देवता मानते हैं। जबकि वैष्णववाद उपमहाद्वीप में बड़े पैमाने पर फैला था, यह उपमहाद्वीप के पूर्वी हिस्सों में विशेष रूप से प्रमुख था।

जैसा की ऊपर चर्चा की गई है, स्थानीय पन्थ पौराणिक हिन्दू धर्म की तीन धाराओं में से प्रत्येक में अवशोषित किए गए थे। वैष्णववाद ने नारायण, जगन्नाथ, वेकंटेश्वर और अन्य पन्थों को समाहित किया था। विष्णु के विभिन्न अवतार इन पन्थों के समावेश के लिए एक माध्यम बनते हैं। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि बुद्ध का एक विष्णु के अवतार के रूप में समावेश बौद्धों को वैष्णववाद के तहत लाने के प्रयासों से उपजा एक कदम था। इसी तरह एक जैन *तीर्थंकर* को भी सम्मिलित किया गया था।

वैष्णववाद ने राम और कृष्ण के दो महत्वपूर्ण विष्णु के अवतारों से प्रसिद्धि प्राप्त की, जिसे मुख्य रूप से *भक्ति* आन्दोलन के माध्यम से मशहूर किया गया था। महाभारत की कृष्ण परंपरा और *रामायण* के राम-पंथ ने अपने-अपने लोक वत्तांतों को महाकाव्य के वर्णन में शामिल करके सामाजिक समूहों को आत्मसात किया, लेकिन उनके देवी-देवता हमेशा *ब्राह्मण* देवताओं के अधीन थे।

16.2.2 शैववाद

शैववाद को उपमहाद्वीप के कई हिस्सों में विशेष रूप से कश्मीर में प्रमुखता मिली। शैववाद में आत्मसात करने की प्रक्रिया अलग थी। शैववाद द्वारा आत्मसात किये गए पंथों की पहचान उपसर्ग *ईश* या *ईश्वर* को स्थानीय देवता के नाम के सामने रखकर की जाती है, जैसे कि भूतेश्वर या चन्देश्वर। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि शिव के बालक वास्तव में स्थानीय पंथों के प्रमुख देवता थे, जिन्हें बड़े पौराणिक वृत्तांत में शामिल कर लिया गया था। इस प्रकार उनके पुत्र स्कन्द जिन्हें कुमार के नाम से भी जाना जाता है, को सुब्रमण्यम, मुरुगन और कार्त्तिकेय के रूप में पूजा जाता है। इसी प्रकार उनकी पत्नी पार्वती के बारे में कहा जाता है कि वे मूलतः एक पर्वतीय देवी थी।

शैववाद के अन्तर्गत अन्य पंथों के सांस्कृतिक समावेश को पहचानने का तरीका शिव के षरीर के आभूषणों को पहचानने के साथ-साथ उनकी पौशाक भी है। कुछ इतिहासकारों द्वारा उनकी पौशाक को आदिवासी मूल के रूप में भी वर्णित किया गया है। वे इस बात को इंगित करते हैं कि सर्प शिव के व्यक्तित्व का अनिवार्य हिस्सा है। इसके अतिरिक्त शिव का उर्वरता के साथ मज़बूत सम्बन्ध स्थानीय उर्वरता पंथों और उनके व्यवहार से लिया गया है।

16.2.3 शक्तिवाद

शक्तिवाद की धारणा एक देवता पर आधारित नहीं है। यह मूलरूप से ब्राह्मणवाद में स्त्री-शक्ति के सिद्धान्त के रूप में शुरू हुआ। शक्ति, सिद्धान्त रूप में, तीन मुख्य देवताओं की पत्नी थी। इस प्रकार वह ब्रह्मा के लिए सरस्वती, विष्णु के लिए लक्ष्मी और शिव के लिए दुर्गा या पार्वती थी। शुरुआती शताब्दी में ही शक्ति देवी बन गई थी और उसकी पूजा के लिए समर्पित एक पंथ विकसित हो गया था। चूंकि मातृ देवी के रूप में स्त्री सिद्धान्त की पूजा ऐसे सामूहिक समूहों में सामान्य बात थी, जो ब्राहमणवाद से अछूते थे। शक्ति पंथ तन्त्रवाद के केन्द्र में प्रमुख विचार था और इसके काफ़ी अनुयायी थे। शक्तिवाद का मुख्य ग्रन्थ *देवीभागवत पुराण* है।

वेदों में कोई प्रमुख महिला देवता नहीं है। प्रारम्भिक साहित्य में महिला देवता का संक्षिप्त उल्लेख पुरुष देवताओं से स्वतंत्र नहीं है। ऊर्जा या शक्ति का इन्द्र की पत्नी के रूप में विचार मौजूद है। लेकिन यह बाद के समय तक सम्पूर्णता में विकसित नहीं हुआ है। इसलिए इस तथ्य से देवी का गैर ब्राहमणवादी मूल निर्धारित करने में कठिनाई नहीं है। क्योंकि प्रथम ब्राहमण ग्रन्थों में उनका उल्लेख नहीं है। देवी का नाम कई *पुराणों* में आता है और विशेष रूप से *देवी महात्मय* में। विभिन्न पंथों के विभिन्न देवी रूप धीरे-धीरे एक मुख्य देवी के रूप में पहचाने जाने लगे। जहाँ, शक्तिवाद स्त्री सिद्धांत को एक सार्वभौमिक दिव्य शक्ति के रूप में प्रयोग में लाता है, परन्तु यह बहस का मुद्दा है कि क्या इससे महिलाओं की स्थिति में कोई सुधार हुआ।

इस प्रकार वैदिक ब्राहमणवाद का स्थान पौराणिक हिन्दू धर्म ने ले लिया। परिणामस्वरूप यह परिवर्तन एक बड़ी संख्या में देवगण और विश्वास की एक नयी व्यवस्था के निर्माण की

और ले जाता है। यह व्यवस्था विभिन्न पथों के तत्वों से बनी थी, जिन्होंने पौराणिक हिन्दू धर्म के दायरे का विस्तार किया। इसके साथ-साथ पूजा के तौर तरीकों के रूप में धार्मिक व्यवहार में भी परिवर्तन हुए, इसके साथ अनुष्ठानों की प्रकृति और अनुष्ठानों के सम्पन्न कराने के स्थान भी बदल गये। तांत्रिक तत्वों ने भी इसी समय के आसपास हिन्दू धर्म में प्रवेश करना शुरू कर दिया। पौराणिक हिन्दू धर्म द्वारा लाये गये नये विचारों को विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रचारित किया गया, लेकिन इसमें मुख्यतः *भक्ति* आन्दोलन की भूमिका थी जिसकी चर्चा अगले भाग में की जाएगी।

16.3 *भक्ति* आन्दोलन

भारत में धर्म के इतिहास का अध्ययन करने में *भक्ति* आन्दोलन महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उपमहाद्वीप का एक सबसे व्यापक धार्मिक आन्दोलन था। इसको एक विशेष समय और स्थान पर आधारित एक घटना के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह दक्षिण भारत से उत्तर की ओर फैल गया। इसकी शुरुआत शैव *नयनारों* और वैष्णव *अलवारों* ने वर्तमान तमिलनाडू में छठी शताब्दी के आसपास की थी। इस प्रकार प्रारंभिक *भक्ति* आन्दोलनों का नेतृत्व अलवारों ने, जो विष्णु के भक्त थे और नयनारों ने, जो शिव के भक्त थे, किया। प्रारंभिक चरण में दक्षिण के भागवत आन्दोलनों में बहुत कम गैर ब्राहमण लोग और महिलाएँ शामिल थी, लेकिन बाद में इसमें बदलाव आया। ये प्रारंभिक आन्दोलन प्रारंभिक मध्ययुगीन राज्यों जैसे पल्लव, चोल, पांड्य और चेर के उद्‌य के साथ-साथ विकसित हुए जिन्होंने इनका समर्थन किया। दूसरी ओर उत्तर भारत में इस समय वैधार्मिक परंपराओं को राजनैतिक संरक्षण प्राप्त नहीं था।

भक्ति आंदोलनों में भगवान और भक्त के बीच के सम्बन्ध पर कई प्रकार के दृष्टिकोण थे। *भक्ति* में एक व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर की *भक्ति* शामिल थी। इसका मुख्य बिन्दु यह था कि एक भक्त और उसके भगवान के बीच पुजारी की मध्यस्थता जरूरी नहीं थी। इस प्रकार *भक्ति* आन्दोलन ने पुजारी के रूप में मध्यस्थ को रास्ते से हटा दिया। कुछ *भक्ति* परंपराओं में ईश्वर को इतना अंतरंग माना जाता था कि ईश्वर स्वयं व्यक्ति का हिस्सा बन जाए।

ईश्वर के प्रति प्रेम और *भक्ति* विभिन्न सम्बन्धों के रूप में परिकल्पित है। *वरकरी* सम्प्रदाय के लिए सम्बन्ध की परिकल्पना एक बालक (भक्त) के रूप में की जाती है, जो अपने माता-पिता के साथ होता है, मुख्य रूप से माँ के साथ। कभी-कभी जब भक्त भगवान से अलग हो जाता है तो उस विरह का दर्द भक्त के कार्यों को संचालित करता है। वैष्णव और शैव परम्पराओं में ईश्वर के लिए आत्मा की इच्छा को प्रेम के सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है। विरह की अवधारणा ने दाम्पत्य अलगाव का वर्णन करने वाले लोक गीतों को समाहित करने का एक मार्ग प्रदान किया।

इससे पहले गृहस्वामी के अनुष्ठान-कर्म और तपस्वियों के त्याग पर बल दिया जाता था। अब इस नये विकल्प ने सर्वोच्च देवता के लिए व्यक्तिगत *भक्ति* पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया। *भक्ति* मार्ग में सर्वोच्च सत्ता के प्रति गहरी श्रद्धा और प्रेम निहित था। इस प्रकार पूजा-पाठ की विधियों में मन्दिरों में पूजा और अनुष्ठानों से लेकर आन्तरिक आध्यात्मिकता तक की विधियाँ प्रचलित थी। इसलिए जहाँ अनेक *भक्ति* परम्पराओं ने बाहरी धार्मिक प्रथाओं और कर्मकाण्डों को खारिज कर दिया, लेकिन सभी ने ऐसा नहीं किया। कुछ सन्त कवि इस तरह से कर्मकाण्डों की बजाए सभी मानवीय गतिविधियों में भगवान के रूप को देखने की वकालत करते हैं।

इसलिए *भक्ति* को वास्तव में सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता। प्रत्येक *भक्ति* समूह की अलग-अलग मान्यताएँ थी। प्रत्येक परम्परा के साहित्य में एक आम बात है लेकिन प्रत्येक

की शैली और रचना के लहजे में भिन्नता है। *भक्ति* आन्दोलन का नेतृत्व विभिन्न समूहों और लिगों से आए भक्तों ने किया। इसमें कई व्यक्ति गैर-ब्राहमण थे। वे जीवन का परित्याग करने वालों से भिन्न थे। जहाँ उनके परिवारों के साथ सम्बन्ध समाप्त नहीं हुए थे, फ़िर भी वे सांसारिक सम्बन्धों से अलग थे। इस अर्थ में उन्होंने कभी-कभी परिवार और महिलाओं को दाम्पत्य दृष्टिकोण से अच्छा नहीं माना। जहाँ वे जादू-टोने के साथ नहीं जुड़े थे, वहीं चमत्कार उनकी आत्मकथाओं का एक हिस्सा था।

कुछ लोग यह तर्क देंगे कि सभी *भक्ति* आन्दोलनों के बीच सन्त कवियों की भूमिका मुख्य है। इन परम्पराओं की पहचान यह है कि उनके रचयिता सन्त कवि थे जिन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं में मौखिक शब्दों और गीतों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त किया, इस प्रकार उन्होंने स्वयं को आम लोगों की भाषा में व्यक्त किया। उनकी कविताओं और गीतों को उनके निधन के बाद उनके अनुयायियों द्वारा संकलित किया गया था। जैसे-जैसे इन परम्पराओं का गठन किया गया वैसे-वैसे अनुयायी उन पुराने विचारों को हटाते गये जो अब सार्थक नहीं थे, और नये जोड़ते गये। अधिकांश स्रोत एक मौखिक परंपरा के माध्यम से हम तक पहुँचे हैं, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक बोल कर प्रेषित करता है। इन आन्दोलनों ने अपने-अपने संदर्भों में पारंपरिक रूप से वंचित लोगों के लिए पवित्र धार्मिक स्थान खोल दिये। यह स्थान परंपरागत रूप से उनके लिए बन्द कर दिया गया था क्योंकि निरक्षर होने के कारण उनके पास लिखित धार्मिक ग्रन्थों तक कोई पहुँच नहीं थी और इस तरह वे केवल मध्यस्थों के माध्यम से उन तक पहुँव सकते थे। इसलिए *भक्ति* आन्दोलनों का एक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने संगीत और काव्य रचनाओं के माध्यम से मौखिक परंपराओं को मज़बूत किया और उन्हीं के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया। उत्तर भारत की परंपरा ने *पद* नामक छोटी कविताओं का उपयोग किया जिनको रागों में ढाला जा सकता था, इसलिए कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि इनका उद्देश्य मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को पलटना नहीं था, बल्कि उसी के अन्तर्गत नये पवित्र स्थानों का निर्माण करना था।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- भक्त सन्तों ने एक सर्वोच्च देवता की पूर्ण *भक्ति* पर बल दिया।
- मुक्ति अब केवल उच्च *जाति* के पुरुषों तक सीमित नहीं थी और इसका मार्ग निम्न जातियों के पुरुषों और महिलाओं के लिए खुल गया।
- धार्मिक नेता ब्राहमण अधिकारियों से सन्त कवियों में परिवर्तित हो गये।
- संस्कृत अब केवल धार्मिक ग्रन्थों के लिए एक मात्र भाषा नहीं रही। अन्य देशी भाषाओं में ग्रन्थ लिखे गये और ग्रन्थों का अनुवाद किया गया।
- ब्राहमणवादी आधिपत्य और पितृसत्ता दोनों को चुनौती दी गई लेकिन उन्हें उखाड़ा नहीं जा सका।
- *भक्ति* आन्दोलन ने सिद्धांत की अपेक्षा जीवंत अनुभव पर जोर दिया।

16.3.1 *नयनार* और *अलवार*

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि *भक्ति* आन्दोलन *नयनारों* और *अलवारों* के आंदोलनों से शुरू हुआ था, वे क्रमशः विष्णु और शिव की *भक्ति* करते थे। जैसे-जैसे आंदोलन आगे बढ़ा, स्थानीय देवताओं के साथ आदिवासी देवताओं को वैष्णववाद और शैववाद में आत्मसात् किया। मुरुगन, एक आदिवासी देवता को ब्राहमणवादी दायरे में इस प्रक्रिया के तहत लाया गया था। मायन वैष्णवाद में शामिल एक आदिवासी देवता थे। दोनों

परम्पराओं में स्थानीय प्रमुखों को ब्राहमण से कम दर्जा देकर शामिल करने की अपनी क्षमता के कारण शैववाद ने एक व्यापक आधार विकसित किया। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि शैववाद का अनुसरण करने वाले वैष्णववाद की तुलना में समाज के निचले तबकों से आते थे।

इन सम्प्रदायों को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त था, जो मंदिरों के निर्माण और मूर्तियों की स्थापना से देखा जा सकता है। इन सम्प्रदायों ने बौद्ध और जैन परम्पराओं सहित अन्य सभी परम्पराओं का मुखर विरोध किया। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि ऐसा हो सकता था क्योंकि सभी परम्पराएं राजनैतिक संरक्षण के लिए प्रतिस्पर्धा कर रही थी। उदाहरण के लिए, चोल शासकों ने भूमि अनुदान और मन्दिरों का निर्माण करके ब्राहमणवाद और *भक्ति* आन्दोलन दोनों का समर्थन किया, हालांकि शुरू में अपनी समानता का दावा करते हुए *अलवार* और *नयनार* की परम्पराएं बाद में एक दूसरे के प्रति काफ़ी शत्रुतापूर्व हो गई।

उन्हें किसान जनता का समर्थन मिला। अलवारों और नयनारों की स्तुतियाँ लोकगीतों के छन्दों की तरह लिखी गई थीं, इसलिए वे अधिक लोकप्रिय संगीत परंपरा का हिस्सा थी। इनके द्वारा बिना ब्राहमण मध्यस्थ के ईश्वर के साथ सम्बन्ध पर जोर देने के साथ-साथ ब्राहमणवादी संस्कृत के विपरीत देशी भाषा के माध्यम पर जोर दिया गया। इन *भक्ति*-आन्दोलनों के प्रत्यक्ष परिणामों में से एक विभिन्न स्थानीय विभाजनों को समाप्त करने वाली तमिल भाषी चेतना का उदय था।

16.3.2 *वीर शैव*

कर्नाटक में *भक्ति* आन्दोलन *वीर शैवों* के द्वारा हुआ। यह 12वीं शताब्दी में बसवन्ना द्वारा शुरू किया गया। इसके अनुयायियों को *लिंगायत* के नाम से जाना गया। वे *जाति* पदानुक्रम और कुछ समूहों से जुड़ी मलिनता की धारणा के खिलाफ थे। यह ब्राहमणवादी श्रेष्ठता और कुछ हद तक पितृ-सत्ता के खिलाफ था। जब बसवन्ना कलचूरियों के अधीन मन्त्री बन गये तो ब्राहमण रूढ़िवादियों ने उनके समतावादी आन्दोलन के खिलाफ कठोर संघर्ष करते हुए रक्तपात और निर्वासन के साधन अपनाए।

यह ब्राहमणवादी उत्पीड़न और पितृ-सत्ता के खिलाफ आवाज़ उठाने में दूसरों की तुलना में अधिक सफल रहा। हालांकि जहाँ तक बड़ी तस्वीर का सवाल है यह पहले से मौजूद संरचनाओं को केवल कुछ हद तक ही प्रभावित करने में सफल रहा। यह आन्दोलन इस विश्वास पर आधारित था कि निम्न जातियों की महिला और पुरुष, उच्च जातियों के महिला और पुरुषों की तुलना में, देवत्व के अधिक करीब थे। लिंग के सन्दर्भ में अंतिम लक्ष्य लैंगिक भेदों को पार करके उभयलिंगी बनने का था। इसीलिए वीर शैववाद लिंग और *जाति*भेद में विश्वास नहीं करता था। इसके प्रारंभिक संस्थापकों में बसवा एक ब्राहमण, सत्यका एक मेहतर और कक्काया एक कसाई शामिल थे। इस प्रकार जहाँ धार्मिक समानता पर बल दिया गया था, आर्थिक और व्यवसायिक क्षेत्र में समानता का विस्तार नहीं अपनाया गया था। *जाति* और लिंग पदानुक्रमों में विश्वास का ना होना जन्म से दिखाई पड़ता है, जहाँ ब्राहमणवादी दीक्षा समारोह ब्राहमण पुरुषों तक ही सीमित था, वहीं वीर शैववाद में प्रत्येक बच्चे को एक शिव लिंग दिया जाता था और शिव-पचांक्षरी को *जाति* और लिंग के भेद को ध्यान में ना रखकर सभी जन्में बच्चों के कानों में फुसफुसाया जाता था।

16.4 *भक्ति* परम्परा में लिंग भेद

जाति के प्रति अपनी आपत्तियों के साथ, *भक्ति* ने लिंग भेद की प्रचलित धारणाओं को भी तोड़ दिया, हालांकि इसने इन धारणाओं को चुनौती दी लेकिन यह पितृ-सत्तात्मक उत्पीड़न

को उखाड़ फेंकने में कभी सफल नहीं हुआ। विभिन्न *भक्ति* परंपराओं ने लिंग-भेद को विभिन्न तरीकों से निपटाया और अलग-अलग हद तक पितृसत्ता पर सवाल उठाये और चुनौती दी। *वीर-शैव* परम्परा के अनुसार महिलाओं में कोई मलिनता नहीं होती क्योंकि शिव-लिंग सभी अशुद्धियों को दूर करता है। फ़िर भी सामाजिक व्यवहार में महिलाओं को धार्मिक समानता प्राप्त नहीं हुई, वे धार्मिक अनुष्ठानों का संचालन नहीं कर सकती थी और ना ही मठ की धार्मिक संस्था की प्रमुख बन सकती थी। हालांकि महिला संत मौजूद थी और वे सभी *जाति*-समूहों से आई थीं। वास्तव में कई महिला सन्त *शूद्र* और अछूत थी। कुछ अविवाहित थी, जबकि अन्य विवाहित पति के साथ समान रूप से वीर-शैववाद के लिए समर्पित थी। यह ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात है कि वीर शैववाद में सभी *भक्ति* परम्पराओं से ज़्यादा महिला अनुयायी थी। वधू रहस्यवाद का रूपक जिसमें भक्त ने स्वयं को भगवान से विवाहित होने की कल्पना की, एक महत्वपूर्ण उपकरण था। अदंल, *अलवारों* की एकमात्र महिला संत थी। कृष्ण के लिए उनके प्रेम ने वधू रहस्यवाद का रूप किया था, क्योंकि उन्होंने स्वयं की आध्यात्मिक विवाह के रूप में भगवान की वधू के रूप में कल्पना की थी।

शिव को शाश्वत वर और भक्त को एक सदाचारी पत्नी के रूप में कल्पना करके स्वयं को लिंग-भेद से ऊँचा उठाया गया। इसलिए बसवा ने खुद को वधू के रूप में प्रस्तुत किया। *अर्ध-नारीश्वर* अर्थात आधे पुरुष और आधी स्त्री के रूप में शिव पहले लक्ष्य की प्राप्ति को दर्शाता है। जबकि अन्तिम लक्ष्य लिंग के भेद से ऊपर उठकर उभयलिंगी और अलैंगिंगकता की ओर जाता है। अक्का महादेवी ने स्वयं कहा था कि उनका रूप महिला का है, लेकिन सिद्धांत रूप में वह पुरुष भी हैं।

अक्का महादेवी वीर शैववाद में अपने दृढ़ और उग्र-विश्वास के लिए भी महत्वपूर्ण हैं। उसके कामुकता से ऊपर उठने का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त किया। एक ओर उदाहरण शैववादी पंरम्परा से दिया जा सकता है। कराईकल अम्मैयार एक महिला शैववादी सन्त अपने तप को चरम सीमा पर ले गई, जहाँ उनकी शरीर कंकाल रूपी हो गया। इसके बाद वह एक देवी के रूप में ब्राहमणवादी मुख्यधारा के रूप में शामिल कर ली गई, जिसका वरदान संतान प्रदान करता है।

पितृ-सत्ता को एक अप्रत्यक्ष चुनौती देने के लिए एक अन्य तरीका पारंपरिक घरेलू भूमिकाओं से बाहर निकल जाना था, जहाँ सांसारिक पति को अस्वीकार कर दिया गया था, और शिव को पति के रूप में घोषित किया गया था, यह ऊपर दिये गये अक्का महादेवी, और कराईकल अम्मैयार के उदाहरणों में देखा जा सकता है। पितृ-सत्ता को चुनौती देने के बावजूद ग्रहणी की बजाए आध्यात्मिक जीवन का चुनाव करने के बावजूद, कई महिलाओं ने फ़िर भी अपने आध्यात्मिक अस्तित्व को एक परिवार के सदस्य के रूप में ही देखा। कुछ कल्पनाओं में भगवान को आध्यात्मिक पति के रूप में माना गया और कुछ महिला सन्तों ने स्वयं को शिव की सन्तान के रूप में पेश किया।

16.5 *भक्ति* आन्दोलन का पतन

इसके प्रसार की दृष्टि से आन्दोलन को बहुत सफलता मिली। यह उपमहाद्वीप के विशाल हिस्सों में फैला और इसने समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों को शामिल किया। इस प्रक्रिया में यह दक्षिण में बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव को कम करने में सफल रहा। हालांकि आन्दोलन अन्ततः समाप्त हो गया, क्योंकि यह धीरे-धीरे उस पितृसत्तात्मक, ब्राहमणवादी व्यवस्था का भाग बन गया जिसके विरूद्ध यह उभरा था।

भक्ति आन्दोलन की सफलता की कमी को बड़े पैमाने पर सामाजिक गतिशीलता हासिल ना कर पाने की कमज़ोरी के कई कारण बताए गये हैं। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि यह हो सकता है कि आन्दोलन द्वारा समर्पित लोकतान्त्रिक मूल्य लोगों को उस समय जोड़ने के लिए पराये थे। कुछ लोगों का तर्क है कि एक तरह से *भक्ति* आन्दोलन ने *वर्ण*-व्यवस्था को पर्याप्त चुनौती नहीं दी। कुछ धाराओं ने एक *शूद्र* को ब्राहमणवादी ज्ञान ग्रहण करने की अनुमति दी, लेकिन समस्या यह थी कि उसने ब्राहमणवादी वर्चस्व को चुनौती नहीं दी और ब्राहमणवादी शिक्षा को अन्तिम लक्ष्य बना दिया। बाहरी आडम्बर की अस्वीकृति की भी अलग-अलग धाराओं में अलग-अलग सीमाएं थी।

जैसा कि चर्चा की गई है कि दक्षिण के *भक्ति* आन्दोलनों को उत्तर के आन्दोलनों के विपरीत राजनैतिक संरक्षण प्राप्त हुआ। *नयनार* और *अलवार* को प्राप्त हुए राजनैतिक सरंक्षण के परिणाम स्वरूप ही यह आन्दोलन उन मूल्यों को खो देता है जिनका यह समर्थन करता आया था। धीरे-धीरे ब्राहमण और भू-सम्पत्तिवान वर्ग से जुड़े प्रभावशाली समूह अनुष्ठानों के पुरोहित के रूप में वापस आ गये। इससे भगवान और भक्त के बीच के मध्यस्थ को हटाने वाला आन्दोलन का मूल्य लक्ष्य पीछे छूट गया।

बोध प्रश्न 1

1) *भक्ति* आन्दोलन को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) आपके विचार में *भक्ति* आन्दोलन कितना सफल रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

16.6 तन्त्रवाद

उस समय उपमहाद्वीप में मौजूद सभी धर्मों ने एक तांत्रिक रूप विकसित किया। यह इस चीज को दर्शाता है कि तन्त्रवाद की विशेष क्षमता के कारण यह मुख्यधारा में धर्म का हिस्सा बन जाता है। इसलिए इसे वास्तव में एक समानान्तर व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। इसने हिन्दू धर्म के तहत शक्तिवाद और बौद्धधर्म के तहत *वज्रयान* जैसी नई धार्मिक प्रणालियों का निर्माण किया। तांत्रिकों द्वारा उर्वरता पर बल देने के कारण मातृदेवी पंथों के पक्ष में विचार को पुष्टि मिली। आदिवासियों के संस्कार और कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद के बीच खासतौर पर मातृदेवी के पंथ से सम्बन्धित कर्म-काण्ड में परस्पर एक सम्बन्ध अक्सर दिखाया जाता है। तन्त्रवाद की उत्पत्ति के संकेत अक्सर इसी पर आधारित है। कुछ

इतिहासकार तांत्रिक अनुष्ठानों के लक्षण अजीविका सम्प्रदाय के व्यवहार में देखते हैं, जो बाद में *पाशुपत* सम्प्रदाय में अन्तर्निहित हो गये। इस संदेहास्पद उत्पत्ति की धारणा के बावजूद तन्त्रवाद की पहली धाराएं लगभग 500 सी.ई. से शुरू हुई और तन्त्र नाम के पहले ग्रन्थों की रचना 800 सी.ई. के आसपास हुई। इससे पहले के शुरुआती अप्रत्यक्ष पाठ्य प्रमाण, 7वीं शताब्दी में बाणभट्ट की *कादम्बरी* और *हर्षचरित*, महेन्द्रवर्मन की *मतविलास* और दन्डिन की *दशाकुमार चरित* जैसे संस्कृत ग्रंथों में मिलते हैं। सबसे पहला पुरान्लेख साक्ष्य राजस्थान के गंगाधर में पाया गया विश्ववर्मन का एक शिलालेख है, जो 423 सी.ई. का है। ऐसा लगता है कि तांत्रिक धर्म 8वीं और 18वीं सदी के बीच पनपता है। मुख्यधाराओं की प्रथाओं पर तन्त्रवाद का प्रभाव 1000 सी.ई. तक देखा जा सकता है। तान्त्रिक धर्म की उत्पत्ति तन्त्र, अगम और संहिता से हुई है चूंकि ये ग्रन्थ संस्कृत में रचे गये थे, इसलिए यह माना जाता है कि उनके मुख्य श्रोता साक्षर और शहरी थे और इसलिए वे उच्च जातियों से सम्बन्धित थे, फ़िर भी तन्त्रवाद उससे कहीं अधिक विस्तृत था। इसमें लोकप्रिय जादू पर आधारित प्रथाओं को शामिल किया गया था जिनमें संकट और *हठ योग* परम्परायें शामिल थी। इन परम्पराओं के स्रोत देशी भाषाओं में है। इसलिए उनकी पहुँच भी व्यापक थी। इसलिए तांत्रिक धर्म में निम्न जातियों के सदस्य और यहाँ तक की ग्रामीण क्षेत्रों के लोग भी शामिल रहे होंगे। इसका अनुसरण उपमहाद्वीप के उत्तरी हिस्सों में ज़्यादा किया गया, जबकि दक्षिण में बहुत कम सबूत मिले हैं। इसका सबसे बड़ा अनुसरण वर्तमान बिहार, बंगाल, असम, कश्मीर, नेपाल, तिब्बत पंजाब और राजस्थान में हुआ।

भक्ति की तरह ही तन्त्रवाद के उदय के कारणों का पता लगाना महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों का तर्क है कि मुख्यधारा वाला धर्म लोगों की समझ से परे हो गया था। यह अब लोगों को धार्मिक जरूरतों को पर्याप्त रूप से सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा था। इसने तन्त्रवाद क माध्यम से धर्म के लोक तत्वों को मुख्यधारा में शामिल किया गया। इसमें पन्थों की और जन-जातियों की प्रथाएँ भी शामिल थी। इस प्रकार तन्त्रवाद ने आदिवासी देवी-देवताओं और प्रथाओं को मुख्यधाराओं में शामिल किया। विशेष रूप से देवियों को तन्त्रवाद के स्त्री सिद्धान्त पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण उन्हें मुख्यधारा में शामिल किया गया।

7वीं शताब्दी के दौरान बिहार में तान्त्रिक बौद्ध मठों का विकास हुआ। तारा पन्थ तन्त्रवाद का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। उन्हें *बोधिसत्व* अवलोकितेश्वर के समकक्ष स्त्री-शक्ति का प्रतिरूप माना जाता है। तान्त्रिक तत्वों ने वैष्णववाद में भी प्रवेश किया, क्योंकि एक तांत्रिक मातृदेवी को विष्णु की पत्नी के रूप में दर्शाया गया। मातृकाएं भी वैष्णववाद का एक हिस्सा है। वैष्णवी उनमें से एक मानी जाती है। तांत्रिक-धर्म के तहत विभिन्न प्रकर के अभ्यास को शामिल किया जा सकता है। इसमें समनवादी, यौगिक, साक्त पूजा, मातृकाओं की पूजा, ब्राहमणवादी और बौद्ध देवियों की तांत्रिक रूप में पूजा, कापालिकों और कौलों के मत भी शामिल थे। मातृकाओं को सात देवियों का एक समूह माना जाता है, जिन्हें माता माना जाता है। शैव सिद्धों के तान्त्रिक सम्प्रदाय को अगमन्त शैववाद कहा जाता था। यह 11वीं शताब्दी में फला-फूला और चोल राजा इसके संरक्षक थे। *भक्ति* की तरह ही तन्त्रवाद भी विभिन्न मान्यताओं और व्यवहारों के लिए एक सामान्य शब्द है। हालांकि तन्त्रवाद की विभिन्न धाराओं के बीच समानताओं में सूक्ष्म भेद कम है और ये आसानी से पहचानें जा सकते हैं। दो मौलिक सिद्धांत सभी प्रकार के तन्त्रवाद का आधार है। प्रथम तन्त्रवाद वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। दूसरा उर्वरता सिद्धांत। जैसा की ऊपर तर्क दिया गया है, तन्त्रवाद उन लोगों की धार्मिक जरूरतों को पूरा करने के लिए पैदा हुआ जो बौद्धिक धर्म और सुसम्पन्न अनुष्ठानों से नहीं पूरी हो रही थी। तन्त्रवाद में सामान्य रूप से पुरुष की अपेक्षा प्रकृति के स्त्री सिद्धांत का अधिक महत्व है। प्रत्येक सिद्धांत की परिकल्पना पुरुष या स्त्री के रूप में की जाती है और दोनों के मिलन से सृजन होता है।

दूसरे सिद्धांत जो एक परम्परा से दूसरी परम्परा में भिन्न थे, उन पर संक्षेप में चर्चा की जा सकती है। यह *जाति* व्यवस्था और पितृसत्ता को खारिज करने से शुरू हुआ, उनके सबसे प्रमुख शिक्षक समाज के निचले वर्गों से आए थे। इन्होंने माना कि अपने कार्य और व्यवसाय को चाहे वह जैसा भी हो, ईमानदारी से करते हुए मुक्ति तक पहुँचा जा सकता था। तन्त्रवाद में मासिक धर्म के रक्त को मलिन नहीं माना जाता था बल्कि इसे पवित्र माना जाता था।

तन्त्रवाद मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करता था, क्योंकि इसके अनुसार मानव शरीर ब्रह्मांड के एक सूक्ष्म जगत के रूप में कार्य करता था। मानव शरीर में महिला और पुरुष दोनों के सिद्धांत शामिल है, और तांत्रिक साधना का अन्तिम लक्ष्य दोनों तत्वों के मिलन का था, इसलिए शरीर का रखरखाव भी महत्वपूर्ण था और अंततः मृत्यु पर विजय प्राप्त करना था।

तांत्रिक पंथों में महिलाएं आध्यात्मिक नेता बन सकती थी। वे इस प्रकार तन्त्रवाद के सिद्धांतों और विश्वासों में दक्ष थी। इसमें *जाति*गत सीमाओं का उल्लंघन किया गया। तन्त्रवाद में शक्ति की पहचान मुख्यधारा के देवताओं की पत्नी के रूप में की गई, जैसे विष्णु की शक्ति लक्ष्मी, कृष्ण की शक्ति राधा, शिव की सती देवी और बोधिसत्वों से जुड़ी अलग-अलग देवियों। तन्त्रवाद की रूप-रेखा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसको नये क्षेत्रों में आदिवासी समुदायों में ब्राहमणवादी प्रसार को सक्षम बनाने में कुछ सफलता मिली। कुछ इतिहासकार तन्त्रवाद को स्त्रियों को बौद्ध और जैन-धर्म में लाने का श्रेय देते हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दू

- *तन्त्र* शब्द का प्रयोग शुरू में एक मार्गदर्शक सिद्धान्त के संदर्भ में किया गया, लेकिन बाद में इसका इस्तेमाल धार्मिक अर्थों में किया जाने लगा।
- *दीक्षा* तांत्रिक विश्वास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थी, और इसे पुनर्जन्म के रूप में देखा गया।
- तन्त्र मानव शरीर को ब्रह्मांड का स्वरूप मानता है। यह बड़े पैमाने पर चिकित्सा, रसायन और शरीर विज्ञान के साथ घनिष्टता से जुड़ा हुआ था।
- समय तन्त्रवाद के लिए केन्द्रीय भूमिका में था।
- इसने वैदिक तपस्या को अस्वीकार कर दिया।
- उर्वरता पंथ इसके लिए महत्वपूर्ण था और इसका विस्तार भूमि की उर्वरता के संदर्भ में किया गया।

कालान्तर में तन्त्रवाद वर्ग के आधार पर भेद-भाव करने लगा। ग्रन्थों से प्राप्त वैध शिक्षा का महत्व बढ़ने से अशिक्षित इससे दूर हो गये। बाद के दिनों में यह मुख्य रूप से आर्थिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त विशेष व्यक्तियों द्वारा अपना लिया गया। अब यह केवल विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि दैनिक गतिविधियों को भी प्रभावित करने लगा। धीरे-धीरे राजसी और राजनैतिक संरक्षण में इसका संस्कृतिकरण हुआ और यह समाप्त हो गया।

अब इसकी विरासत दृष्टिगत होती है लेकिन इसका स्वरूप कमज़ोर और लुप्त सा हो गया है।

बोध प्रश्न 2

1) महिलाओं के प्रति व्यवहार में तन्त्रवाद अन्य परम्पराओं से कैसे भिन्न था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) तन्त्रवाद का अन्य धार्मिक परंपराओं के साथ विलय क्यों हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

16.7 सारांश

भक्ति आन्दोलन ने सामाजिक व्यवस्था के उत्पीड़न की आलोचना की, लेकिन सामाजिक व्यवस्था की नहीं। *भक्ति* आन्दोलन का महत्व इसके द्वारा एक शक्तिशाली विचारधारा और विभिन्न सामाजिक समहों को एकीकरण प्रदान करने में निहित है। *भक्ति* आन्दोलन में रूढ़ियों का उल्लंघन और उत्कर्ष साथ-साथ चला। इस प्रकार *भक्ति* आन्दोलन ने उस समय मौजूदा परिस्थितियों की आलोचना की। इसने यह स्थापित किया कि लोगों का महत्व उनके द्वारा किये गये कार्यों में था ना कि इसमें की उनका जन्म कहाँ हुआ था। तांत्रिक प्रथाओं ने लोगों के बीच *जाति* या लिंग के आधार पर भेद-भाव नहीं किया। तन्त्रवाद ने महिलाओं को एक अलग तरह की प्रमुखता दी और इसमें बड़ी संख्या में देवियाँ थी। तन्त्रवाद ने स्वयं को विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के साथ जोड़ा और अंततः मुख्यधारा के व्यवहार और विश्वास में निरंतरता बनी रही।

कुछ अर्थों में दोनों घटनाएँ समान हैं। *भक्ति* में धर्म-गुरू का रूप ब्राहमण से सन्त कवि के रूप में बदल गया, जबकि तन्त्रवाद ने लोक-परम्पराओं और स्त्री-शक्ति पर बल देकर धर्म को समावेशी बनाया। धर्म-ग्रन्थों का माध्यम संस्कृत से बदलकर देशी और लोकप्रिय हो गया। यह शुरू में *ब्राह्मण*वाद के विरूद्ध सामाजिक समानता के लिए खड़ा हुआ, हालांकि अन्त में इसका उपयोग सत्तारूढ़ कुलीन वर्ग द्वारा सामाजिक असमानता को मज़बूत करने और वैध ठहराने के लिए किया जाने लगा। इस प्रकार आन्दोलन का मूल रूप अन्त में क्षीण हो गया। इसी प्रकार तन्त्रवाद शुरू में वैदिक प्रभुत्व और पितृसत्ता के खिलाफ उभरा, लेकिन राजनैतिक संरक्षण ने इसके कट्टरपथी प्रभाव को कम कर दिया।

मोक्ष का मार्ग केवल तीन ऊपरी वर्णों के पुरुषों के लिए खुला था। अब एक अलग मार्ग के माध्यम से सभी के लिए खुल गया। अन्ततः दोनों परंपराओं ने सभी के लिए पूजा के समान अवसर प्रदान करने का प्रयास किया। उनकी लोकप्रियता ने ब्राहमणवाद और अन्य परम्पराओं में बदलाव को बढ़ावा भी दिया।

16.8 शब्दावली

दीक्षा : तन्त्रवाद में दीक्षा।

प्रकृति : स्त्री सिद्धान्त।

पुरुष : पुरुष सिद्धान्त।

शैववाद : शिव का पंथ और उसकी क्षेत्रीय अभिव्यक्तियाँ।

वैष्णववाद : अपनी क्षेत्रीय अभिव्यक्तियों के साथ विष्णु का पंथ।

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 16.2 देखें।

2) उपभाग 16.5 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 16.6 देखें।

2) उपभाग 16.6 देखें।

16.10 संदर्भ ग्रंथ

रामास्वामी, विजया (1997), *वॉकिंग नेकेडः वुमेन, सोसाइटी, इसपिरिचुएलिटी इन साउथ इंडिया*। शिमला।

भट्टाचार्या, एन. एन. (2005) *हिस्ट्री ऑफ़ द तांत्रिक रिलीजनः एन हिस्टॉरिकल, रिचुअलिस्टिक एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी*। दिल्ली।

MPDD/IGNOU/P.O. 97.5K/JANUARY 2020

ISBN: 978-93-89668-810